अष्टावक्र गीता
मनुष्य को ब्रह्मस्वरूप प्रदान करती–आत्मा व
जीव के रहस्यों की परत-दर-परत मीमांसा
करती अनुपम कृति

24

अष्टावक्र गीता

अध्यात्म की अनंत-अतल गहराइयों का स्पष्ट व सरल विवेचन, जिसने राजा जनक को बना दिया विदेह

The Ashtāvakra Gītā

॥ वीरशैव विज्ञान भैरव ॥

टीकाकार
आचार्य रामानंद सरस्वती

संपादन तथा प्रस्तुतीकरण
राजीव तिवारी
प्रियदर्शी प्रकाश

मनोज पॉकेट बुक्स

प्रकाशक
मनोज पॉकेट बुक्स
761, मेन रोड, बुराड़ी,
दिल्ली-110084
✆ 27615430, 27616745, 56036444,
36303148, 36303149, 9891174741

मुद्रक :
जयमाया ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

मूल्य
पेपर बैक संस्करण : 100/-
प्रथम संस्करण

दो शब्द

अष्टावक्र गीता भारतीय अध्यात्म का शिरोमणि ग्रंथ है, जिसकी तुलना अन्य किसी ग्रंथ से नहीं की जा सकती। इसका प्रत्येक सूत्र आपके जन्म-जन्मांतरों की गुत्थियों को इस प्रकार सुलझा देगा, मानो वे कभी थी ही नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता की भांति इसमें भी गुरु-शिष्य के बीच हुआ संवाद है, किंतु दोनों के संदर्भों में अंतर है। जहां अर्जुन के प्रश्न 'कर्त्तव्य' को लेकर हैं, वहीं अष्टावक्र गीता में तत्त्वज्ञान व मोक्ष के विषय में पूछा गया है।

सुख कहां है?, दुखों का कारण क्या है?, बंधन क्या है?, मुक्ति क्या है?, संसार क्या है?, मैं कौन हूं?—जीवन के ऐसे ही अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर प्रदान करनेवाला एक परम पावन ग्रंथ है अष्टावक्र गीता, जिसमें गुरु अष्टावक्र ने बिना किसी लाग-लपेट के राजा जनक को तत्त्वज्ञान दिया है। आश्चर्य कि उन्हें दिया गया ज्ञान अनायास प्रतिफलित हुआ और उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता में जहां श्रीकृष्ण के उपदेशों को सुन अर्जुन को कर्म की रीति का बोध तो हुआ, लेकिन वह हर्ष-विषाद में चढ़ता-उतराता रहा। जबकि यहां अष्टावक्र के उपदेशों को सुनकर राजा जनक विदेह हो गए।

चूंकि अध्यात्म एक गूढ़ विषय है, अतः संभव है कि कुछ स्थानों पर शब्द जटिल प्रतीत हों। लेकिन विषय की गंभीरता को देखते हुए यह आवश्यक भी है क्योंकि प्रत्येक विषय की अभिव्यक्ति के लिए कुछ विशेष शब्द होते हैं, उनका एक अलग अपना ही वाक्य-विन्यास होता है। फिर भी टीका को यथासंभव सरल व सुस्पष्ट रखने का प्रयास किया गया है।

परमात्मा संपूर्ण है; और पूर्ण की पूर्ण व्याख्या कर पाना संभव नहीं! इसे शब्दों की परिधि में बांध पाना संभव ही नहीं है। फिर भी हमारा विश्वास है कि तत्त्वजिज्ञासु राजा जनक की भांति आप भी इस अनमोल ग्रंथ का पठन कर कह उठेंगे—'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूं; और सभी संतापों से मुक्त होकर आपको भी परम विश्रांति व परम सुख की प्राप्ति होगी।

—संपादक

विषयानुक्रम

प्रात:काल होते ही कहोड यात्रा के लिए निकल पड़े। वह यथाशीघ्र राजमहल पहुंचना चाहते थे। उन्होंने सुन रखा था कि राजा जनक विद्वान ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं और संकट के समय उनकी आर्थिक सहायता करने में किंचित भी विलंब नहीं करते।

आज कहोड को भी राज सहायता की आवश्यकता थी। उनकी पत्नी सुजाता गर्भवती थी और किसी भी दिन शिशु को जन्म दे सकती थी। आसन्न शिशु के संस्कार के लिए धनाभाव था और राजा जनक से यह धन उन्हें सहज ही उपलब्ध हो सकता था। यद्यपि गर्भस्थ शिशु से कहोड को कोई विशेष मोह नहीं था, बल्कि वह उससे क्षुब्ध थे, किंतु शिशु-जन्म के विधि-विधानों का पालन करना उनकी विवशता ही नहीं, कर्त्तव्य भी था।

❑❑

कहोड वेदशास्त्र के निष्णात विद्वान और सुप्रसिद्ध वेदांताचार्य उद्दालक के परमप्रिय शिष्य थे। कहोड की वेद ज्ञान के प्रति उत्कट उत्कंठा देखकर उद्दालक चकित थे। आज तक उन्होंने ऐसा शिष्य नहीं देखा था, जो वेदों के प्रत्येक शब्द को, उसके अर्थ को और उसकी मीमांसा को अत्यंत आतुरतापूर्वक हृदयंगम करता हो। अध्ययन के प्रति उसकी रुचि से वह मुग्ध थे।

कहोड ने शीघ्र ही वेदों का सांगोपांग अध्ययन पूर्ण कर लिया तो उद्दालक यह सोचकर चिंतित हो गए कि कहोड स्नातक होकर उन्हें छोड़कर चला जाएगा। कहोड के बिना आश्रम निस्संदेह सूना हो जाएगा, किंतु वह कर ही क्या सकते थे। शिष्य उनके यहां विद्यार्जन के लिए आते थे और स्नातक होने के पश्चात चले जाते थे। ऐसा ही वर्षों से होता आ रहा था। कहोड का जाना भी निश्चित था, किंतु ऐसा ज्ञानपिपासु शिष्य उन्हें पुन: नहीं मिलेगा। कहोड

योग्य, विवेकवान और वेद-निष्णात था और प्रत्येक गुरु ऐसा शिष्य पाकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है।

जिस दिन कहोड को आश्रम से विदा होकर जाना था, उद्दालक का हृदय बैठा जा रहा था। आंखें सूनी थीं और चेहरे पर विषाद छाया हुआ था।

विदा की बेला में कहोड उनके निकट आया और चरण स्पर्श करने के पश्चात हाथ जोड़कर बोला, "गुरुदेव, आज्ञा दीजिए।"

उद्दालक ने उसके दोनों हाथ थामकर कंपित स्वर में कहा, "वत्स! मुझे प्रसन्नता है कि तुमने स्वयं को वेदों का उत्तम ज्ञाता सिद्ध कर दिया। तुम जहां भी जाओगे, विजयश्री का वरण करोगे। किंतु तुम्हें यहां से विदा करने को जी नहीं चाहता।"

"गुरुदेव! विदाई का समय सदैव पीड़ादायक होता है। मैं भी आपसे विलग होते हुए अत्यंत कष्ट का अनुभव कर रहा हूं।"

एकाएक उद्दालक की दृष्टि सुजाता पर पड़ी। वह नदी से कलश भरकर आश्रम की ओर आ रही थी। जैसे ही वह भोजन-कक्ष में प्रविष्ट हुई, उद्दालक का मुखमंडल खिल उठा। उन्होंने कहोड से कहा, "वत्स! मेरी हार्दिक इच्छा थी कि तुम आश्रम छोड़कर कभी न जाओ। मैं तुम्हारी अनुपस्थिति सहन नहीं कर सकूंगा।"

"गुरुदेव! सच तो यह है कि आपके सान्निध्य में रहते हुए मुझे भी अत्यंत हर्ष होता, किंतु मेरा अध्ययन काल समाप्त हो गया है, अतः यहां रहने का प्रयोजन ही कहां रहा?"

"ऐसा मत सोचो वत्स! कोई भी आश्रम तुम्हारे जैसे विद्वान शिक्षक को पाकर प्रसन्नता का अनुभव करेगा।"

कहोड चकित होकर बोला, "मैं कुछ समझा नहीं, गुरुदेव!"

"वत्स! यहां से जाकर तुम जीविकोपार्जन के लिए कोई तो उद्योग करोगे ही। मैं चाहता हूं, तुम इसी आश्रम में रहकर अध्यापन का कार्यारंभ करो।"

हर्षावेग से कहोड की आंखें चमकने लगीं, बोला, "यह तो मेरा अहोभाग्य है गुरुदेव! वर्षों से मैं इस आश्रम से संबद्ध रहा हूं, इसे छोड़ने की कल्पना से मेरा हृदय विगलित हो रहा था।"

"यही दशा मेरी भी थी वत्स! तुमने यहां रहने का निश्चय कर मुझ पर उपकार ही किया है।"

"ऐसा मत कहिए गुरुदेव! वस्तुतः मैं कृतार्थ हूं कि आपने मुझे यहां रहने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। आपके सान्निध्य में मुझे ज्ञान-प्राप्ति हुई है, अब इसी ज्ञान को अन्य शिष्यों के साथ पुनः मनन करना निस्संदेह मेरे लिए

नई अनुभूति होगी। मैं आश्रम का भाग था, भाग हूं और जब तक आपकी अनुमति होगी, तब तक रहूंगा।''

उद्दालक ने कहोड को आलिंगनबद्ध किया और स्नेहपूर्वक बोले, ''तुम सदैव आश्रम के अटूट भाग बने रहोगे, मेरे पुत्र! मैं चाहता हूं, तुम सुजाता को पत्नी के रूप में अंगीकार करो।

''गुरुदेव!'' कहोड को अपने कानों पर मानो विश्वास ही नहीं हुआ।

''हां पुत्र! तुम्हारे जैसे योग्य दामाद को पाकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी।''

कहोड आगे कुछ बोल नहीं पाया था।

❑ ❑

राजमहल की ओर जाते हुए कहोड को सबकुछ याद था। यह एक वर्ष पहले की बात थी। गुरुपुत्री सुजाता को उन्होंने आश्रम में कई बार देखा था और कभी कल्पना तक नहीं की थी कि एक दिन वह उनके जीवन में पत्नी के रूप में प्रवेश करेगी। सुजाता अनिंद्य सुंदरी और सुघड़ थी। गुरुपुत्री के नाते वह उसका सम्मान करते थे।

उद्दालक ने विलंब नहीं किया था, उसी सप्ताह वह कन्यादान के कर्त्तव्य से मुक्त हो गए। पाणिग्रहण के समय सुजाता अपूर्व लावण्यमयी प्रतीत हो रही थी।

कहोड सोच रहे थे, कितना शीघ्र एक वर्ष की अवधि व्यतीत हो गई थी। इसी बीच उद्दालक के पुत्र का भी विवाह हो गया था। कहोड आश्रम में शिष्यों को वेदाध्ययन कराते थे। शिष्य उनकी पांडित्यपूर्ण शिक्षणशैली से अत्यंत प्रभावित थे। वे उनका आदर करते थे।

कुछ माह पश्चात सुजाता गर्भवती हो गई। उसका चेहरा अद्‌भुत गर्व से दीप्त हो गया था। कहोड भी पिता बनने की अनुभूति से अत्यंत हर्षित थे।

कहोड सदैव रात को वेदों का अध्ययन-मनन करते थे। निकट ही चटाई पर सुजाता लेटी होती थी और पति को श्लोकोच्चार करते देखती-सुनती थी। गर्भधारण करने के पश्चात भी उसका यह अभ्यास बना हुआ था। वह कहोड के होंठों से निकले श्लोकों को ध्यानपूर्वक सुनती थी। पहले वह अधिक रुचि नहीं लेती थी, किंतु अब उसे मानो कोई अपरिचित शक्ति प्रेरित करती थी और वह पति की जिह्वा से निसृत एक-एक शब्द को हृदयंगम करती थी।

गर्भ-काल के आठवें महीने सुजाता को एकाएक वेदों से विरक्ति होने लगी। उसे श्लोक निरर्थक प्रतीत होते थे। एक रात विचित्र घटना घट गई। सुजाता को समझ में नहीं आया कि पलभर में स्वयं को ही कैसे विस्मरण कर

बैठी थी। पहले ऐसा कभी नहीं हुआ था। पति की अवमानना करने की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

नित्य की भांति उस रात भी कहोड वेदाभ्यास कर रहे थे। अभी कुछ क्षण ही बीते थे कि उन्होंने सुजाता को वितृष्णा से बोलते सुना, "वेदों का ज्ञान मिथ्या है। वेद और कुछ नहीं, अर्थहीन शब्दों का निरर्थक भंडार है। आत्मज्ञान ही परम सत्य है, अतः ग्रंथों में ज्ञान मत खोजो, ज्ञान तुम्हारे अंतर्मन में ही समाहित है, आत्मानुभूति करते ही परम ज्ञान की उपलब्धि हो जाएगी।"

कहोड का वेदाध्ययन बाधित हो गया। वह चकित होकर सुजाता की ओर देख रहे थे। आज अचानक सुजाता को क्या हो गया? पति-पत्नी में सामंजस्य था। पत्नी ने कभी भी पति की विद्वता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया था। वह पति की योग्यता से परिचित थी और उनका सम्मान करती थी। कहोड कुछ समझ नहीं पाए कि अचानक उसमें यह परिवर्तन कैसे आ गया?

स्वयं सुजाता आश्चर्यचकित थी। यह क्या कह बैठी वह? बचपन से उसने वेदों के श्लोक सुने थे। वह इसी वातावरण में पली-बढ़ी थी। वेदों के प्रति उसकी असीम निष्ठा थी। वेदशास्त्र उसकी दृष्टि में श्रद्धेय और ज्ञान के स्रोत थे।

कहोड की दृष्टि एकाएक पत्नी के गर्भ की ओर उठ गई। कुछ सोचकर उनकी आंखें संकुचित हो गईं। कई पलों तक उनकी दृष्टि गर्भ से नहीं हटी तो सुजाता विचलित हो गई। अपनी असमंजसता से सायास मुक्त होती हुई बोली, "क्षमा करें, मैं स्वयं विस्मित हूं कि मेरे मुख से कुबोल कैसे निकल गए?"

कहोड़ चौंककर सचेत हुए। उन्होंने सुजाता को तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए कहा, "मैं जानता हूं, तुम्हारे मुख से कुबोल कैसे निकल गए?"

पति को क्षुब्ध होते देखकर सुजाता ने सिर झुका लिया। धीरे से बोली, "मैं मूढ़ हूं देव, आपकी विद्वता से भला कौन परिचित नहीं, मेरी मूढ़ता पर चित्त न धरें, स्वामी।"

"मैं तुमसे तनिक भी क्षुब्ध नहीं सुजाता, यह तुम नहीं बोली थी, यह गर्भस्थ शिशु था, जिसने अपने विचार तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्त किए हैं।"

"यह क्या कहते हैं, नाथ?"

"यही सत्य है। मुझे समझ में नहीं आता, जहां वेदों का पठन-पाठन होता है, ऐसे वेदमय वातावरण में यह वेदविरोधी कैसे जन्म ले रहा है?"

सुजाता का सर्वांग कांप गया। उसे लगा, जैसे उसने ऐसे शिशु को गर्भ में धारण करके कोई जघन्य अपराध किया है। बोली, "संभव है, शिशु के बारे

में आपकी धारणा मिथ्या हो। जो कुछ अनजाने में मेरे मुख से निकला, वह मेरी मूढ़ता का ही परिणाम हो, शिशु का इसमें कोई दोष न हो।''

''नहीं सुजाता, तुम्हें मैं वर्षों से जानता हूं। वेदों के प्रति तुम्हारी निष्ठा से भी परिचित हूं। मुझे विश्वास है कि यह शिशु-वाणी ही थी, जो तुम्हारे माध्यम से प्रकट हुई।''

''यदि ऐसा है तो इसमें शिशु का भी कोई दोष नहीं। गर्भस्थ शिशु अभी निर्बोध है। जन्मोपरांत जब वह आपके सान्निध्य में आएगा तो धीरे-धीरे वेदों के प्रति उसकी धारणा बदल जाएगी। वह आपकी भांति ही वेदों का निष्णात पंडित बनेगा।''

''क्या पता,'' कहोड असहाय होकर बोले, ''हम क्या कर सकते हैं। प्रारब्ध को जो स्वीकार्य होगा, उसे शिरोधार्य करना हमारी विवशता है।''

❑❑

पहली बार जब उन्होंने सुजाता के मुख से शिशु का विद्रोही स्वर सुना था, उन्हें दुख पहुंचा था। ऐसा केवल उसी रात को हुआ होता तो वह इसे दु:स्वप्न मानकर भुला चुके होते, किंतु उस रात के बाद ऐसा कई बार हुआ कि जब भी वह वेदाभ्यास आरंभ करते, गर्भस्थ शिशु वेदों की कटु आलोचना करता।

इस विघ्न को सहन कर पाने में वह असमर्थ थे। वह वेदाभ्यास के समय स्वयं को आत्मकेंद्रित नहीं कर पाते थे। उनका हृदय सदैव आशंकित रहता कि किसी भी पल अजन्मा शिशु बोल पड़ेगा। उस रात वह बड़ी कठिनाई से वेदाभ्यास में लीन होने का प्रयास कर रहे थे कि सुजाता के मुख से शिशुवाणी उच्चरित हुई, ''वेदाध्ययन से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तात! आत्मा को जानो, सबको जान जाओगे।''

कहोड क्रोध से उठ खड़े हुए। उनकी आंखों में लाली उतर आई थी। जिस शिशु का अभी जन्म तक नहीं हुआ था, वही उन्हें उपदेश देता है? जिसने वेद का एक अक्षर तक नहीं पड़ा, वह वेदों की आलोचना करने का दुस्साहस कर रहा है? क्या जानता है वह वेदों के बारे में? नहीं, उसे इस अपराध का उचित दंड अवश्य मिलना चाहिए। उन्होंने सुजाता के गर्भ की ओर उंगली उठाकर कहा, ''रे मूढ़, निस्संदेह तेरा मस्तिष्क विकल है, तभी तेरे विचार रुग्ण हैं। वेदों की आलोचना करने का दंड तुझे मिलेगा...अवश्य मिलेगा। मैं श्राप देता हूं, जब तू जन्म लेगा, तेरा शरीर आठ स्थानों से विकल होगा। जैसे तेरे विचार भ्रष्ट हैं, उसी प्रकार तेरा शरीर भी भ्रष्ट होगा।''

उस रात के पश्चात गर्भस्थ शिशु मौन हो गया। सुजाता के मुख से वेदों

की आलोचना करने वाला स्वर पुनः सुनाई नहीं दिया। कहोड ने राहत की सांस ली। उनका वेदाभ्यास बाधारहित पुनः आरंभ हो गया।

पिछली रात जब कहोड ने वेदाभ्यास निर्विघ्न समाप्त किया तो सुजाता बोली, "सुनिए, शिशु का जन्म आसन्न है, वह कभी भी जन्म ले सकता है। घर में धनाभाव है और हमें शिशु के जन्म संस्कार पूर्ण करने के लिए धन की आवश्यकता होगी।"

"मुझे इस शिशु से कोई लगाव नहीं। तुम जानती हो, संस्कार विधि वेद-सम्मत है और इस अजन्मे शिशु की वेदों के प्रति कोई निष्ठा नहीं। संस्कारों की बात रहने ही दो।"

"अजन्मा शिशु क्या जाने सांसारिक व्यवहार, किंतु आप तो ऐसा न कहें। आश्रमवासी क्या कहेंगे? यही नहीं, बड़े भाई की पत्नी भी उसी समय शिशु का जन्म देंगी, जब मैं। वे शिशु का संस्कार करेंगे और हम नहीं, भला क्या यह शोभा देगा?"

कहोड एक पल सोचते रहे। सुजाता सच कह रही थी। भले ही उन्हें शिशु से मोह नहीं था, पर सांसारिक रीति-नीति की अनदेखी कैसे की जा सकती है। वेदों का स्पष्ट निर्देश है कि जब तक शिशु का संस्कार न किया जाए, वह अशुभ और अस्पृश्य है।

उन्होंने असहाय स्वर में कहा, "ठीक है, मैं धन की व्यवस्था करता हूं। राजा जनक अत्यंत प्रजावत्सल हैं। विशेषकर विद्वानों का बहुत आदर करते हैं। ब्राह्मणों की याचना अनसुनी नहीं करते। उनके दरबार से आज तक कोई ब्राह्मण निराश नहीं लौटा।"

❑❑

दूर से ही कहोड को राजप्रासाद के कंगूरे नजर आने लगे। उनके चरणों की गति मंद हो गई। वह गर्भस्थ शिशु के लिए राजा जनक से धन की याचना करने जा रहे थे, किंतु वह तनिक भी उत्साहित नहीं थे। उन्हें याद था, जब पहली बार सुजाता के गर्भवती होने का समाचार मिला था तो वह कितने रोमांचित हुए थे, किंतु जैसे-जैसे शिशु-जन्म का समय निकट आ रहा था, वह उसके प्रति विरक्त होते जा रहे थे। उन्हें लगता था, शिशु के रूप में पत्नी के गर्भ से शत्रु अवतरित हो रहा है। वह चकित थे कि वेदांताचार्य उद्दालक की पुत्री वेद विद्वेषी को कैसे जन्म दे रही है? उनका शिशु शीघ्र ही जन्म लेने वाला था और उसके प्रति वह जरा भी मोहित नहीं थे। उन्हें यह भी खेद नहीं था कि शिशु जन्म से विकलांग होगा और उसके लालन-पालन में विशेष सतर्कता की

आवश्यकता है। किंतु नहीं, शिशु की विकलांगता से वह किंचित भी मर्माहत नहीं थे। उन्होंने ही अजन्मे शिशु को शाप दिया था कि वह आठ अंगों से विकल (टेढ़ा) पैदा होगा। वेद-विद्वेषी को उचित दंड मिलना ही चाहिए।

कहोड राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर पहुंचकर खड़े हो गए। वह आशान्वित थे। राजा जनक उदार हृदय थे। उनकी दानशीलता की चर्चा चतुर्दिक फैली हुई थी। सामान्य जन राजा की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं थे।

प्रासाद में राजा जनक का अधिकतर समय विद्वानों के सान्निध्य में व्यतीत होता था। वह ज्ञान-पिपासु थे। उनके महल में अनेक विद्वान थे, जो अध्यात्म, जीवन व्यवहार और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करते थे।

कहोड ने दरबानों से कहा, ''कृपया महाराज को सूचित करें कि ऋषि उद्दालक के आश्रम से एक ब्राह्मण उनके दर्शनार्थ आया है।''

राजा को सूचित करने की आवश्यकता नहीं थी। दरबानों को आदेश था कि द्वार पर कोई ब्राह्मण आए तो उसे ससम्मान राजदरबार में ले आया जाए।

एक दरबान आगे बढ़कर बोला, ''आपका स्वागत है, ब्राह्मण देवता! आइए, मैं आपको महाराज के पास पहुंचा देता हूं।''

कहोड जब दरबान के साथ राजदरबार की ओर प्रस्थान कर रहे थे तो दूसरा दरबान उन्हें एकटक जाते हुए देख रहा था। उसकी दृष्टि में कहोड के प्रति सहानुभूति थी, जैसे वह चिंतित हो कि पता नहीं इस ब्राह्मण की राजदरबार में क्या गति हो।

❑❑

राजदरबार भव्य और वैभवशाली था। सामने स्वर्ण जड़ित सिंहासन पर राजा जनक आसीन थे। उनके मुकुट से मणि-माणिक्य की रश्मियां विकीर्ण हो रही थीं। उनके आभामय चेहरे पर मंद-मंद मुस्कान खिली हुई थी। नेत्र असीम ज्ञान से आलोकित थे। विराट ललाट के मध्य में चंदन का टीका तृतीय नेत्र की भांति चमक रहा था।

राजा जनक के अप्रतिम व्यक्तित्व से कहोड चमत्कृत हो गए। उन्होंने हाथ जोड़कर उनका अभिनंदन किया।

राजा जनक सस्मित बोले, ''स्वागत है ब्राह्मणराज, आसन ग्रहण करें।''

कहोड ने चारों तरफ देखा। राजा जनक के सम्मुख दोनों तरफ राजदरबारी, अनेक ब्राह्मण व विद्वान पंक्तिबद्ध बैठे थे। कहोड रिक्त आसन पर बैठ गए। उन्हें विश्वास था कि जब वह यहां से विदा होंगे तो उनके पास राजा जनक का दिया हुआ पर्याप्त धन होगा और वह शिशु का संस्कार करने में समर्थ होंगे।

राजा जनक ने पूछा, "कहिए ब्राह्मणराज, आपके आने का प्रयोजन क्या है?"

कहोड ने उत्तर दिया, "राजन! मैं ऋषि उद्दालक का शिष्य एवं दामाद कहोड हूं। मेरी पत्नी प्रसवासन्न है, वह किसी भी समय शिशु को जन्म दे सकती है। जन्मोपरांत शिशु का संस्कार करना अपरिहार्य है, किंतु धनाभाववश मैं संस्कार निभाने में असमर्थ हूं। अब आप ही मेरी समस्या का समाधान कर सकते हैं। आशा है, आप मुझे निराश नहीं करेंगे।"

राजा जनक ने एक बार राजदरबारियों व विद्वजनों को देखा, तदुपरांत उनकी दृष्टि बंदी पर टिक गई। बोले, "आप कुछ कहना चाहेंगे, श्रेष्ठ प्रवर।"

बंदी राजदरबार में उत्कट विद्वान के रूप में परम आदृत थे। राजा जनक की दृष्टि में वह ब्राह्मण शिरोमणि थे। महल व दरबार की ज्ञानचर्चाएं उन्हीं के नेतृत्व में संपन्न होती थीं।

बंदी ने राजा को उत्तर देते हुए कहा, "राजन! आप तो जानते हैं कि मुझे शास्त्रार्थ में कितनी रुचि है। फिर कहोड तो ऋषिवर उद्दालक का शिष्य है। कौन नहीं जानता कि वे प्रकांड वेदांताचार्य हैं। निस्संदेह उनका शिष्य व दामाद उनसे ज्ञान में कम नहीं होगा। ऐसे विद्वान ब्राह्मण से शास्त्रार्थ का आनंद ही कुछ और है। यदि आप अनुमति दें तो हम शास्त्रार्थ आरंभ करें।"

राजा जनक ने कहोड से पूछा, "क्या आप शास्त्रार्थ के लिए सहमत हैं?"

कहोड वेदों में पारंगत थे। वेदों की मीमांसा करने में वह दक्ष थे। अतः उन्होंने उत्तर दिया, "राजन! मुझे कोई आपत्ति नहीं, मैं शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हूं।"

"ठीक है।" राजा जनक बंदी से बोले, "आप शास्त्रार्थ प्रारंभ करें। दो विद्वानों के शास्त्रार्थ से मुझे सदैव नए ज्ञान की उपलब्धि होती है।"

बंदी ने कहोड की ओर देखते हुए, "शास्त्रार्थ आरंभ करने से पूर्व मैं आपको यह बताना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि यदि आप शास्त्रार्थ में विजयी हुए तो महाराज की ओर से आपको बहुमूल्य पारितोषिक की प्राप्ति होगी, इसके विपरीत यदि आप पराजित हुए तो नदी में जल समाधि लेने को बाध्य होंगे। ऐसा ही यहां का नियम है। पहले भी अनेक ब्राह्मणों ने यहां शास्त्रार्थ में भाग लिया है, जिसमें कुछ विजयी हुए और कुछ पराजित।"

कहोड को अपने वेद ज्ञान पर विश्वास था। उन्होंने बंदी की चुनौती स्वीकार कर ली।

शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। आरंभिक दौर में वेदों को केंद्र बनाकर चर्चा हुई।

कहोड की वेद मीमांसा से न केवल दरबार के उपस्थित जन प्रभावित हुए, अपितु राजा जनक की भी कहोड के प्रति रुचि बढ़ गई।

बंदी ने वेदेतर चर्चा आरंभ की तो कहोड विचलित हो गए। उनकी दृष्टि में वेदों की पारंपरिक मीमांसा का कोई अन्य विकल्प था ही नहीं, किंतु बंदी के प्रश्न सुनकर उन्हें भ्रम हुआ कि क्या ब्रह्मांड में और भी बहुत कुछ है, जिनके बारे में वेद मौन हैं। तो क्या ज्ञान की अंतिम सीमा वेद नहीं? क्या वेदों के पृष्ठों पर उल्लेखित ज्ञान के अतिरिक्त भी कुछ ऐसा है, जिसे केवल विचार-मंथन से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अचानक कहोड को याद आया, सुजाता के गर्भस्थ शिशु ने भी वेदशास्त्रों की सिद्धता पर प्रश्नचिह्न लगाया था? अजन्मे शिशु ने कहा था कि आत्मा को जानो, सबकुछ जान जाओगे, आत्मज्ञान के पश्चात किसी ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

तब कहोड ने इस कथन को अज्ञानी की मूढ़ता समझा था और वेद श्लोकों को परम सत्य मानकर वहीं तक सीमित रहे थे। यदि आत्म-मीमांसा करते तो निस्संदेह वेदों की सीमा के उस पार भी कुछ नए ज्ञान की अनुभूति कर सकते थे। उन्हें खेद हुआ कि रात-दिन वेदों में निमग्न होकर उन्होंने कभी भी आत्ममंथन को महत्त्व ही नहीं दिया।

जबकि सत्य यह था कि बंदी वेदों को ज्ञान की अंतिम सीमा मानता था। उसकी चर्चा वेदों पर ही केंद्रित थी, किंतु वह कुतर्कों का आश्रय लेकर कहोड को दिग्भ्रमित करने में सफल हो गया था।

कहोड ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। वचनानुसार उन्होंने जलसमाधि लेकर देह त्याग दी।

राजा जनक ने कहोड के अजन्मे शिशु के संस्कार के लिए आवश्यक धन भेज दिया।

❑❑

आश्रम में कहोड की दुखद मृत्यु का समाचार पहुंचा तो चतुर्दिक शोक की लहर व्याप्त हो गई।

सुजाता की आंखों के सामने अंधकार छा गया। वह अचेत हो गई। उसी रात उसने व उसकी भाभी ने पुत्रों को जन्म दिया। ऋषि उद्दालक ने बेटे की संतान को नाम दिया श्वेतकेतु। वह जानते थे, दामाद ने अपनी उद्दंड संतान को आठ स्थानों से विकल होने का शाप दिया था। वह विकलांग ही पैदा हुआ था। अत: उन्होंने उसे अष्टावक्र का नाम प्रदान किया।

❑❑

अष्टावक्र का शरीर आठ स्थानों से विकल अवश्य था, किंतु उसके नेत्रों में विचित्र प्रकार की चमक थी, जो किसी को भी सहज ही आकृष्ट करती थी। अलौकिक ओज से मुखमंडल सदैव उद्दीप्त रहता था। प्रतीत होता था, मानो वह स्वयं सिद्ध है, सबसे निस्पृह, निरंजन और निरपेक्ष, जन्मजात ज्ञान का अक्षय भंडार।

अष्टावक्र और श्वेतकेतु की बालसुलभ क्रियाओं में पृथ्वी-आकाश का अंतर था। श्वेतकेतु अन्य बच्चों के साथ खेलता था, जबकि अष्टावक्र वृक्ष के नीचे बैठा पता नहीं किन विचारों में खोया रहता था।

अल्पायु में बच्चे जो कुछ करते हैं, अष्टावक्र भी वही करता। श्वेतकेतु के साथ खेलता भी था। किंतु किसी कर्म में श्वेतकेतु की भांति संलिप्त नहीं होता था। श्वेतकेतु को व्यंजन भाते थे, जबकि अष्टावक्र शरीर की मांग को पूरा करने के लिए ही खाता था।

❑❑

12 वर्ष की आयु तक अष्टावक्र ने समस्त वेदों का परायण कर लिया। ज्ञान के प्रत्येक स्रोत के प्रति वह सहज ही आकृष्ट हो जाता था। विभिन्न प्रकार के ज्ञान-भंडार थे, जिनका वह आलोड़न-विलोड़न करता। यह अलग बात थी कि वह सबसे सहमत नहीं होता। मन ही मन तर्क-वितर्क करता, आत्ममंथन के उपरांत सत्य उसके सम्मुख साक्षात उपस्थित होता और भ्रमों का अंधकार छंट जाता था।

(चूंकि अष्टावक्र को वेदों में निपुणता तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, अतः अब हम उन्हें आदरसूचक संबोधन दे रहे हैं, शेष पुस्तक में भी यही आदरसूचक संबोधन है।)

अष्टावक्र शनैः-शनैः आत्मकेंद्रित हो गए। उन्होंने कभी भी भय की अनुभूति नहीं की, कभी भी उन्हें किसी की सहायता लेने की इच्छा नहीं हुई। उन्हें आश्चर्य था कि लोग क्योंकर आतुरता से परमात्मा की स्तुति करते हैं? निस्संदेह भय से मुक्ति पाने के लिए और सहायता पाने की इच्छा से। भय भी किसका? मृत्यु का, हानि का, रोग और शोक का।

अष्टावक्र सोचते, मृत्यु से भय कैसा? मृत्यु तो अवश्यंभावी है, अंतिम और चिरंतन सत्य, जबकि हानि, रोग और शोक मायावी और भ्रामक अवधारणाएं।

परमात्मा की स्तुति का एक ही प्रयोजन था, कुछ पाना, ईश्वर से कुछ पाने की याचना करना। ऐसी स्वार्थ से परिपूर्ण स्तुति का क्या लाभ? इसके अतिरिक्त

ईश्वर से सहायता की याचना ही क्यों? क्या मानव इतना शक्तिहीन है कि वह अपनी सहायता स्वयं न कर सके।

अष्टावक्र परमात्मा की सहायता लेने को इच्छुक क्यों नहीं थे? क्योंकि वे अनुभव कर चुके थे कि वे आत्मविश्वस्त हैं, आत्मनिर्भर हैं, अपने परमात्मा स्वयं हैं।

आत्मज्ञान की इस प्रतीति से वे लोक में रहते हुए भी लोकेतर हो गए।

❑ ❑

श्वेतकेतु अपने पिता के साथ खेलता था। अष्टावक्र को पता नहीं था कि उनके पिता का दुखद परिस्थितियों में देहांत हो चुका है। वह श्वेतकेतु के पिता को ही अपना सर्वस्व मानते थे।

श्वेतकेतु जब भी अष्टावक्र को अपने पिता के साथ देखता तो बुरा मान जाता। वह येन केन प्रकारेण अष्टावक्र को पिता से दूर कर देता। अष्टावक्र बुरा नहीं मानते थे। उनका विचार था, श्वेतकेतु पिता के प्रति मोहासक्त है, जबकि उन्हें किसी के प्रति मोह नहीं था।

एक दिन अष्टावक्र श्वेतकेतु के पिता के साथ बैठे थे कि श्वेतकेतु वहां आया। अष्टावक्र को पिता के साथ बातें करते देख उसने कहा, "यह मेरे पिता हैं, इनके साथ बैठने का अधिकार मेरा है। तुम अपने पिता के पास क्यों नहीं जाते?"

श्वेतकेतु की बात उचित थी। अष्टावक्र ने तर्क-वितर्क नहीं किया। वहां से उठकर वह सीधे मां के पास गए, पूछा, "मां, श्वेतकेतु को पिता का सान्निध्य उपलब्ध है, पिता की निकटता से उसे प्रसन्नता भी होती है। मेरे पिता कहां हैं?"

प्रश्न सहज व सरल था, किंतु सुजाता का चेहरा कुछ सोचकर शोकाकुल हो गया। वह भूली नहीं थी कि इसी पुत्र के संस्कार के लिए धन का प्रबंध करने वह राजा जनक के दरबार में गए थे, किंतु वहां बंदी से शास्त्रार्थ में परास्त होने के बाद उन्हें जल-समाधि लेनी पड़ी थी।

एक क्षण के उपरांत सुजाता ने जब सिर उठाया तो उसकी आंखों में आंसू झिलमिला रहे थे।

अष्टावक्र चकित थे, पिता के बारे में पूछने पर मां रो क्यों पड़ी? उसने पूछा, "क्या हुआ मां, अचानक उदास क्यों हो गईं?"

वह होंठ भींचकर धीरे से बोली, "कुछ नहीं पुत्र, तुम्हारे पिता नहीं रहे। उनका दुखद परिस्थितियों में निधन हो गया।"

"कब?"

"तुम्हारे जन्म से एक दिन पूर्व?"

"दुखद परिस्थितियों में उनका निधन हो गया, इसका तात्पर्य?"

"हां पुत्र, तुम्हारे पिता राजा जनक के प्रासाद में गए थे, जहां बंदी नामक विद्वान से शास्त्रार्थ में परास्त हो जाने के कारण उन्हें जल-समाधि लेने को विवश किया गया था।"

अष्टावक्र को आश्चर्य हुआ। यह कैसा शास्त्रार्थ हुआ? शास्त्रार्थ का अर्थ तो यही है कि शास्त्रों में निहित ज्ञान की चर्चा की जाए। विद्वान एक-दूसरे को ज्ञानानुभव सुनाएं, एक-दूसरे के ज्ञान का पारस्परिक लाभ उठाएं। शास्त्रार्थ में विजय-पराजय का क्या स्थान? कैसा है यह बंदी नामक विद्वान? यह तो कोई विद्वता नहीं हुई कि शास्त्रार्थ में उससे जो हीन सिद्ध हो, उसे जल-समाधि लेने को विवश किया जाए। यह तो विशुद्ध हिंसा है। विद्वान कभी हिंसक नहीं हो सकता, उसका हृदय उदार और विनम्र होता है। मुझे तो उसकी विद्वता संदिग्ध प्रतीत होती है। निस्संदेह उसे अपनी विद्वता पर अहंकार है। वह विद्वान होने का प्रदर्शन करके अपने अहं को तुष्ट करता है। विद्वजन विद्वता का प्रदर्शन नहीं करते, उनका अहंकार तिरोहित हो जाता है, वे आत्मतुष्ट होते हैं, अतएव अहं से मुक्त भी।

अष्टावक्र का मन यह मानने को तैयार नहीं था कि बंदी विद्वानों की श्रेणी में रखे जाने योग्य ब्राह्मण है। अवश्य वह तर्क-कुतर्क में पारंगत होगा और शास्त्रार्थ में अपने प्रतिद्वंद्वी को वाग्जाल में फांसकर परास्त करता होगा। जरा मैं भी तो जाकर देखूं, कितना बड़ा विद्वान है।

अष्टावक्र ने मां के आंसू पोंछकर कहा, "रो मत मां, मैं राजमहल जाऊंगा और बंदी से शास्त्रार्थ करूंगा।"

सुजाता भय से सिहर गई, बोली, "नहीं पुत्र, मैं तुम्हें वहां नहीं जाने दूंगी। तुम्हारे पिता को मैं खो चुकी हूं, अब तुम्हें नहीं खोना चाहती। एक तुम्हीं तो मेरे अवलंबन हो।"

"मां, चिंता मत करो, मुझे कुछ नहीं होगा।"

"पुत्र, तुम बंदी को नहीं जानते। वह अनेक ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त कर जल-समाधि दे चुका है। तुम्हारे पिता उसके सम्मुख टिक न सके, और तुम तो अभी बालक हो।"

"मुझ पर विश्वास रखो मां, मैं बालक अवश्य हूं, किंतु आत्मशक्ति मेरा सबसे बड़ा संबल है। मां, जो आत्मविश्वस्त होते हैं, वही विजयश्री का वरण करते हैं।"

सजाता को समझ में नहीं आया कि वह पुत्र को ऐसा दुस्साहस करने से कैसे रोके। अष्टावक्र की मुद्रा से स्पष्ट था कि वह प्रासाद जाने को कृतसंकल्प हैं। वह हताश हो गई, कांपते स्वर में बोली, ''ठीक है पुत्र, जाओ। परमात्मा तुम्हारी रक्षा करे।''

''मां, परमात्मा को कष्ट मत दो। प्रत्येक व्यक्ति अपना परमात्मा आप होता है, किंतु खेद है कि कोई भी स्वयं को परमात्मा रूप में अनुभूत करने में सक्षम नहीं। और मां, पुत्र की रक्षा हेतु परमात्मा का स्मरण करना स्वार्थ है। परमात्मा की स्वार्थवश स्तुति करने से कोई पुण्य नहीं मिलता।''

सुजाता बात के मर्म को समझने में असमर्थ थी। उसे केवल पुत्र के अनिष्ट की आशंका सता रही थी। सोच रही थी, पुत्र प्रतिशोध की भावना के वशीभूत होकर राजप्रासाद जा तो रहा है, पता नहीं इसका क्या परिणाम हो। हे प्रभु, इसका मंगल हो।

अष्टावक्र जाते-जाते रुक गए, ''मां, यह मत सोचना कि मैं प्रतिशोध लेने जा रहा हूं। नहीं मां, मैं जय-पराजय और प्रतिशोध की भावनाओं से मुक्त हूं। सांसारिक प्रवृत्तियां मुझे लेशमात्र भी प्रभावित नहीं करतीं। मैं केवल कर्त्तव्य निर्वहन हेतु जा रहा हूं। शेष प्रारब्ध के अधीन है।''

इसके अतिरिक्त, अष्टावक्र ने मन-ही-मन सोचा, बंदी की हिंसा पर अंकुश लगाना अनिवार्य है, अन्यथा वह न जाने और कितने ब्राह्मणों को अकाल मृत्यु का वरण करने को विवश करेगा।

❑❑

अष्टावक्र राजप्रासाद के मुख्यद्वार पर पहुंचे। दरबानों से बोले, ''कृपया महाराज से जाकर कहें कि एक ब्राह्मण उनके दर्शन करना चाहता है।''

दरबानों की दृष्टि विकलांग बालक पर पड़ी तो वे उलझन में पड़ गए। उन्होंने एक-दूसरे की आंखों में झांका, तदुपरांत एक बोला, ''हमें खेद है बालक, हम आपका संदेश महाराज तक नहीं पहुंचा सकते।''

''क्यों, मैंने सुना है कि ब्राह्मणों का दरबार में प्रवेश अबाधित है।''

''आपने सत्य सुना है, किंतु दरबार में केवल वयस्क ब्राह्मण ही प्रवेश कर सकते हैं। बालकों का अंदर जाना निषिद्ध है।''

अष्टावक्र के चेहरे पर कोई मुद्रा नहीं उभरी। न उन्हें क्रोध हुआ और न विस्मय। निर्विकार भाव से बोले, ''वयस्क और बालक ब्राह्मण की यह तुलना मेरी समझ में नहीं आई, द्वारपाल। कृपया इस भेद को स्पष्ट करें।''

''बालक, दरबार में बड़े-बड़े उत्कट विद्वान ब्राह्मण उपस्थित हैं। उनके

सान्निध्य में महाराज ज्ञान-चर्चा का लाभ उठाते हैं। ऐसे ज्ञानमय वातावरण में आपकी उपस्थिति विघ्न पहुंचाएगी।''

''द्वारपाल, क्या ज्ञान केवल बड़ी आयु का प्राणी ही प्राप्त कर सकता है। तुमने अवश्य बड़ी आयु के ऐसे प्राणियों को भी देखा होगा, जो आजीवन मूढ़ता से मुक्त नहीं हो पाते। मैं दरबार में उपस्थित विद्वानों की भांति ज्ञानवान नहीं हूं। किंतु क्या मुझे उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं। कृपया मुझे भी उनके ज्ञान से लाभान्वित होने दें।''

दोनों दरबानों ने एक-दूसरे को देखा। वे असमंजस में थे कि बालक को अंदर भेजना उचित होगा या नहीं। दस-बारह साल के इस बालक ने दरबार में जाकर कुछ बालसुलभ क्रिया की तो विद्वानों की सभा में व्यवधान पहुंचेगा। फिर यह बालक शरीर से विकलांग भी था।

एक दरबान ने कुछ बोलना चाहा, किंतु इससे पूर्व ही अष्टावक्र ने कहा, ''मुझसे पूर्व यहां एक बार व्यास पुत्र शुकदेव भी आए थे। वे मुमुक्षु थे और राजा जनक से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने आए थे। उनकी आयु भी उतनी थी, जितनी मेरी। राजा जनक ने शुकदेव को तत्त्वज्ञान देना स्वीकार किया था। क्या आप मुझे ज्ञान प्राप्ति से वंचित करेंगे?''

दरबान ने ध्यानपूर्वक अष्टावक्र को देखा। बालक के मुखमंडल पर विचित्र आभामंडल देदीप्यमान हो रहा था। नेत्रों में ओज का आलोक था। उसके स्वर में आग्रह नहीं था, याचना भी नहीं थी, बस, केवल सहज-सा प्रश्न था।

दरबान मानो सम्मोहित-सा हो गया। वह बालक को अंदर जाने से रोक नहीं सका। हाथ जोड़कर बोला, ''आपका स्वागत है ब्राह्मण देवता। आइए, मैं आपको दरबार तक ले चलता हूं।''

❑❑

अष्टावक्र ने जैसे ही दरबार में प्रवेश किया, वहां उपस्थित सभी लोगों की दृष्टि उनकी ओर उठ गई।

अष्टावक्र ने पलटकर किसी को नहीं देखा, वह चुपचाप आगे बढ़े। उनकी चाल देखकर दोनों पार्श्वों में बैठे राजदरबारी और विद्वजन अट्टहास करने लगे। सारा दरबार कहकहों से गूंज उठा।

अष्टावक्र इस सबसे निष्प्रभावित राजा जनक के सम्मुख पहुंचे और हाथ जोड़कर अभिवादन किया।

राजा जनक गंभीर थे। उन्हें उपस्थित जनसमुदाय का यह आचरण पसंद

नहीं आया। विकलांग पर हंसना सर्वथा अनुचित और असभ्यता का आचरण था। कोई विकलांग उत्पन्न हो तो इसमें उसका क्या दोष? यह तो प्रारब्ध का फल है, जिसे कोई भी भोगने को विवश हो सकता है। हंसी का पात्र तो वह है, जो स्वयं अशुभ अभ्यासों को अंगीकार करता है।

उन्होंने बालक की ओर देखते हुए कहा, ''आओ बालक! मैं जान सकता हूं कि यहां आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है?''

''महाराज! मैंने सुना था कि आपके दरबार में ज्ञान में निष्णात अनेक उत्कट विद्वान ब्राह्मण हैं। उन्हीं के दर्शन का लोभ संवरण मैं नहीं कर पाया, अत: आपके दरबार में उपस्थित हुआ हूं।''

राजा जनक बालक की वाणी से चकित हो गए। वाणी में जरा भी रोष नहीं था, व्यंग्य नहीं और न ही अपमान की व्यथा। उन्होंने दरबार में विद्वजनों को पारस्परिक तर्क-वितर्क करते हुए सुना था। वे एक-दूसरे पर व्यंग्य बाण छोड़ते थे, अपमान से व्यथित होते थे और रोष से उनकी आंखें रक्तिम हो जाती थीं। किंतु यह बालक इन सबसे अलग था। ऐसी तटस्थता तो विरलों में ही पाई जाती है। और फिर इसका चेहरा कितना ओजस्वी है। निर्विकार होते हुए नेत्र आत्म-आलोक से दमक रहे थे।

वह गंभीर स्वर में बोले, ''बालक, तुम्हारे दोनों ओर विद्वान ही बैठे हैं।''

अष्टावक्र ने बारी-बारी से दोनों ओर देखा। सबकी दृष्टि उन्हीं पर टिकी हुई थी। सबके होंठों पर मुस्कराहट थी और आंखों में विद्रूपता। उचाट दृष्टि से उनको देखकर अष्टावक्र राजा जनक से संबोधित हुए, ''राजन! मुझे तो इनमें से कोई विद्वजन दृष्टिगोचर नहीं होता। यहां तो चर्मकारों की सभा जुटी हुई है।''

अगले पल सारे दरबार में सन्नाटा छा गया। सबके होंठों से मुस्कराहट लुप्त हो गई और आंखों में गहरा रोष उमड़ पड़ा। कौन है यह धृष्ट बालक? यहां कैसे-कैसे महान विचारक, विद्वान और ज्ञानी बैठे हुए हैं और यह मूढ़ बालक उन्हें चर्मकार बता रहा है।

दरबार में बंदी का कुपित स्वर गूंजा, ''अरे धृष्ट, क्या तू नहीं जानता कि इस राजदरबार में केवल परीक्षित विद्वानों को ही प्रवेश करने की अनुमति प्राप्त है। तूने उन्हें चर्मकार कहकर उनका घनघोर अपमान किया है। तुझे इसका दंड अवश्य मिलेगा। महाराज...''

महाराज ने हाथ से संकेत कर बंदी को आगे बोलने से रोक दिया। वह बालक से बोले, ''क्या तुम बता सकोगे कि विद्वानों को तुमने चर्मकार कहकर क्यों संबोधित किया?''

अष्टावक्र ने सहजता से उत्तर दिया, "राजन, इन तथाकथित विद्वानों ने स्वयं ही सिद्ध कर दिया कि वे चर्म पारखी हैं, विवेकशील विचारक और विद्वान नहीं।"

राजा जनक ने हतप्रभ बिना हुए पूछा, "वह कैसे, बालक?"

"जैसे ही मैं दरबार में प्रविष्ट हुआ, ज्ञानचर्चा श्रवण के स्थान पर इनके ठहाके मेरे कानों में गूंजने लगे, मैं समझ गया कि लोगों की यह धारणा मिथ्या है कि यहां विद्वान बैठते हैं। ये मेरे शरीर की विकलांगता को परख रहे थे, मेरे शरीर का चर्म इनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण था। इसका अर्थ यह हुआ है कि इनकी दृष्टि में शरीर का बाह्य स्वरूप व्यक्ति के चरित्र को जांचने का एकमात्र माध्यम है, चाहे व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध हो अथवा अशुद्ध।"

कोई कुछ नहीं बोला। बंदी कसमसा कर रह गया। अब भी उसका अंतःकरण क्रोध और अपमान से दग्ध हो रहा था।

राजा जनक की दृष्टि एक बार दरबार में चारों ओर घूम गई, तदुपरांत उन्होंने बालक से पूछा, "तुम्हारा तर्क असंगत नहीं, बालक। क्या हम तुम्हारा परिचय जान सकते हैं?"

"मैं अकिंचन प्राणी हूं, राजन! मेरा परिचय महत्त्वपूर्ण नहीं। खेद है कि यहां आकर मुझे निराशा ही हाथ लगी, मैं ज्ञानचर्चा से वंचित ही रहा।"

"ठहरो बालक, तुम मुझे साधारण प्रतीत नहीं होते। आत्मविश्वास से परिपूर्ण ऐसा बालक मैंने आज तक नहीं देखा। हम तुम्हारा परिचय जानने को उत्सुक हैं।"

"राजन, मैं वेदांताचार्य कहोड का पुत्र अष्टावक्र हूं।"

एकाएक बंदी बोल पड़ा, "अब समझा, तूने हमारा अपमान क्यों किया? तू अपने पिता का प्रतिशोध लेने आया है।"

अष्टावक्र ने उत्तर दिया, "नहीं महामने, ऐसा न सोचें। प्रतिशोध की वह सोचता है, जो किसी से विद्वेष रखता हो, मुझे किसी से विद्वेष नहीं। मैं आपसे अलग नहीं, आप मुझसे अलग नहीं। हम सभी एक ही आत्मा के साक्ष्य-स्वरूप हैं, एक-दूसरे से आबद्ध और एकात्म। ऐसी स्थिति में कौन है मेरा द्वेषी, जिससे मैं प्रतिशोध लेने की कल्पना करूं?"

राजा जनक ध्यानपूर्वक बालक को देख रहे थे और उसकी बात का अर्थ समझने का प्रयास कर रहे थे। कितने उत्कृष्ट विचार थे। समस्त सृष्टि एक ही आत्मा का प्रकटस्वरूप है, कोई किसी से पृथक नहीं, सामूहिकता में एकता। यह सामुदायिक भावना समाज में विकसित हो जाए तो द्वेष, शत्रुता व ईर्ष्या से मुक्त हो जाएं। ठीक अष्टावक्र की भांति।

राजा को अब पता चला कि अष्टावक्र इतने सहज, निर्विकार और ओजस्वी क्यों हैं। जो द्वेष और कटुता से मुक्त हो, वही ऐसी निरपेक्ष और निरंजन अवस्था को प्राप्त होता है।

बंदी बोला, ''महाराज, इसके विचार सर्वथा अतार्किक हैं। कौन नहीं जानता कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। प्रत्येक व्यक्ति में उसकी स्वतंत्र आत्मा व्याप्त है, जो मरणोपरांत मृत शरीर से निकल जाती है।''

अष्टावक्र बोले, ''व्यक्ति और आत्मा की यह वेद-मीमांसा भ्रामक है।''

बंदी क्रुद्ध स्वर में बोला, ''तू क्या जाने वेद के संबंध में? वेदाध्ययन में हमारी आयु व्यतीत हो गई, तू तो अभी अज्ञानी बालक है।''

''महामने, आपने जन्म लेने के बाद वेदाध्ययन आरंभ किया था, मैंने तो माता के गर्भ में ही वेद ज्ञान प्राप्त कर लिया था।''

''बहुत अहंकार है तुझे अपने वेद-ज्ञान पर।''

''नहीं महामने, मैं अकिंचन हूं, मुझे कैसा अहंकार? मैंने मात्र यह स्वीकार किया था कि मैं वेदज्ञान से परिचित हूं, किंतु वेदज्ञान को ही अंतिम ज्ञान नहीं समझता।''

''महाराज, आप देख रहे हैं इस बालक की धृष्टता! यह वेदों के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों के अस्तित्व की बात कर रहा है, जबकि वेदों में समस्त ज्ञान निहित हैं। वेद हमें सृष्टि की उत्पत्ति के रहस्यों से परिचित कराते हैं, जीवन-व्यवहार का पाठ पढ़ाते हैं। ऐसा क्या है, जो वेद में नहीं है?''

''महामने, मैं पुन: निवेदन करना चाहूंगा कि वेदों में निहित ज्ञान अंतिम ज्ञान नहीं है। कोई भी अंत सिद्ध नहीं होता, अत: कालानुसार सिद्धांत भी परिवर्तित होते रहते हैं। मात्र वेदों को सर्वस्व मानने का अर्थ है, अपनी ही दृष्टि को संकुचित करना। महामने, विचार-जगत अनंत और असीम है, प्रत्येक काल का अनुभव उस विचार-जगत को और अधिक व्यापकता प्रदान करता है।''

''लगता है, तेरा ज्ञान भी अनंत और असीम है। यदि ऐसा है तो मुझसे शास्त्रार्थ कर?''

''यदि राजन अनुमति दें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।''

राजा जनक बंदी और अष्टावक्र का तर्क-वितर्क ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। अष्टावक्र के विचार उन्हें असंगत प्रतीत नहीं हुए, हां, उनमें नवीनता अवश्य थी। उनके दरबार में वेदों को ही केंद्र में रखकर ब्रह्म-चर्चा होती थी, जबकि बालक वेदेतर ज्ञान की भी बात कर रहा था। निस्संदेह उसके विचार सुनना नए

अनुभवों का साक्षात्कार करना था। उसके चेहरे पर ऐसी प्रखरता थी, जिससे स्पष्ट था कि वह आत्मविश्वास से परिपूर्ण है। उसका बंदी से शास्त्रार्थ निरापद होगा। इसके अतिरिक्त वह बालक के विचार सुनने को भी उत्सुक थे।

राजा जनक ने कहा, ''बालक, यदि शास्त्रार्थ की इच्छा है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।''

बंदी बोला, ''बालक, शास्त्रार्थ आरंभ करने से पूर्व तुझे ज्ञात होना चाहिए कि यदि तू पराजित हुआ तो तुझे जल-समाधि लेनी होगी।''

''मुझे स्वीकार है, महामने।''

❑ ❑

अंततः बंदी को अष्टावक्र के ज्ञान के सम्मुख नतशिर होना पड़ा। उसे प्रतीत हुआ कि सामने नन्हा बालक नहीं, कोई विराट तत्त्व ज्ञानी खड़ा है। उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

सारे राजदरबार में मौन व्याप्त था। आज तक बंदी को कोई विद्वान परास्त नहीं कर सका था। वह अपनी वाक्‌पटुता से प्रतिद्वंद्वी को इतना दिग्भ्रमित करता था कि विरोधी विचलित हो जाता था, जबकि अष्टावक्र ने न वाक्‌पटुता का प्रदर्शन किया था और न ही बंदी को दिग्भ्रमित करने का प्रयास। बंदी द्वैत दर्शन में विश्वास रखता था, किंतु अष्टावक्र ने तर्कसहित सिद्ध कर दिया कि द्वैत कुछ नहीं होता, समस्त चराचर मात्र अद्वैत है, एकात्म है।

राजा जनक सहित दरबार में उपस्थित समस्त जनों की दृष्टि अष्टावक्र और बंदी पर टिकी हुई थी।

बंदी ने हाथ जोड़कर अष्टावक्र से कहा, ''मुझे अपनी पराजय स्वीकार करने में किंचित भी खेद नहीं। निस्संदेह आप परम ज्ञानी हैं, आपने मेरे ज्ञान-चक्षु खोल दिए, गुरुदेव।''

अष्टावक्र बोले, ''महामने, आप शास्त्रार्थ के नियम तो नहीं भूले होंगे?''

''नहीं गुरुदेव, अब मुझे मृत्यु से भय नहीं रहा। आपके माध्यम से मैंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया कि मैं मात्र आत्मास्वरूप हूं। चेतनस्वरूप पंचतत्त्वों का समूह है, जो मिथ्या है, अनित्य है। चेतनस्वरूप नहीं भी रहा तो मेरा आत्मरूप निरंतर अस्तित्व में रहेगा, क्योंकि आत्मा नित्य और शाश्वत है। मैं अवश्य जल-समाधि लूंगा।''

अष्टावक्र कुछ बोले नहीं, मौन ही रहे। राजा जनक अथवा किसी को भी बंदी के जल समाधि लेने के निर्णय से दुख नहीं था, हर्ष इस बात का था कि उन्हें जीव-अजीव, आत्मा तथा परमात्मा से सबंद्ध नए विचार-जगत में

विचरण करने का अवसर प्राप्त हुआ था। जल समाधि का नियम स्वयं बंदी का बनाया हुआ था और राजा जनक भी इस नियम से सहमत थे। यह केवल राजा जनक ही जानते थे कि इस नियम के प्रति उन्होंने सहमति क्यों जताई थी।

बंदी ने राजा जनक से कहा, ''महाराज, प्रसन्नता है कि मैं भ्रमों के साथ जल समाधिस्थ होने नहीं जा रहा, सत्य की महान थाती लेकर आपसे विदा हो रहा हूं। मेरा अंतिम नमस्कार स्वीकार करें।''

राजा जनक के कुछ बोलने से पूर्व ही अष्टावक्र का निर्विकार स्वर गूंजा, ''महामने, जल समाधिस्थ होने की आवश्यकता नहीं। मैं केवल यह जानना चाहता हूं कि पराजित ब्राह्मणों द्वारा जल समाधि लेने के क्रूर निर्णय के पीछे कारण क्या है?''

बंदी ने एक बार राजा जनक की ओर देखा, तदुपरांत पहली बार उनके होंठों पर हल्की-सी मुस्कान छा गई, बोले, ''मुनिवर, मैं अहंकारी अवश्य था, किंतु क्रूर कभी नहीं रहा। ब्राह्मणों को जल-समाधि देना मेरी विवशता थी।''

''विवशता! यह कैसी विवशता है, महामने। दूसरों के प्राण हरण करना निस्संदेह क्रूरता है।''

अचानक राजा जनक का स्वर गूंजा, ''हे ब्रह्मज्ञानी बालक, यदि इस नियम में क्रूरता की तनिक भी संभावना होती तो मैं क्योंकर सहमति प्रदान करता। वस्तुत: किसी भी ब्राह्मण के प्राण हरण नहीं किए गए। मैं आपको संक्षेप में बताता हूं कि ब्राह्मणों को जल-समाधि देने के पीछे हमारी क्या विवशता थी? सबसे पहले मैं आपको बंदी का परिचय दूं। बंदी कोई और नहीं, स्वयं वरुण पुत्र हैं और एक विशेष प्रयोजन से विभावरी पुरी से पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। विभावरी पुरी में वरुण देव ने जब यज्ञ का आयोजन करने का निश्चय किया तो उन्हें अन्य देवताओं ने परामर्श दिया कि यज्ञ के लिए पृथ्वी के प्रखर और तेजस्वी ब्राह्मणों को लाया जाए। यह परामर्श वरुण देव को अच्छा लगा। किंतु ब्राह्मणों को विभावरी पुरी लाया कैसे जाए? यह गुप्त यज्ञ था और विभावरी पुरी नरेश नहीं चाहते थे कि पृथ्वीवासियों को इसकी भनक भी लगे। अत: ब्राह्मणों को वहां भेजने का दायित्व बंदी को सौंपा गया। बंदी मेरे पास आए और वरुण देव की इच्छा से मुझे अवगत कराया। मैंने इनसे पूछा था कि पृथ्वी के ब्राह्मणों को आप वरुणनगरी कैसे ले जाएंगे? बंदी ने उत्तर दिया था कि जब तक यज्ञ संपन्न नहीं हो जाता, तब तक हम इसे गुप्त ही रखना चाहते हैं। अत: ब्राह्मणों को यज्ञ-आयोजन की पूर्व सूचना देकर चलने का निमंत्रण देना अभीष्ट नहीं। बंदी ने निवेदन किया कि यदि मैं इनकी योजना

में सहयोग दूं तो वह अपने लक्ष्य में सफल हो सकते हैं। मैंने पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया। हम दोनों में यह गुप्त संधि हुई कि बंदी विद्वान ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करेंगे और उन्हें परास्त करके जल समाधिस्थ होने को बाध्य करेंगे। इस प्रकार जल समाधिस्थ ब्राह्मण विभावरी पुरी में पहुंचेंगे और वरुण के यज्ञ का सफलतापूर्वक आयोजन करेंगे।

''हे ब्रह्मज्ञानी बालक, वस्तुत: कोई भी ब्राह्मण मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ, वे सभी जीवित हैं और यज्ञ संपन्न करा रहे हैं। यज्ञ संपन्न होते ही समस्त ब्राह्मण पुन: पृथ्वी पर अवतरित हो जाएंगे।''

अष्टावक्र बोले, ''मैं संतुष्ट हुआ, राजन।''

बंदी बोला, ''मुनिवर, विभावरी पुरी में यज्ञ संपन्न हो चुका है, अत: उसे अब गुप्त रखने का कोई औचित्य नहीं। वरुण देव पृथ्वी के ब्राह्मणों का यथायोग्य आदर-सत्कार करने के बाद उन्हें शीघ्र ही पृथ्वी पर जाने की अनुमति दे देंगे। राजन, यहां आने का मेरा लक्ष्य सिद्ध हो चुका है, अत: मेरे यह रुकने का अब कोई प्रयोजन नहीं रहा। मैं यज्ञ के अंतिम क्षणों में पिता के साथ ही रहना चाहूंगा। मुझे आज्ञा दें, मैं जल-समाधि लेने जा रहा हूं।''

❑❑

दरबार की सभा संपन्न होने के पश्चात जब अष्टावक्र ने जाने की अनुमति मांगी तो राजा जनक बोले, ''हे विप्रदेव, मैं ज्ञान-पिपासु हूं, मुझे आप पर परम आस्था है। मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहूंगा। क्या आप मुझे दो-चार दिन तक आत्मज्ञान देने की कृपा करेंगे।''

अष्टावक्र को स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि राजा जनक परम मुमुक्षु हैं। ज्ञान के किसी भी स्रोत का लाभ उठाना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है।

अष्टावक्र बोले, ''दो-चार दिन तो बहुत होते हैं राजन, यदि आप सुपात्र हुए तो आप उतनी ही देर में ज्ञान संपन्न हो सकते हैं, जितनी देर में ऐड़ पर पैर रखकर घोड़े की पीठ पर बैठा जा सकता है।''

''मेरा अहोभाग्य विप्रदेव, जो आप जैसे ज्ञानी का सान्निध्य प्राप्त हुआ।''

❑❑

यहां आपकी इस भ्रांति का निराकरण कर देना भी समीचीन होगा कि यह राजा जनक रामायणकालीन (सीता के जनक) नहीं थे।

मिथिला प्रदेश पर राज करने वाले कुल उन्नीस राजा जनक हुए हैं। तब मिथिला-नरेश जनक ही कहलाते थे। उन्हें विदेही माना जाता था, क्योंकि उनका पूर्वज योनिज नहीं था।

यह तब की बात है, जब यह क्षेत्र मिथिला प्रदेश के नाम से नहीं जाना जाता था और निमि यहां के नरेश थे। एक बार उन्होंने यज्ञ का आयोजन किया तथा ऋषि वशिष्ठ से यज्ञ संपन्न कराने का अनुरोध किया। ऋषि वशिष्ठ ने कहा, ''इस समय मैं किसी अन्य का यज्ञ संपन्न कराने जा रहा हूं, उसके पश्चात मैं आपके यज्ञ में भाग ले सकूंगा।''

इतना कहकर ऋषि वशिष्ठ चले गए। राजा निमि यज्ञ में विलंब नहीं करना चाहते थे। अत: उन्होंने अन्य विप्रों के सहयोग से यज्ञारंभ कर दिया। जब यज्ञ संपन्न होने को था, तभी ऋषि वशिष्ठ का यज्ञ स्थल पर आगमन हुआ। उन्हें यह देखकर बड़ा क्रोध आया कि राजा निमि उनकी प्रतीक्षा न कर सके और यज्ञ आरंभ करवा दिया। उन्होंने कुपित होकर निमि को मृत्यु का शाप दिया।

राजा निमि के देहांत से यज्ञ संपन्न करवा रहे विप्र दुविधा में पड़ गए। यज्ञ को अधूरा छोड़ना अशुभ था, और राजा निमि के बिना उसे कोई संपन्न नहीं करवा सकता था। यज्ञाहुतियां लेने के लिए स्वयं देवता भी वहां उपस्थित थे। विप्रों ने उनसे विनती की, ''हे देवताओ! किसी उपाय से राजा निमि को जीवित करें, यज्ञ अधूरा रह गया तो अनर्थ हो जाएगा।''

देवताओं ने राजा निमि की आत्मा का आवाहन किया। आत्मा आई तो देवताओं ने उससे राजा निमि की मृत देह में प्रवेश करने का आग्रह किया। किंतु सर्वत्र व्याप्त, मुक्त और स्वच्छंद आत्मा देह से प्रविष्ट होकर क्यों स्वयं को सीमित करती? उसने देवताओं का आग्रह ठुकरा दिया।

किंतु राजा निमि का पुनर्जन्म आवश्यक था, अत: देवताओं ने उनकी मृत देह का मंथन किया। परिणामस्वरूप उनकी देह से एक शिशु अवतरित हुआ, जो नगर नरेश बना और यज्ञ को संपन्न करवाया।

तब से उस नगर का नाम मिथिला पड़ा, क्योंकि राजा निमि की देह को मिथिल (मंथन) करने के उपरांत उनका अंश पुनर्जीवित होकर अवतरित हुआ था।

तब से मिथिला के नरेश जनक कहलाने लगे। जनक की परंपरा में जितने भी नरेशों ने मिथिला पर राज किया, वे सभी मुमुक्षु और ज्ञानाग्रही थे।

❑ ❑

अष्टावक्र राजा जनक को एकांत प्रांतर में ले गए और उन्हें उपदेश दिया। अष्टावक्र और राजा जनक के संवाद ही आगे चलकर **अष्टावक्र गीता** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

❑❑

कहोड जब विभावरी पुरी से आश्रम पहुंचे तो उनके हृदय में पश्चाताप की ग्लानि थी। उन्हें स्पष्ट आभास था कि पुत्र को विकलांगता का अभिशाप देकर उन्होंने महापाप किया है। उन्हें यह समाचार मिल चुका था कि उनके पुत्र के ज्ञान से अभिभूत होकर राजा जनक ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया है।

आश्रम आते ही कहोड पुत्र को लेकर समंदा नदी की ओर चल पड़े। समंदा में डुबकी लगाते ही अष्टावक्र पुनः सामान्य शरीर हो गए।

किंतु आत्मज्ञानी अष्टावक्र सामान्य देह और विकलांग देह के भेद से मुक्त थे।

❑❑

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो॥१॥

भावार्थ: राजा जनक ने अष्टावक्र से पूछा:

'प्रभुवर, कृपया मेरी जिज्ञासा का शमन कीजिए कि ज्ञान प्राप्ति कैसे की जा सकती है? मुक्ति का उपाय क्या है? वैराग्य कैसे प्राप्त किया जाता है?'

विवेचना: अनादिकाल से मानव ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य के शाश्वत मार्गों का अनवरत अनुसंधान कर रहा है। आज भी उसके ज्ञान की तृष्णा समाप्त नहीं हुई है, आज भी वह मुक्ति की इच्छा से व्याकुल है और वैराग्य के मार्ग पर चलकर समस्त समस्याओं, विषमताओं एवं कामनाओं से संबंध विच्छेद करना चाहता है, किंतु उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। निस्संदेह, यदि उसे सफलता प्राप्त हो जाती तो इन गूढ़ विषयों की चर्चा को ही विराम लग जाता। वस्तुत: इन विषयों का जितना मंथन किया जाए, उनका स्वरूप, अर्थ व प्रयोजन उतना ही विकीर्ण और व्यापक हो जाता है।

यदि मानव को प्रथम सोपान पर ही ज्ञान प्राप्त हो जाता तो वह ज्ञान के अन्य सोपानों पर चरण क्यों रखता? यदि उसने प्रथम सूर्योदय में ही मुक्ति का वरण कर लिया होता तो मुक्ति के विविध अर्थों व उपायों की वह आज भी मीमांसा क्यों करता? वैराग्य-प्राप्ति इतनी सहज होती तो उसे पाने के लिए वह इतना क्यों तड़पता?

वस्तुत: ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य का अर्थ वह नहीं है, जो ध्वनित होता है। इनका अर्थ बहुआयामी और विशद है। ज्ञान के स्रोत अनंत और असीम हैं। मुक्ति का अर्थ स्वच्छंदता अथवा कर्त्तव्यविमुखता नहीं। वैराग्य का भी तात्पर्य कर्महीनता अथवा सांसारिक बंधनों से पलायन नहीं। इनके अर्थ इतने सरल होते तो मानव बार-बार इन पर चर्चा क्यों करता, अथवा राजा जनक को ही

क्यों आवश्यकता अनुभव होती कि वह इनके विषय में अष्टावक्र से जिज्ञासा प्रकट करते।

ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य के प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार-विमर्श किया है। अष्टावक्र ने राजा जनक के तीन प्रश्नों के उत्तर में ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य का विशद विश्लेषण किया है।

अष्टावक्र के मत से ज्ञान, मुक्ति अथवा वैराग्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि सांसारिक क्रिया-कलापों को त्याग कर वन-प्रांतर की ओर प्रस्थान करें, अपितु दैनंदिन कर्त्तव्यों का पालन करते हुए लोभ, मोह व माया का परित्याग करें। यही वास्तविक जीवन का सारांश है।

अष्टावक्र की दृष्टि में ज्ञान का सार यह है कि शरीर के प्रति मोहासक्त होकर मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती और आसक्तियों का त्याग किए बिना वैराग्य की कल्पना करना संभव नहीं।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवभद्ज॥२॥

भावार्थ: राजा जनक के प्रश्न का उत्तर देते हुए अष्टावक्र ने कहा—'तेरी मुक्ति की कामना तभी पूर्ण हो सकती है, जब तू विषयों को विष की तरह त्याग देगा और क्षमा, उदारता, दया, संतोष तथा सत्य का अमृत की तरह पान करेगा।'

विवेचना: जैसा कि प्रारंभ में वर्णन किया जा चुका है कि मुक्ति का यह अर्थ नहीं कि स्वच्छंद जीवन यापन किया जाए, या शरीर त्याग कर ही मुक्त हुआ जा सकता है। वस्तुतः मानव की मुक्ति तब तक संभव नहीं, जब तक वह शारीरिक लिप्साओं व कामनाओं से मोह भंग नहीं कर लेता।

विषय क्या है?

यश, संपन्नता व भोग-विलास की निरंतर अभिलाषा, शरीर को आनंदित करने और सुख पहुंचानेवाली वासनाएं तथा परमार्थ के स्थान पर स्वार्थ को प्राथमिकता देना—ये ऐसी विषय-वासनाएं हैं, जिनकी सभी ने निंदा की है। किंतु मानव का यह सहज स्वभाव है कि इनके मोहपाश से स्वयं को मुक्त करा पाने में सदैव असमर्थ रहा है। वास्तविकता यह है कि जो विषय-वासनाओं में लिप्त रहता है, उसका अपने ही शरीर व मन-मस्तिष्क पर अधिकार नहीं रह पाता। वह विकारग्रस्त होते हुए स्वयं के प्रति उदासीन रहता है। उसकी चेतना शक्ति लुप्त हो जाती है और वह विवेक तथा अविवेक में अंतर करने

की शक्ति से हाथ धो बैठता है। ऐसी स्थिति में भी वह मुक्ति की कामना अवश्य करता है और उसके निदान के लिए यत्र–तत्र भटकता है।

अष्टावक्र का स्पष्ट कथन है कि मानव जिन विषय–वासनाओं से संलिप्त होकर स्वयं से विमुख हो गया है, वे सब विषाक्त हैं और विष की तरह उसके शरीर का नाश कर देंगी।

मानव मुक्त होना चाहता है तो उसे स्वयं के प्रति सजग होना पड़ेगा, अपनी चेतना जाग्रत किए बिना वह मुक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता। उसकी जाग्रति तभी संभव है, जब वह परमार्थ चिंतन को अपना स्वभाव बना ले। इस प्रकार वह स्वतः ही विषय–वासनाओं से मुक्त हो जाएगा। किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है, विषय के विष का परित्याग करने के बाद मानव में स्वभावगत परिवर्तन भी आवश्यक है। उसे क्षमा, उदारता, दया, संतोष तथा सत्य का अमृत पीना चाहिए, तभी उसकी मुक्ति संभव है।

निस्संदेह क्षमा, उदारता, दया, संतोष तथा सत्य ऐसी महान और उदात्त भावनाएं हैं, जो मानवीय चरित्र को विशालता प्रदान करती हैं। ऐसी भावनाओं से संपन्न मानव की श्रेष्ठता असंदिग्ध होती है। जो क्षमाशील है, उदारमना है, दयावान, संतोषी और सत्यवान है, वह कभी विषयासक्त हो ही नहीं सकता है। उसे शारीरिक सुखों की चिंता नहीं सताती, वह परमार्थ ही में ही सुख और आनंद की अनुभूति करता है। उसे लौकिक भौतिकता से मोह नहीं रह जाता, वह मुक्त हो जाता है।

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषांसाक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥३॥

भावार्थः तू पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नहीं है। यद्यपि मुक्ति पाना चाहता है तो आत्मा को इन सब का साक्ष्य स्वरूप मान।

विवेचनाः मानव शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के पंच तत्त्वों का स्थूल रूप है, यह नश्वर है और मरणोपरांत आत्मसत्य। अतः शरीर के प्रति मोह निरर्थक है। शरीर बार–बार मरता है और पुनर्जीवित होता है। जबकि आत्मा अजर, अमर और शाश्वत है।

अष्टावक्र राजा जनक को परामर्श देते हैं–'यह भूल जाओ कि तुम पंच तत्त्वों के समूह हो। आत्मा को ही इन सबका साक्षी मानो–तभी मुक्ति प्राप्त कर सकोगे। अर्थात तुम्हीं आत्मा हो, तुम्हीं पंच तत्त्वों के साक्षीस्वरूप हो, स्वयं को पंच तत्त्व मत समझो।'

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर का नहीं, आत्मा का महत्त्व है। मानव

अपने शरीर के प्रति सदैव सचेत रहता है, उसे सजाता-संवारता है, अपने रूप व वर्ण को निखारता है, अहंकार और दर्प से इठलाता है। '**मैं**' और '**मेरा**' की गर्वोक्ति से वह कभी मुक्त नहीं हो पाता, जबकि एक दिन न '**मैं**' रहता है और न '**मेरा**'। अतः ऐसे शरीर से सम्मोहित होने का क्या लाभ? सम्मोहन तो आत्मा से होना चाहिए।

जो मानव इस तथ्य से अवगत हो जाता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश से निर्मित शरीर कुछ नहीं, आत्मा ही पंच तत्त्वों का साक्षीस्वरूप है तो उसका शरीर के प्रति मोह समाप्त हो जाता है और अहंकार व दर्प के विकार नष्ट। अहंकारविहीन मानव विनीत व संयमी होता है और मुक्ति का वरण करता है।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्रम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतो बंधमुक्तो भविष्यसि॥४॥

भावार्थः यदि तू देह से स्वयं को पृथक कर लेगा और चित्त को विश्राम देगा तो तत्काल सुखी, शांत तथा बंधनमुक्त हो जाएगा।

विवेचनाः बंधनमुक्त, शांत और सुखी होने का ही अर्थ है मुक्त होना।

मुक्ति तभी संभव है जब मानव देह से संबंध विच्छेद कर ले, चित्त को वासनाओं के जाल में फंसकर चंचल न होने दे, उसे एकाग्र और स्थिर कर दे। चित्त की चंचलता से मानव की अभिलाषाओं में निरंतर वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह नहीं कि वह देह से संबंध विच्छेद की कल्पना भी नहीं कर सकता। परंतु वह सदैव देह को सुख देने के यत्न में ही संलिप्त रहता है और यहीं से उसका पतन आरंभ हो जाता है। मोह, लोभ व माया उसके चिरसखा बन जाते हैं और छल-प्रपंच उसकी प्रवृत्ति। अहंकार और दर्प के वशीभूत वह भूल जाता है कि देह तो मिथ्या है, नश्वर है। आत्मा से विमुख होकर वह नाना-प्रकार के विषयों का दास बन कर रह जाता है।

अतः अष्टावक्र का स्पष्ट निर्देश है—'**स्वयं** को **देह** से पृथक कर लो, तभी चित्त विश्राम करेगा।'

जिस मानव ने इसे हृदयंगम कर लिया, वह अविलंब सुखी, शांत और बंधन मुक्त हो जाएगा। उसकी मुक्ति में कोई संदेह नहीं।

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥५॥

भावार्थः तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं, न आश्रम है, न दृष्टिगोचर है। तू स्वयं को असंग व निराकार मान कर सुखी रह।

विवेचना: अष्टावक्र ने आरंभ से आत्मा को महत्त्व दिया है, वह शरीर अथवा किसी भी शारीरिक स्वरूप को महत्त्व नहीं देते। यहां उन्होंने वेदों में वर्णित वर्णों व आश्रमों का उल्लेख करते हुए राजा जनक से कहा है–'तुम शरीर के स्थूल स्वरूप पर ध्यान मत दो, **आत्मा** ही सबकुछ है, वह ब्राह्मण नहीं, किसी आश्रम से संबद्ध नहीं। वह असंग व निराकार है। जब तुम इस सत्य से अवगत हो जाओगे तो सुख के सान्निध्य में रहोगे, अर्थात तुम्हें **मुक्ति** मिल जाएगी।'

दुखद स्थिति यह है कि मानव भौतिक इच्छाओं के वशीभूत होकर आत्मा से विमुख हो जाता है। उसे शरीर तो दृष्टिगोचर होता है, किंतु आत्मा नहीं। परिणामत: वह स्वयं को वर्णों और आश्रमों से संपृक्त कर लेता है। अपना प्रभुत्व सिद्ध करने के लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता है। अपनी संपन्नता के लिए दूसरे को विपन्न करने से भी नहीं चूकता।

यही चित्त की चंचलता है। चित्त को विश्राम दिया जाए तो मानव समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है। तब उसका आत्मा से साक्षात्कार होता है और वह स्वयं को असंग व निराकार मानकर मुक्ति प्राप्त करता है।

धर्माधर्मौ सुखं दु:खं मानसानि न ते विभो।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा॥६॥

भावार्थ: धर्म-अधर्म और सुख-दुख मानस की उपज हैं। तू न कर्ता है और न भोक्ता, तू सर्वदा मुक्त है।

विवेचना: यहां भी अष्टावक्र ने आत्मा के महत्त्व पर ही प्रकाश डाला है। आत्मा न कर्ता होती है और न भोक्ता, वह सर्वदा मुक्त होती है। धर्म-अधर्म और सुख-दुख स्थूल शरीर के मन की उपज हैं।

किंतु मानव सोचता है, उसका स्थूल शरीर ही सबकुछ है। वह सदैव मानसिक भ्रमों में उलझकर सुख-दुख की परिकल्पनाएं करता है, धर्म-अधर्म की मनमानी अवधारणाएं निर्धारित करता है। जबकि अष्टावक्र का कहना है कि मानव का स्थूल शरीर आत्मा का बाह्य स्वरूप है, जो मिथ्या है। अष्टावक्र की दृष्टि में मानव वास्तव में आत्मा है, जिसका सुख-दुख या धर्म-अधर्म से संबंध नहीं। वह राजा जनक से स्पष्ट कहते हैं–'तू परम आत्मा है और आत्मा कर्ता या भोक्ता नहीं होती, वह सर्वदा मुक्त होती है। तू भी जब शरीर की अनुभूति से मुक्त होकर स्वयं को आत्मा मान लेगा, तब सर्वथा मुक्त हो जाएगा। जब तक तू **आत्मा** पर विश्वास नहीं करेगा, तेरा **शरीर** तुझे निरंतर दिग्भ्रमित करता रहेगा।'

स्थिति यह है कि मानव अपने स्थूल शरीर को प्रमुखता देता है और आत्मा की अवहेलना करता है। परिणामतः वह कर्ता और भोक्ता का पात्र बनता है, सुख-दुख और धर्म-अधर्म की मानसिक उलझनों में घिर जाता है और अंत में उद्वेलित होकर मुक्ति की कामना करता है।

यदि मानव इस चिरंतन सत्य का साक्षात्कार कर ले कि वह आत्मा है, आत्मा से पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं तो कल्पित सुखों-दुखों से स्वतंत्र होकर सदा-सदा के लिए आत्मा की तरह मुक्त हो जाएगा।

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।।७।।

भावार्थः एक तू ही सबका दृष्टा है और सर्वदा मुक्त रहता है, किंतु तू स्वयं को दृष्टा न मानकर अन्य को दृष्टा मानता है और सांसारिक बंधनों में फंसता है।

विवेचनाः मानव सोचता है कि शरीर की सत्ता आत्मा और परमात्मा की सत्ता से भिन्न है, **मैं** दृष्टा नहीं, दृष्टा तो **कोई और** है, जबकि अष्टावक्र मानते हैं कि मानव ही दृष्टा है, आत्मा है, परमात्मा है और ब्रह्म स्वरूप है। जो इस सत्य से परिचित हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत जो मानव स्वयं को परमात्मा का स्वरूप नहीं मानता, अन्य को दृष्टा मानता है, वह सांसारिक बंधनों में जकड़ जाता है।

सांसारिक बंधनों में जकड़ा मानव इस सत्य से कभी परिचित नहीं हो पाता कि वही सबका दृष्टा है, वह आत्मा व परमात्मा है। उसे मायावी सांसारिक बंधन सुखद प्रतीत होते हैं, वह कभी सुखों की तलाश में भटकता है तो कभी दुखानुभूति से पीड़ित होता है। वह सोचता है, परमात्मा ही सबका दृष्टा है और उसी की इच्छानुसार उसका जीवन परिचालित होता है। वह परमात्मा के दंड से सदैव भयभीत रहता है, स्वर्ग-नरक की चिंता में समस्त जीवन व्यतीत करता है और एक क्षण भी जीवन के सार्थक मूल्यों के सान्निध्य में नहीं रह पाता। भय, भोग-विलास और भ्रम से मानव कभी मुक्त नहीं हो पाता।

जबकि अष्टावक्र का स्पष्ट कथन है कि **मानव** ही दृष्टा है, वही आत्मा और परमात्मा है, वही नियंता और असीम है, वही विराट और अनादि है। कोई **बाहरी शक्ति** अथवा **ईश्वर** अपनी इच्छानुसार उसका संचालन नहीं करता। जब वह स्वयं में आत्मा-परमात्मा की प्रतीति करेगा तो निर्भय हो जाएगा, किसी बाहरी शक्ति या ईश्वर के दंड की चिंता उसे नहीं सताएगी। आत्मा वस्तुतः परमात्मा भय और चिंता से मुक्त होती है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'यदि तू मुक्ति चाहता है तो स्वयं को

२-७-८]

सबका दृष्टा मान, किसी अन्य को दृष्टा मानेगा तो भ्रम और बंधन से कभी मुक्त नहीं पाएगा।'

इसका अर्थ यही है कि मानव की वास्तविकता शरीर में नहीं, आत्मा में है, आत्मा ही सबकी दृष्टा है, यानी मानव ही सबका दृष्टा है और मुक्त है। हां, इसके विपरीत यदि मानव स्वयं को शरीर मानेगा तो हीन हो जाएगा और सर्वदा बंधनों में जकड़ा रहेगा।

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहंकर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखीभव॥८॥

भावार्थ: 'मैं कर्ता हूं,' इस अहंकार के निपट काले सर्प से तू दंशित है। **'मैं कर्ता नहीं हूं,'** इस विश्वास का अमृत पीकर तू सुखी रह।

विवेचना: जितने महापुरुष और ऋषि-मुनि हुए हैं, सबने एक स्वर में अहंकार की निंदा की है। मानव के पतन में अहंकार का प्रमुख योगदान है। दर्प और अहंकार में मानव समस्त उदार मूल्यों को त्याग देता है और स्वार्थसिद्धि के लिए छल, कपट, असत्य और षड्यंत्रों का सहारा लेता है।

अहंकार ऐसी अहितकारी भावना है, जो मानव को यह सोचने का लेशमात्र अवसर भी प्रदान नहीं करती कि वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप है, आत्मा है, परमात्मा है।' मैं कर्ता हूं'—इस उद्घोषणा से सिद्ध होता है कि उसे अहंकार के काले सर्प ने डंसा है। यदि इस अहंकार से पीड़ित न होता और विनम्रता से यह कहता कि 'मैं कर्ता नहीं हूं' तो इस विश्वास के अमृत को पीकर वह सदैव सुखी रहता।

अहंकार मानव तभी करता है, जब वह शारीरिक इच्छाओं से अभिभूत होता है। शरीर की इंद्रियां ही उसे **'मैं'** और **'मेरा'** के आत्मघाती मायाजाल में लपेटती हैं। अहंकार में उसे यह भी याद नहीं रहता कि एक दिन मृत्यु के आगे वह घुटने टेक देगा, जबकि उसकी आत्मा अजर-अमर रहेगी।

अष्टावक्र मानते हैं कि अहंकार त्यागने के बाद ही मानव की चेतना जाग्रत होती है, तब वह स्वयं को शरीर नहीं आत्मा मानता है। आत्मा कभी नहीं कहती कि मैं कर्ता हूं, या भोक्ता हूं अथवा दृष्टिगोचर हूं। वह शरीर की तरह सूक्ष्म और सीमित नहीं अपितु विराट और असीम है। आत्मा की प्रतीति होते ही मानव का अहंकार कपूर की भांति विलीन हो जाता है और वह विनम्रता की प्रतिमूर्ति बन जाता है। विनम्रता को अहंकार कभी स्पर्श नहीं कर सकता। विनम्रता सदैव इस विश्वास का अमृतपान करती है कि मैं कर्ता नहीं हूं और यह विश्वासरूपी अमृत उसे सुख से परिपूर्ण करता है। यहां सुख का अर्थ है, मानव-मुक्ति। जो मानव आत्मा का साक्षात्कार करता है, वह मुक्त हो

जाता है। इसके विपरीत जो मानव 'मैं कर्ता हूं' के अहंकार के निपट काले सर्प से दंशित है, वह सदैव जीवन-मरण के चक्र में ही फंसा रहता है।

अहंकारी मानव को अष्टावक्र किसी प्रकार की योग-साधना या प्रायश्चित का विधान नहीं बताया है। उनका मात्र कहना है कि आचरण बदलो, निरभिमानी बनो। अहंकार के काले सर्प से दंशित होकर **'मैं कर्ता हूं'** का मिथ्याभिमान करोगे तो तुम्हारा नाश हो जाएगा जबकि **'मैं कर्ता नहीं हूं'** की उद्घोषणा तुम्हारा कल्याण करेगी। इस विश्वास का अमृत तुम्हें मुक्ति के पथ पर अग्रसर कर देगा।

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहन वीतशीकः सुखीभव॥९॥

भावार्थः 'मैं एक विशुद्ध बोध हूं,' यह ऐसी निश्चय रूपी अग्नि है जिसमें गहन अज्ञान को भस्म कर तू शोक मुक्त होकर सुखी रह।

विवेचनाः जब तक अज्ञान है, मानव भ्रम के भंवर से कभी उबर नहीं सकता। यह अज्ञानता ही है कि मानव अहंकार करता है, मिथ्या सुख-दुख से अभिभूत होता है, भौतिकता के प्रति आकर्षित होता है और अभिलाषाओं की अंधेरी गुफा में विचरण करता है। अंत में जब वह मृत्यु के निकट पहुंचता है तो पाता है कि उसे तो किसी प्रकार की उपलब्धि नहीं हुई, उसकी बंद मुट्ठियां उसी प्रकार रिक्त हैं जैसी जन्म के अवसर पर थीं।

ऐसा अज्ञानी मानव बारंबार जन्मता है और बारंबार मरता है, उसकी मुक्ति के समस्त द्वार बंद हो जाते हैं। प्रत्येक जन्म में अभिलाषाएं उसके ज्ञान को कुंठित करती हैं, प्रत्येक मृत्यु पर उसकी रिक्त मुट्ठियां उसके अज्ञान का उपहास करती हैं।

अष्टावक्र का विश्वास है कि मानव जब तक ज्ञान का वरण नहीं करेगा, तब तक उसकी मुक्ति संभव नहीं। तो मुक्ति के लिए मानव क्या करे? अष्टावक्र का इस विषय पर सीधा-सा उत्तर है कि अज्ञान को अग्नि में जलाकर भस्म कर दे।

यह सामान्य अग्नि नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं-'मानव को विश्वास करना चाहिए कि वह **शरीर** नहीं, **पदार्थ** नहीं, **जाति** नहीं, बल्कि विशुद्ध **बोध** है, **चेतना** है, **आत्मा** है। मानव जब स्वयं के बारे में ऐसा निश्चय करेगा तो इसी निश्चय रूपी अग्नि में उसका गहन अज्ञान जलकर भस्म हो जाएगा। यही अज्ञान उसे पग-पग पर विषयगामी बनाता है, जबकि उसे लगता है कि वह सीधी और सही राह पर चल रहा है। ऐसे विध्वंसक अज्ञान को भस्म

करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यह मानव-मुक्ति के पथ को अवरुद्ध करता है।

विशुद्ध बोध से संपृक्त मानव विशुद्ध आत्मा का रूप धारण कर लेता है, ज्ञान के आलोक में उसका कायाकल्प हो जाता है, सुख की अनुभूति उसे विभोर कर देती है और मुक्ति की अनुभूति आह्लादित।

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनंदपरमानंदः स बोधस्त्वंसुखंचर॥१०॥

भावार्थः यह विश्व रस्सी में कल्पित सर्प की भांति प्रतीत होता है। वस्तुतः तू बोध है, अतः आनंद परमानंद की अनुभूति करते हुए सुखमय विचरण कर।

विवेचनाः यह विश्व क्या है? क्या यह रस्सी में सर्प की भांति कल्पना मात्र है? अष्टावक्र कहते हैं-'विश्व भले ही सर्प की भांति दृष्टिगोचर हो, किंतु यह रस्सी ही है। यह तो देखनेवाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। मानव विश्व को रस्सी में सर्प की भांति कल्पित मान लेता है। इसका अर्थ यह नहीं कि विश्व का अस्तित्व नहीं, निस्संदेह विश्व कल्पना नहीं है, अगोचर नहीं है, किंतु वह शाश्वत नहीं है, अनित्य है। विश्व में रहकर मानव वास्तविक सुख व आनंद की उपलब्धि नहीं कर सकता।

यह आनंद और सुख क्या है? जो भौतिक उपलब्धियां सुख और आनंद देती हैं, वे चिरस्थायी नहीं होती। मानव की अभिलिप्साएं निरंतर बढ़ती जाती हैं और वह उनके व्यामोह में अधिक गहराई में उतरता जाता है। मानव भूल जाता है कि सुख व आनंद भौतिक अवदानों से प्राप्त नहीं होता, इसका स्रोत तो मानव के अंतस में ही है। इसके लिए उसे यत्र-तत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। वास्तविक **सुख** और **आनंद** पाने के लिए मानव स्वयं को विशुद्ध **बोध** का स्वरूप माने तो उसके समस्त दुखों व कष्टों का निवारण हो जाएगा।

विश्व को रस्सी में कल्पित सर्प की भांति मानकर उसके अस्तित्व से आंख मूंदना अज्ञानता है। मानव रस्सी को सर्प मान लेता है, जबकि वह मात्र रस्सी है, और उसे सर्प मानने का कारण है मानव का भय। इसी भय ने अनेक आधारहीन स्तंभ खड़े कर रखे हैं। उन्हीं पर उसने अपना वैचारिक विश्व टिका रखा है। किसी का विचार है कि यह गाय के सींग पर टिकी है, कोई कहता है इसका सृजन ब्रह्मा ने नहीं किया, तो किसी का कथन है यह स्वनिर्मित है।

विश्व ने मानव को क्या नहीं दिया? आश्रय, आहार, वस्त्र, संपदा तथा

अन्योन्य भौतिक सुख-सुविधाएं। इन्हीं को पाने की होड़ में मानव लिप्त है, उसे प्रतीत होता है कि जितनी अधिक मात्रा में वह भौतिक सुख-सुविधाएं बटोरेगा, उतना ही सुख का उपभोग करेगा। यही उसका अज्ञान है। यदि भौतिक सुख-सुविधाएं उसे सुखी बना सकतीं तो वह निश्चिंत होता, उसके चेहरे पर परम संतुष्टि का ओज होता, जबकि वह आज भी व्याकुल और विमूढ़ है। इसका कारण यही है कि मानव सोचता है कि वह शरीर मात्र है, जबकि वह बोध है, आत्मा है।

आत्मा को इससे कोई प्रयोजन नहीं कि विश्व क्या है, रस्सी है या सर्प, अनित्य है या शाश्वत। विश्व का अपना अस्तित्व है, भले ही वह क्षणभंगुर हो। वह दृष्टिगोचर है भले ही उसका सीमित भविष्य हो। आत्मा को विश्व की भौतिक सुख-सुविधाओं की रुचि भी नहीं सताती। वह विशाल, विराट और तटस्थ होती है। मानव जब आत्मावत हो जाता है, उसे वास्तविक आनंद व परमानंद की उपलब्धि होती है।

अष्टावक्र इसी कारण राजा जनक को परामर्श देते हैं—'तू विशुद्ध बोध और आत्मावत हो जा, फिर आनंद-परमानंद सिद्ध करते हुए सुखपूर्वक विचरण कर।

मुक्ताभिमानीमुक्तोहिबद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीहसत्येयंयामतिः सागतिर्भवेत्॥११॥

भावार्थः जिसमें मुक्ति की गौरव भावना (अभिमान) होती है, वह मुक्त है, जिसकी गौरव भावना बद्ध होती है, वह बद्ध होता है। यह किंवदंती सत्य ही है कि जैसी मति वैसी गति।

विवेचनाः निस्संदेह मानव की जैसी मति होती है, वैसी ही गति वह पाता है। वह जिस प्रकार का सोच-विचार करता है, उसकी क्रियाएं तदनुसार संचालित होती हैं।

दीन-हीन मानव कभी भी संपन्नता की कल्पना नहीं कर सकता, वह अपने चतुर्दिक निर्धनता ही देखता है। यदि वह संपन्नता की कल्पना करे और मन में यह दृढ़ निश्चय करे कि वह निर्धनता के विरुद्ध संघर्ष करेगा और एक दिन संपन्नशाली बनेगा तो वह अपने प्रयास में सफल हो सकता है।

अष्टावक्र का विश्वास है कि मानव स्वयं को अपने विचारों के अनुकूल ही बनाता या बिगाड़ता है। मानव के जैसे **कर्म** होते हैं, वैसे ही वह **फल** प्राप्त करता है। वह सात्विक है तो शीलता उसका प्रधान गुण होगा, अहंकारी है तो उसका दर्प उसे जीवन की वास्तविकताओं से बहुत दूर कर देगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि मानव की मति ही उसकी गति का निर्धारण करती है। यदि मानव दृढ़ता से निश्चय करे कि वह मुक्त है तो यह अवधारणा सचमुच उसे मुक्त कर देगी। यदि मानव यह मानता रहे कि वह बद्ध है तो उसे बद्ध होने से कोई नहीं बचा सकता। बचा सकता है तो स्वयं उसकी धारणा, भावना और स्वाभिमान।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई अहंकारी दृढ़ता से यह सोचे कि वह मुक्त है तो उसे मुक्ति मिल जाएगी। मुक्ति की पहली अनिवार्यता ही यह है कि मानव निर्मलमना हो। अहंकारी नित्य 'बद्ध' होता है, क्योंकि वह विषय-वासनाओं से बद्ध और लिप्त होता है।

जो मानव आत्मावत होता है, वही मुक्त है, क्योंकि वह ज्ञानी है। अज्ञानी कभी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह साक्षात शरीर मात्र है, आत्मा से उसका साक्षात्कार नहीं होता, अत: वह मुक्त भी नहीं हो सकता।

यही कारण है कि अष्टावक्र राजा जनक को परामर्श देते हैं—'अपनी मति में गौरव भावनाओं का संचार कर, तभी तेरी गति भी गौरवान्वित होगी—अर्थात मुक्ताभिमानी बनोगे तो मुक्ति मिलेगी, बद्धाभिमानी बनोगे तो बद्ध ही रहोगे।'

आत्मासाक्षीविभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असंगोनिःस्पृहः शांतोभ्रमात्संसारवानिव॥१२॥

भावार्थ: आत्मा साक्षी, विराट, पूर्ण, एक, मुक्त, चेतना, क्रियाहीन, असंग, निस्पृह और शांत है, किंतु भ्रमवश यह सांसारिक प्रतीत होती है।

विवेचना: अज्ञानी मानव सोचता है कि **आत्मा** कुछ नहीं, उसका **शरीर** ही सबकुछ है, वही दृष्टा है, शरीर जो चाहे, उसे सिद्ध कर सकता है, वह शक्तिशाली है। किंतु यह उसका भ्रम होता है कि वह अपने सांसारिक रूप को ही पूर्ण और विशाल मानता है, जबकि शरीर की क्षमताएं सीमित और बद्ध हैं।

अष्टावक्र की मान्यता है कि आत्मा की अवहेलना कर शरीर को सर्वोपरि मानना मानव की अज्ञानता है। उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि आत्मा का कोई पृथक अस्तित्व है। वस्तुत: मानव स्वयं आत्मा है—**वह** आत्मा से है, **आत्मा** उससे नहीं। मानव ही आत्मा स्वरूप है, उससे भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है। शरीर की सीमाओं से निकलकर आत्मा को स्वयं में समाहित होने की अनुभूति होते ही मानव आत्मावत् हो जाता है। उसे आत्मा का आह्वान करके अपने अंदर समाहित करने की आवश्यकता नहीं, उसे तो बस याद करना है कि वही आत्मा है—यह ज्ञान उसे आत्मा की तरह विराट और विशाल बना देता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'आत्मा साक्षी है, वही सबका सूक्ष्म अवलोकन करने में सक्षम है। तू जिन चक्षुओं से देखता है, वे वास्तविकता नहीं देख पाते, जबकि वास्तविक दृष्टा आत्मा है, वह सत्य देखती और सत्य अनुभूत करती है। आत्मा तेरे शरीर की क्षमताओं की भांति सीमित परिधि में नहीं विचरता, वह असीम, व्यापक और विराट है। वह अगोचर है, किंतु उसकी उपस्थिति प्रत्येक स्थान पर है, इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं। वह अपने आप में संपूर्ण है, वह शरीर की तरह पंच तत्त्वों का समूह नहीं, उसे खंड-खंड में विभक्त नहीं किया जा सकता, उसकी संपूर्णता ही उसे परामात्मा बनाता है। आत्मा एक है, विकल है, वह शरीरों की तरह अनेक नहीं है। एक आत्मा से ही आबद्ध है समस्त शरीर। वह मुक्त है, उसे शरीर की तरह बद्ध करना नितांत असंभव है। आत्मा चेतना है, उसके अपने अंदर होने की प्रतीति करते ही तेरी चेतना भी जाग्रत हो जाएगी। जो मानव आत्मा हो जाता है, वही चैतन्य स्वरूप हो जाता है। आत्मा क्रियाहीन है, इसलिए निर्मल है, शरीर क्रियाशील है, इसलिए विषय-वासनाओं में लीन है। आत्मा असंग है, जबकि शरीर के संगी-साथी हैं, इसलिए वह लोभ, मोह, मद और माया से ओतप्रोत है–संगी-साथी मानव की मुक्ति में सबसे बड़े बाधक हैं, असंग बनकर ही मानव आत्मा की भांति मुक्ति की अनुभूति कर सकता है। मानव प्रतिपल इच्छाओं के चक्रव्यूह में फंस जाता है, और उसके बाहर निकलने के समस्त मार्ग बंद हो जाते हैं, जबकि आत्मा निस्पृह है, उसे किसी प्रकार की इच्छा विचलित नहीं करती। वह लोभ, मोह, मद और माया से अछूती है, यही कारण है कि वह शांत है, संतुष्ट है, भयमुक्त है।

किंतु हे जनक! भ्रमवश आत्मा सांसारिक प्रतीत होती है। लेकिन आत्मा सांसारिक नहीं, सांसारिक तो मानव है, उसके शरीर की क्रियाएं हैं। क्रियाएं ही उसमें सांसारिक भोग-विलास की अभिलाषाएं जाग्रत करती हैं। आत्मा का क्रियाओं और भोग-विलास से कोई संबंध नहीं, क्योंकि वह क्रियारहित और इच्छारहित है। अतः हे जनक! मुक्ति चाहता है तो आत्मस्वरूप बन, बोध को हृदयंगम कर।

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
अभासोऽहंभ्रमंमुक्त्वाभावंबाह्यमथांतरम्॥१३॥

भावार्थः तू कूटस्थ, विशुद्ध बोध और अद्वैत आत्मा का चिंतन कर, यह भ्रम त्याग दे कि तू आभामय है, ऐसे भावों को अंदर-बाहर स्थान मत दे।

विवेचनाः मानव सोचता है वह आभावान है, उसकी आंखों में उज्ज्वलता

है और चेहरे पर ओज। उसमें चमत्कारी शक्तियां निहित हैं और किसी को भी सम्मोहित करने में वह असफल नहीं हो सकता। वस्तुत: इस प्रकार सोचना मानव का अंहकार है। वह दर्प और अभिमान को स्वयं अपराजेय और अप्रतिम मान लेता है। जबकि वास्तविकता यह है कि वह भ्रम का शिकार है, स्वयं को ही धोखा देता है और असत्य के कारागार में आबद्ध कर लेता है।

यह शारीरिक आभा, उज्ज्वल आंखें और ओजपूर्ण चेहरा कितने दिन तक उसका साथ देगा? एक दिन उसकी शक्ति क्षीण और जर्जर हो जाएगी और अपराजेय और अप्रतिम का भाव क्या शेष रहेगा? शरीर क्षणभंगुर है, समस्त चराचर नश्वर है, उसी प्रकार मानव की आभा भी अक्षुण्ण नहीं, उनका नाश अवश्यंभावी है। वृद्धावस्था में मानव जब जीर्ण-क्षीण काया लेकर दूसरों का सहारा लेकर जीने को विवश होता है, तब उसे अपने अहंकार की निरर्थकता का बोध होता है। ऐसी स्थिति आने से पूर्व उचित यही है कि वह आरंभ में अपने भ्रमों से मुक्त होकर सार्थक जीवन जिए, तब वह बोधस्वरूप हो जाएगा और आत्मा की भांति मुक्त और निस्पृह भी।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'हे शिष्य! **दर्प** और **अहंकार** की भावनाएं विनाशक हैं, यह तेरा नाश कर देंगी। इस भ्रम में मत पड़ कि तू आभावान और तेजोमय है। ऐसे अभिमानी जीव का पतन निश्चित है। उसे अपनी मुक्ति की आशा त्याग देनी चाहिए। जो ईर्ष्या, मोह और दर्द से पाशबद्ध है, उसकी मुक्ति कैसे संभव है, उसका तो सारा जीवन ही कामनाओं और लिप्साओं का पीछा करने में ही व्यतीत हो जाता है। वह तो मुक्ति जैसी विशद भावना से ही अपरिचित होता है। उसकी एकमात्र यही नियति हो जाती है कि वह बार-बार जन्म ले और बार-बार मरता रहे। इस जन्म-मरण के अनवरत चक्र से जो मुक्त हो जाता है, वही आत्मा का स्वरूप धारण कर लेता है।'

'हे राजन्! यह आत्मा तेरे अंदर ही है, तू ही आत्मा है, उसके आगमन की प्रतीक्षा मत कर, वह तो आई हुई है। बस, उसकी तू अपने अंदर प्रतीति कर। ऐसा तभी संभव है, जब तू निरभिमानी हो जाएगा, अपनी आभा, ओज व रूप-रंग पर इतराएगा, भ्रमों को तज कर अंदर-बाहर से सात्विक हो जाएगा। तदुपरांत जब तू अडिग, अटल, तथा दृढ़ (कूटस्थ) होकर बोध, अद्वैत, आत्मा का चिंतन करेगा तो तेरे ज्ञान-चक्षु खुल जाएंगे और उनमें से प्रकट होनेवाली वास्तविक उज्ज्वलता में तुझे आत्मस्वरूप का ज्ञान होगा। यही ज्ञान तेरी मुक्ति है।'

अष्टावक्र ने राजा जनक को बोध व आत्मा के अतिरिक्त अद्वैत का चिंतन

करने का भी परामर्श दिया है। अष्टावक्र अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक थे। द्वैतवादी विचारधारा जीव और आत्मा-परमात्मा की पृथक सत्ताओं पर विश्वास रखती है, जबकि अष्टावक्र ने इनको एक-दूसरे के पूरक व एक-दूसरे में समाहित एक सत्ता की संज्ञा दी। उनका कहना है कि जीव और आत्मा को अलग-अलग मानने से ही अनेक भ्रमों की सृष्टि होती है। जीव को स्वयं आत्मा की प्रतीति नहीं होती। उसे लगता है कि आत्मा की खोज वन-प्रांतरों में भटककर की जा सकती है, जबकि आत्मा उसी में निहित है, वह स्वयं आत्मा का रूप होता है। बस, इसकी अनुभूति होते ही उसके सारे भ्रमों का अंत हो जाता है और वह आत्मस्वरूप और विशुद्ध बोध-सिद्धि कर लेता है।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहंज्ञानखंडेनतंनिष्कृत्यसुखीभव॥१४॥

भावार्थ: वत्स! तू चिरकाल से अपने देहाभिमान के पाश से आबद्ध है। पाश को काटे बिना मुक्ति नहीं, अत: इसे '**मैं बोध हूं**' के ज्ञान से काटकर सुखी रह।

विवेचना: अष्टावक्र ने राजा जनक को वस्तुनिष्ठ परामर्श दिया है—'तू चिरकाल से देहाभिमान के पाश बंधा हुआ है।'

आज भी चतुर्दिक यही स्थिति है। जहां तक दृष्टि जाती है, वहां दूर-दूर तक ऐसे ही व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं, जो सदैव देहाभिमान से मुग्ध और मोहित होकर मात्र देहधर्मी बन गए हैं। अर्थात उन्हें देह-सुख के अतिरिक्त किसी अन्य ध्येय की उपयोगिता का ज्ञान ही नहीं है।

देहधर्मी मात्र देह की आवश्यकताओं के निमित्त जीता है। वह परम स्वार्थी होता है। स्वादिष्ट आहार, उत्तम परिधान और विश्राम से वह देह की प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखता है। शरीर कैसे स्वस्थ, बलशाली व आकर्षक-सुंदर रहे, यही उसकी प्रमुख चिंता होती है। देह-शुचिता ही उसका परम लक्ष्य होता है, भले ही उसके कर्म और विचार कितने ही अशुभ क्यों न हो। अपनी काया के दर्प से वह भूल जाता है कि न यह देह चिरस्थायी है और न स्वयं का जीवन। किंतु जब तक जीवन है, देहाभिमान उसे इस सत्य की ओर आंखें उठाकर देखने का अवसर भी नहीं देता। उसका समस्त जीवन मिथ्या मोहमाया में व्यर्थ बीत जाता है। भोग-विलास का छद्म सुख बड़ा ही घातक है, जो व्यक्ति को आत्मा की प्रतीति नहीं होने देता। आत्मज्ञान के अभाव में देहाभिमान का पाश उसे जकड़ लेता है।

अष्टावक्र को मानव की इस हीन भावना का बोध है। वे जानते हैं कि

उसकी अवनति का प्रमुख कारण यही देहाभिमान है। देहाभिमान के कारण वह जीवन की अन्य महती सचाइयों से साक्षात्कार नहीं कर पाता। देहाभिमान से पीड़ित मानव मुक्ति की कामना कैसे कर सकता है? करता भी है तो ऐसी कामना पूर्ण नहीं हो सकती? अतएव मुक्ति की कामना लेकर आए राजा जनक से अष्टावक्र कहते हैं–'तू कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है, वत्स? तूने अपने चतुर्दिक जिन भ्रमों का अभेद्य आवरण डाल रखा है, पहले उससे बाहर निकल। तू अब तक न जाने किस मिथ्या लक्ष्य के पीछे दौड़ता रहा है। देहाभिमान से तेरा तन-मन कलुषित हो चुका है, सर्वप्रथम उसकी परिशुद्धि का प्रयास कर। देहधर्म का परित्याग करने के उपरांत ही तू सत्य के पथ पर चलने की योग्यता प्राप्त कर सकता है।'

'सर्वप्रथम तू देहाभिमान को तिलांजलि दे। तुझे पता नहीं, तेरी अनभिज्ञता में देहाभिमान ने चिरकाल से तुझे अपने कठोर पाश में बांध रखा है। पाशबंधन बहुत कठोर अवश्य है, किंतु ऐसा कठोर भी नहीं कि इसे तोड़ा ही न जा सके। तथ्य यह है कि तूने इसे तोड़ने का प्रयास ही नहीं किया।'

'देहाभिमान होता ही ऐसा प्रबल है कि इसके पाश को तोड़ने का कोई प्रयास नहीं करता। अज्ञानियों को देहसुख से बढ़कर और कुछ भला नहीं लगता, वे प्रत्येक नए दिन के साथ इसमें अधिक गहराई से उतरते चले जाते हैं और कहते हैं–'देह ही सबकुछ है, देह का पोषण ही जीवनोद्देश्य है, देह के अतिरिक्त किसी और का अस्तित्व नहीं, आत्मा-परमात्मा के बारे में अभी से सोचने का क्या लाभ? जब तक जीवन की कामनाएं उद्दीप्त हैं, तब तक सुख भोग कर लो, फिर आत्मा की सुध लेंगे।'

अष्टावक्र कहते हैं–'यह भ्रामक सोच ही उसे जीवनभर मूढ़ बनकर जीने को विवश करता है। वह आत्मा को शरीर से अलग मानता है, जबकि **शरीर** में ही **आत्मा** है, और **आत्मा** में ही **शरीर** है। आत्मा की सुध तू क्या लेगा, वह अपनी सुध स्वयं आप करता है, तेरी सुध भी करता है। स्वयं तू ही आत्मा है, देहाभिमान के वशीभूत तू इस सत्य को पहचान नहीं रहा है। देहाभिमान के पाश से बंधन-मुक्त हुए बिना तेरी गति नहीं। बहुत हो चुका, तू चिरकाल से इस पाश से बंधा हुआ है, अब इसे दृढ़ता से काट डाल। इसे काटने के लिए तुझे कुछ नहीं करना। बस, अपने बोध को जाग्रत करना है। 'मैं बोध हूं', इसका उद्घोष कर। यह उद्घोषणा ज्ञान की तलवार बन जाएगी। इस तलबार से पाश काटकर मुक्त हो जा।'

अष्टावक्र की यह सूक्ति हमें बताती है कि देहाभिमान हमें देह तक

सीमित कर देता है, देह की आत्मा से संपृक्तता की प्रतीति नहीं होने देता, देह और आत्मा के संबंध को विलग कर देता है; और यही से मानव दिग्भ्रमित हो जाता है, स्वयं को सर्वेसर्वा मान बैठता है। यह अहं बोधशून्य और आत्माशून्य कर देता है। बोध और आत्माविहीन मानव का अध्यात्म विकास नहीं होता, उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, अत: मुक्ति के द्वार भी बंद हो जाते हैं। देह और आत्मा की संपृक्तता ही मानव-मुक्ति की प्रथम अनिवार्यता है।

नि:संगोनिष्क्रियोऽसित्वंस्वप्रकाशोनिरंजन:।
अयमेव हि ते बंध: समाधिमनुतिष्ठसि॥१५॥

भावार्थ: तू नि:संग है, निष्क्रिय है, स्वयं प्रकाश और निर्दोष (निरंजन) है, इनकी प्राप्ति के लिए तू जो समाधि का अनुष्ठान करता है, वही तेरा बंधन है।

विवेचना: मोक्ष और मुक्ति के लिए पतंजलि आदि अनेक ऋषि-मुनियों ने समाधि का विधान बताया है। उनका कथन है कि सांसारिक वृत्तियां त्याग कर वन-प्रांतर के एकांत में समाधिष्ठ होने पर मोक्ष निश्चित है। इस प्रकार तुम आत्मा से साक्षात्कार करते हो।

अष्टावक्र मोक्ष और मुक्ति के लिए समाधि के अनुष्ठान का विरोध करते हैं। समाधि उनकी दृष्टि में बंधन मात्र है। समाधि कर्म है, कर्म से मोक्ष नहीं मिलता, आत्मा से साक्षात्कार नहीं होता है, कर्म से सांसारिक फल मिलता है। सांसारिक प्राणी जैसा **कर्म** करता है, उसको वैसा ही **फल** प्राप्त होता है।

अष्टावक्र मानते हैं कि आंतरिक वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर जो लोग समाधि और हठयोग का परामर्श देते हैं, वे मिथ्या धारणाओं को बल देते हैं। अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'तू समाधियों का अनुष्ठान मत कर। यह ऐसा बंधन है, जिसका पाश तुझे आत्मा की प्रतीति नहीं होने देगा। तू मोक्ष-प्राप्ति की कामना क्यों करता है, यह तो संसार से, उत्तरदायित्वों से तथा कर्त्तव्यपरायणता से पलायन है। मोक्ष की कामना वही करता है, जो भयभीत होता है, जो दोष और पाप की आशंका से त्रस्त होता है। जबकि तू पापी नहीं, दोषी नहीं, फिर क्यों भयभीत है। मोक्ष की कामना फिर क्यों करता है? तू तो साक्षात आत्मा है, जो सर्वदा मुक्त है, उसे मोक्ष की आवश्यकता नहीं होती। तू आत्मा से अलग नहीं, आत्मा तुझमें है, तू उसमें है। समाधि द्वारा आत्मा से साक्षात्कार की कल्पना करना व्यर्थ है, यह भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। तू स्वयं में आत्मा की अनुभूति कर। वह निसंग, निष्क्रिय है, स्वयं प्रकाश और निर्दोष है, तू आत्मा से विलग नहीं, इसलिए तू भी निसंग, क्रियाहीन, स्वयं प्रकाश और

निर्दोष है, फिर आत्मा से साक्षात्कार के लिए समाधि का क्या प्रयोजन! जब आत्मा से दोष नहीं होता तो तू कैसे दोषी हो सकता है। शारीरिक दोषों और पापों को भूल जा। बस, इतना याद रख कि तू साक्षी है, बोध है और आत्मा है।'

निष्कर्ष यह है कि आत्मा स्वयं में शुभ, शुद्ध और मुक्त है। अतएव समाधि के अनुष्ठान से आत्मा का न कल्याण होता है और न अकल्याण। मानव को आत्मज्ञान हो जाए तो उसके लिए समाधि का अनुष्ठान निष्प्रयोज्य हो जाता है।

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम्॥१६॥

भावार्थः तुझमें विश्व व्याप्त है, तुझमें संपूर्ण विश्व समाहित है। तू छल-प्रपंच से रहित शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, अतः चित्त को क्षुद्र प्रवृत्तियों से बचाकर रख।

विवेचनाः अष्टावक्र का विचार है कि संपूर्ण विश्व आत्मा में समाहित और व्याप्त है, चूंकि मानव भी आत्मस्वरूप है, अतः यह विश्व उसमें भी समाहित और व्याप्त है। सृष्टि मानव से भिन्न नहीं। मानव सृष्टि से भिन्न नहीं। **सृष्टि** भी एक है, **आत्मा** भी एक है, मानव भी एक है, **ब्रह्मा** भी एक है और **ब्रह्मांड** भी एक है। इन्हें अलग-अलग समझना भूल है। एकात्म में समष्टि निहित है।

इसलिए अष्टावक्र राजा जनक को परामर्श देते हैं—'तू स्वयं को आत्मा का प्रतीक मान। इसे सत्य जान कि तुझसे विश्व है, विश्व से तू है। तेरे अंतर में ही व्याप्त है सारा विश्व। न तू विश्व से पृथक है, न विश्व तुझसे पृथक है। आत्मा सर्वथा शुद्ध-बुद्ध स्वरूपा है, तू भी वही है, क्योंकि तू भी आत्मा है। अतः शुभ्रता, शुचिता और सौम्यता को अपना स्वभाव बना ले, चित्त को क्षुद्र प्रवृत्तियों से दूर रख, छल-प्रपंच रहित होकर आत्मलीन हो जा। जो व्यक्ति चित्त में क्षुद्र प्रवृत्तियों को धारण करता है, वह अज्ञानी रह जाता है, आत्मा समरूप नहीं रह जाता और उसकी मुक्ति की कामना कभी पूर्ण नहीं होती।

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धोभवचिंमात्रवासनः॥१७॥

भावार्थः तू निरपेक्ष है, निराकार है, स्व-निर्भर है, शीतल है, अगाध बुद्धि संपन्न है, क्षुब्धहीन है, अतः निष्क्रिय होकर चैतन्य मात्र बन।

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि आत्मा निरपेक्ष होती है, अर्थात न

वह इच्छा करती है, न कामनाएं। उसका कोई रंग, रूप व आकार नहीं होता, वह निराकार और विकीर्ण है। उसे कोई भय नहीं सताता, वह सदैव शीतल व शांत रहती है, चूंकि मानव भी आत्मा का ही रूप है, अतः उसमें भी यह गुण विद्यमान है।

लेकिन कठिनाई यह है कि मानव आत्मा की प्रतीति नहीं करता और अपने इन विशद गुणों से आजीवन अपरिचित ही रहता है। मानव अनन्त इच्छाओं की पूर्ति में सतत् संलग्न रहता है, उसकी एक इच्छा की पूर्ति होती है तो नई इच्छा सिर उठाती है। इच्छाओं से वह कभी मुक्त नहीं हो पाता। इच्छाएं उसे याचक बनाती हैं, दूसरों की सहायता लेने को विवश करती हैं, वह अन्य लोगों पर निर्भर होता है। यदि उसे अनुभूति हो जाए कि वह आत्मा का प्रतिरूप है तो वह भी स्व-निर्भर हो जाएगा, उसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं रहेगी। वह भी निरपेक्ष हो जाएगा, उसे भी किसी कामना की अपेक्षा नहीं रहेगी। वह अपने **देहाकार** से मुग्ध है, जबकि वह आत्मा की तरह **निराकार** होने की अनुभूति करे तो उसका स्वरूप विराट और विकीर्ण हो जाएगा, उसे किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं होगी। जब तक सांसारिक मोहमाया से स्वयं को असंपृक्त नहीं कर लेता, वह आत्मा से परिचित नहीं हो पाएगा। वह यह जान नहीं सकेगा कि आत्मा उससे दूर नहीं, उसी में आत्मा है, वह आत्मा में है, दोनों दो नहीं, एक हैं। जिस दिन मानव **एकात्म** हो जाएगा, भूख-प्यास, जन्म-मरण और शोक-मोह जैसी शारीरिक भावनाओं से रहित विशुद्ध बोध, दृष्टा और साक्षी बन जाएगा।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'तू मेरे पास ज्ञान, मुक्ति वैराग्य मार्ग की जिज्ञासा हेतु आया है तो यह निश्चित जान कि तू इच्छाओं का समूह नहीं, निरपेक्ष है। तेरा कोई आकार-प्रकार नहीं, तू निराकार है, स्व-निर्भर और शीतल है। तू अगाध बुद्धि संपन्न है, कभी क्षुब्ध नहीं होता। अतः निष्क्रिय हो जा और स्वयं को चैतन्य मात्र मान ले।'

अष्टावक्र की दृष्टि में यही आत्मस्वरूप है। मानव इसकी प्रतीति कर ले तो समस्त चराचर से उसकी मुक्ति हो जाएगी। वह विराट और विशाल आत्मस्वरूप होकर मुक्त भाव से सर्वत्र विचरण करेगा। भले ही दृष्टिगोचर न होगा, किंतु दृष्टा बन जाएगा। आत्मा स्वरूप होने का अर्थ ही परमपद की प्राप्ति है।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः॥१८॥

भावार्थः साकार कल्पनावत है, यह मिथ्या है। निराकार, निश्चल व

विश्वसनीय है, इस तत्त्व के उपदेश को जिसने समझ लिया, वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

विवेचना: मानव सोचता है, वह साकार है, अत: उसका अपना अस्तित्व है। किंतु यह उसकी भ्रामक कल्पना है, वह मिथ्या का आश्रय ले रहा है। **साकार** का अस्तित्व तो क्षणभंगुर और नश्वर है। जबकि **निराकार** निरंतर अक्षुण्ण है, वह निश्चल और विश्वसनीय है। निराकार विराट व सर्वत्र व्याप्त है, जबकि साकार सीमित और संक्षिप्त है। साकार अपनी सीमाओं से बाहर नहीं निकल सकता, जबकि निराकार किसी भी काल में कहीं भी विचरण कर सकता है। आकार का रंग, रूप होता है, निराकार रंगहीन और रूपहीन है। साकार जड़ है और निराकार चेतन। साकार के आकार में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, जबकि निराकार अपरिवर्तनशील है। साकार में विभिन्नता होती है, जबकि निराकार अभिन्न है। साकार सुख-दुख, शोक-हर्ष और जीवन-मृत्यु के झूले में झूलता है, जबकि निराकार इन सबसे मुक्त सदा अनश्वर होता है।

आज विश्व है, कल नहीं हो सकता, किंतु निराकार का अस्तित्व तब भी बना रहेगा। यह ब्रह्मांड नित्य है, अत: निराकार भी नित्य है। निराकार ही आत्मा है और आत्मा ही तुम हो। आत्मा सत्य है, इसलिए निराकार भी सत्य है, जबकि साकार मिथ्या है, और यदि आत्मा की प्रतीति नहीं करते हो तो तुम भी असत्य हो, इसलिए बार-बार मरते और जीते हो।

अष्टावक्र का मानना है कि मोक्ष पाने के लिए समाधि या अकर्मण्यता की आवश्यकता नहीं होती। यदि मानव आवागमन से मुक्त होना चाहता है तो साकार और निराकार के अर्थ को समझे। यही ज्ञान मानव को '**स्व**' से परिचित करवाएगा। मानव का 'स्व' क्या है? **आत्मस्वरूप** ही उसका 'स्व' है, बोध है, साक्षी है। उसी आत्मस्वरूप की प्रतीति मानव को मोक्ष प्रदान करती है और वह आवागमन के मायाजाल से मुक्त हो जाता है।

मानव के बार-बार जन्म-मरण का कारण ही यह है कि वह आत्मस्वरूप से विस्मृत होकर देह की सत्ता को अधिक महत्त्व देता है। वह सोचता है कि कोई अदृश्य शक्ति उसे नियंत्रित करती है, जबकि वह स्वयं अदृश्य शक्ति है। वह सोचता है कि आत्मा से उसका कोई संबंध नहीं, वह तो मरने के बाद अस्तित्व में आती है। जब कि **आत्मा** प्रत्येक क्षण उसमें होती है और **वह** प्रतिपल आत्मा में होता है।

राजा जनक को मुक्ति का रहस्य समझाते हुए अष्टावक्र कहते हैं-'यह सच है कि तू देहधारी है, स्थूल है, साकार है, पर इसका कोई महत्त्व नहीं। देह

किसी का सतत् साथ नहीं निभाती, देह तो साकार अल्पजीवी है, साकार का अंत अवश्यंभावी है। अतः साकार को मिथ्या जान और निराकार को अनंत मान। उसका न कभी अंत होता है और न कभी आरंभ। अर्थात तू भी स्वयं को निराकार मान, अपने साकार स्वरूप पर मत इतरा, आत्मस्वरूप का मान कर। साकार को सत्य और निराकार को मिथ्या मानेगा तो तेरा मोक्ष संभव नहीं। इस तत्त्व को भलीभांति हृदयंगम कर ले कि साकार मिथ्या है और निराकार निश्चल और सत्य, तभी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो पाएगा, तभी तुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

निस्संदेह मानव जब तक निराकार नहीं हो जाता, आत्मस्वरूप नहीं बन जाता, तब तक वह साकार रूप धारण कर इस पृथ्वी पर आता-जाता रहेगा और मोहमाया व रोग-शोक में फंसा रहेगा। इसलिए साकार कभी मोक्ष की कल्पना तक नहीं कर सकता।

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥१९॥

भावार्थः दर्पण में प्रतिबिंबित रूप का जिस भांति अंदर-बाहर अस्तित्व है, उसी भांति शरीर के अंदर-बाहर परमेश्वर का अस्तित्व है।

विवेचनाः परमेश्वर या परमात्मा की कोई अलग सत्ता नहीं है। उसका अस्तित्व कहीं बाहर नहीं है। उसे अन्यत्र खोजना व्यर्थ है। जिसे देखो वही परमात्मा को खोज रहा है। लोग परमात्मा को पाने के लिए पर्वतों के ऊंचे शिखरों पर चढ़ते हैं, वन-प्रांतरों में भटकते हैं, शरीर को भांति-भांति के कष्ट देते हैं, किंतु उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो पाता। कोई समाधि में लीन हो जाता है तो कोई भजन-कीर्तन में जीवन खपा देता है, किंतु वह परमात्मा के दर्शन नहीं कर पाता। जो गदगद होकर कहते हैं—उन्होंने परमात्मा के दर्शन किए हैं, वस्तुतः वे भ्रम में होते हैं, क्योंकि उन्होंने मस्तिष्क में किसी काल्पनिक आकार-प्रकार की छवि का स्वयं ही निर्माण किया होता है और उसकी भक्ति भावना में लीन हो, उसे ही परमात्मा मान लेते हैं।

परमात्मा का दर्शन कोई कैसे कर सकता है। यह संभव ही नहीं, क्योंकि परमात्मा तो निराकार है, जिसका आकार ही नहीं, उसे चर्म चक्षुओं से देखने की बात करना, स्वयं को ही धोखा देना है।

अष्टावक्र का कथन है, परमात्मा को बाहर खोजने का प्रयास करना निरर्थक है। परमात्मा तो समस्त चराचर में व्याप्त है। कण-कण में उसका अस्तित्व है। परमात्मा कहां नहीं, **मानव** स्वयं **परमात्मा** का स्वरूप है, उसके

शरीर में परमात्मा का अस्तित्व है, अतः परमात्मा को पर्वतों व अरण्यों में जाकर मत खोजो, वह तो प्रत्येक मानव के अंदर-बाहर विद्यमान है। मानव निज के साकार स्वरूप को महत्त्व न दे, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है और यही अनुभूति उसे परमात्मा स्वरूप प्रदान करती है।

किंतु दुखद स्थिति यह है कि मानव इस विराट सत्य से अनभिज्ञ है और अपने साकार स्वरूप को ही सत्य मानने की आत्महंता भूल करता है, फलतः दैहिक सुखों की उपलब्धि ही उसका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। उसे जरा-सा दुख सताए तो परमात्मा को पुकारता है। भौतिकता, दुख अथवा अभाव में वैराग्य उत्पन्न हुआ तो वह परमात्मा से मिलने की आकांक्षा में खोज अभियान आरंभ करता है। सोचता है, यही है मोक्ष और मुक्ति का एकमात्र मार्ग। इस भ्रम का परिणाम यह होता है कि एक दिन वह मर जाता है और एक दिन वह पुनः जन्म लेता है।

यदि मानव मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो वह ऐसा कदापि न सोचे कि दृष्टा कोई और है, परमात्मा का अस्तित्व मात्र आकाश की अनंत ऊंचाइयों में है। मानव को यह सत्य हृदयंगम कर लेना चाहिए कि वह स्वयं दृष्टा है, उसका नियंता कोई और नहीं, वह स्वयं है। परमात्मा मात्र आकाश की ऊंचाइयों में नहीं, सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा की कोई अलग सत्ता नहीं, मानव का सर्वांग ही परमात्मा है। यह आस्था ही उसकी मुक्ति का प्रशस्त मार्ग है।

मुक्ति की आकांक्षा से आए राजा जनक को अष्टावक्र परामर्श देते हैं—'जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंबित तेरा रूप अंदर भी है और बाहर भी, उसी प्रकार परमात्मा तेरे अंदर तो समाहित है ही, बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा की अनुभूति अपने अंदर कर, तभी मुक्ति की कामना सिद्ध हो सकेगी।'

एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे।
नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥२०॥

भावार्थः जिस प्रकार सर्व विकीर्ण एक आकाश घट के अंदर-बाहर विद्यमान है, उसी प्रकार नित्य व निरंतर ब्रह्म समस्त प्राणियों में विद्यमान है।

विवेचनाः समस्त चराचर की रचना ब्रह्म ने अपने मानस से की है, अतः सबकुछ ब्रह्ममय है। जड़ हो या जीव, ब्रह्म से कोई पृथक नहीं। ब्रह्म नित्य और निरंतर है, वह अखंड और अविनाशी है। यह सृष्टि उसी की है, उसी से है। **ब्रह्म** सृष्टि में है और **सृष्टि** ब्रह्म में। सृष्टि और ब्रह्म अविभाज्य हैं।

किंतु मानव सोचता है, सृष्टि ब्रह्म की है, अतः वही उसका नियंता व दृष्टा

है। वही इच्छानुसार सृष्टि का संचालन करता है, जीव या जड़ के क्रियाकलापों पर स्वयं उनका अधिकार नहीं।

मानव की यह अनास्था उसके पतन का कारण है? मानव कब अपनी शक्ति व आस्था से विमुख होता है? जब वह अपने आप को साकार मानता है, जब वह अपने शरीर को महत्त्व प्रदान करता है, उसे सुख और आनंद पहुंचाने वाले उपक्रम करता है। शारीरिक रूप से शक्तिवान बनने के प्रयास करता है। इस सचाई से वह सर्वथा अनभिज्ञ होता है कि शारीरिक रूप से वह भले ही अत्यंत शक्तिशाली हो जाए, जब तक आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली नहीं बनता, तब तक वह दीन-हीन है।

अष्टावक्र की दृष्टि में अध्यात्म का अर्थ यह नहीं कि मानव समाधि अथवा योग साधना का आश्रय ले। वह मात्र इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि मानव स्वयं के प्रति आस्थावान हो। इसके लिए मानव को कोई विशेष आयोजन अथवा उद्योग करने की आवश्यकता नहीं। उसे तो मात्र अपने अंतर में यह अनुभूति जाग्रत करनी पड़ेगी कि वह ब्रह्म से अलग नहीं, वही ब्रह्म है, वही दृष्टा है, वही चेतना है, वही बोध है, वही आत्मा है। मानव का आकार अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किंतु वह मिथ्या है। वह साकार नहीं, निराकार है। निराकार ही नित्य और निरंतर है, क्योंकि वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। जो मानव आत्मस्वरूप हो जाता है, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, वही अखंड और अविनाशी हो जाता है, अर्थात वह जीवन-मरण के मायाजाल से मुक्त हो जाता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'यदि तू मुक्ति पाना चाहता है तो ब्रह्मस्वरूप हो जा। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार सर्वव्यापी एक आकाश घट के अंदर-बाहर विद्यमान है, उसी प्रकार ब्रह्मा तेरे अंदर-बाहर व्याप्त है। तू ब्रह्म को अपने से अलग मत मान, ब्रह्मस्वरूप हो जा, इसी में तेरी गति है।'

❑ ❑

अहो निरंजनः शांतो बोधेऽहं प्रकृतेः परः।
एतावंतमहं कालं मोहनव विडंबितः॥१॥

भावार्थः राजा जनक कहते हैं–'यह कितने आश्चर्य का विषय है कि मैं निर्दोष (निरंजन) हूं, शांत हूं, बोध हूं और प्रकृति से अलग हूं। किंतु कैसी विडंबना है कि मैं इतने समय तक मोहग्रस्त रहा।

विवचनाः जो मानव राजा जनक की भांति इस सत्य से परिचित हो जाता है कि वह आत्मावत, दोषरहित, शांत, बोध व प्रकृति से परे है तो उसकी मुक्ति निश्चित है और उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं।

ज्ञान-चक्षु खुलना निस्संदेह सहज है, किंतु मानव ने इसे अत्यंत जटिल और असहज मान लिया है। निष्ठा और आस्था के बिना कोई भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। सत्य से वही परिचित हो सकता है, जिसमें सत्य को जानने की प्रबल आकांक्षा हो। आज मानव सत्य जानने की नहीं, भौतिक सुख साधनों की उपलब्धि में ही व्यस्त है। ऐसा मानव सत्य और ज्ञान के मार्ग पर कैसे चल सकता है।

राजा जनक के हृदय में सत्य और ज्ञान के मार्ग पर चलने की चरम उत्कंठा थी। तभी तो उन्होंने अष्टावक्र के उपदेशों को आस्था और निष्ठा से सुना, ग्रहण किया और उनके एक-एक शब्द को हृदय पटल पर अंकित कर लिया। ऐसी स्थिति में यह निश्चित है कि उनका मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि उनकी अब तक की जीवनशैली निरर्थक थी, वह देह को सबकुछ मान बैठे थे, देह की लिप्साओं और वासनाओं की पूर्ति में उनकी समस्त क्रियाएं सीमित हो गईं थीं। कितना भ्रम

[2.

पाल रखा था उन्होंने मन में, कैसा अंधकारमय था उनका मस्तिष्क। क्षणभंगुरता को ही अक्षुण्णता मान लिया, नश्वर को ही शाश्वत समझने की भयंकर भूल कर बैठे थे।

राजा जनक ज्ञान प्राप्ति के बाद चकित थे कि वह देह को ही सबकुछ कैसे मान बैठे, वह कैसे भूल गए कि देह नाशवान है। सारा जीवन अहंकार और दंभ में जीकर मोहमाया में ही फंसे रहे। एक आकांक्षा की पूर्ति होते ही दूसरी आकांक्षा सिर उठाती रही। तृष्णाओं और कामनाओं की अंधी दौड़ में ही जीवन की सार्थकता को नष्ट कर दिया। अष्टावक्र के उपदेशों का श्रवण करते हुए उन्हें इस सत्य की अनुभूति हुई कि वे अब तक मृगतृष्णा में उलझे हुए थे। वह अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु का समूह मात्र है, उनसे निर्मित उनकी यह काया ही सत्य है, जो मृत्यु के पश्चात पंच तत्त्वों में मिलकर समाप्त हो जाएगी और आत्मा का पलायन हो जाएगा–ऐसा उसका सोच था। जबकि सत्य यह है कि आत्मा का कदापि पलायन नहीं होता, मैं ही आत्मा हूं, मैं अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु से निर्मित काया नहीं, पंच तत्त्वों का चैतन्य रूप, उनका साक्षी हूं। यह भ्रम है कि मैं साकार हूं और मृत्यु के पश्चात निराकार हो जाऊंगा। मैं सतत् निराकार हूं, बोध हूं, दृष्टा हूं, आत्मा हूं। इसी सत्य पर अडिग रहकर सदैव निराकार रहूंगा, पुनः कभी देह-धारण नहीं करूंगा। आज मेरा अज्ञान दूर हुआ।

राजा जनक अष्टावक्र के उपदेशों का मर्म समझते ही आह्लादित हो जाते हैं। ज्ञान की अनुभूति होते ही वह समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं से मुक्त हो जाते हैं। उनका अहंकार और अभिमान कपूर की भांति विलीन हो जाता है। अगले पल ही वह दृष्टां हो जाते हैं, स्वयं के नियंता हो जाते हैं, वह किसी अन्य शक्ति से परिचालित नहीं हैं, स्वयं परमात्मा हैं, अपने विधाता स्वयं हैं, वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं, स्वयं आश्रय हैं। मैं आत्मा हूं, अतः मैं दोषी और अशांत कैसे हो सकता हूं। आत्मा तो स्वतंत्र और मोहरहित होती है, अतः वह न तो मृगतृष्णाओं का पीछा करती है और न उससे किसी प्रकार का दोष हो सकता है, इसलिए कभी अशांत भी नहीं हो सकती। यह जो मैं अब तक स्वयं की देह को प्रमुखता दे रहा था, समस्त बुराइयों की जड़ है। यही मानव को पतन के कगार पर खड़ा कर देती है और वह मुक्ति की कामना से तड़प उठता है, वनों और पहाड़ों की ओर गमन करता है, कष्टकारक साधनाएं करता है, फिर भी उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, इस कारण वह मुक्ति से सदैव वंचित रह जाता है। किंतु अष्टावक्र ने मेरे ज्ञान-चक्षु

खोल दिए हैं, मुझे सत्य का साक्षात्कार हो चुका है, मैं **देह** नहीं, **आत्मा** और **परमात्मा** हूं।

इस सत्य की प्रतीति होते ही राजा जनक अष्टावक्र से गदगद होकर कहते हैं—'हे मेरे गुरु, मैं आपका कृतज्ञ हूं। आज मुझे पता चला कि मैं निरंजन और निर्दोष हूं, शांत हूं, बोध हूं और प्रकृति से परे हूं, क्योंकि मैं ही आत्मा हूं, परमात्मा हूं, पंच तत्त्वों का चैतन्य स्वरूप और साक्षी हूं। किंतु मैं भी आश्चर्यचकित हूं। समझ में नहीं आता कि यह कैसी विडंबना थी जो इतनी लंबी अवधि तक मैं मोहाविष्ट रहा और सदैव निरर्थकता को ही सार्थकता का पर्याय मानता रहा। यह अंतर्दृष्टि मुझे आपने ही दी है, आप ही मेरे गुरु हैं, गुरु से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसीलिए तो गुरु को ईश्वर से भी उच्च स्थान दिया गया है, क्योंकि गुरु ही शिष्य को ईश्वर से परिचित कराता है। आपने मुझे आत्मनिष्ठ होने का महामंत्र प्रदान किया है, आप मानव की महत्ता को रेखांकित करते हैं, आपके ये विचार कितने उत्कृष्ट हैं कि मानव तुच्छ नहीं, अपितु वही आत्मा-परमात्मा है। इस सत्य की जो अवहेलना करता है, वह तुच्छ ही रहता है। हे गुरुदेव! आपने मुझे मेरी महत्ता की अनुभूति करा दी, अब मैं स्वयं अत्यंत प्रशांत और प्रबुद्ध अनुभव कर रहा हूं, मेरा इस मिथ्या जगत और भ्रामक भौतिकता से मोहभंग हो गया है।'

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा नच किंचन॥२॥

भावार्थ: जिस प्रकार मैं अपनी देह को आलोकित करता हूं, उसी प्रकार जड़ जगत को भी करता हूं। सत्य तो यह है कि सर्व जगत मेरा है अथवा इसका कोई अस्तित्व नहीं।

विवेचना: राजा जनक आगे स्वीकार करते हैं कि उन्हें देह और आत्मा के सूक्ष्म भेद का विवेक-बोध हो गया है, उन्हें यह स्पष्ट हो गया है कि जिस प्रकार मैं ही देह को आलोकित करता हूं, उसी प्रकार जगत को आलोकित करनेवाला भी मैं ही हूं। यह सर्व जगत मेरा है, अथवा इसका कोई अस्तित्व नहीं। अर्थात देह मिथ्या है, अतएव जगत भी मिथ्या है।

वस्तुत: राजा जनक को स्वयं के आत्मस्वरूप पर विश्वास हो गया है। उन्हें अपने मानव होने की सार्थकता समझ में आ गई है। आत्मज्ञान होते ही वे अहंकारहीन और निरभिमानी हो उठे हैं। आत्मस्वरूप धारण करते ही उनकी देह आलोकित हो जाती है। उन्हें प्रतीत होता है कि आत्मा अर्थात मैं ही देह को आलोकित करता हूं और जगत को भी। जगत मुझसे है, मैं जगत से हूं, मैं

कुछ भी नहीं हूं, जगत भी कुछ नहीं। **मैं** और **जगत** काल्पनिक अवधारणाएं हैं, एकमात्र आत्मा ही सबकुछ है। मुझे बोध हो चुका है कि मेरा '**मैं**' कुछ नहीं। मेरा '**मैं**' तो आत्मा है, **मैं** से आत्मा है और आत्मा से ही **मैं**। दोनों अभिन्न हैं अत: नैसर्गिक और अनश्वर है। **मैं** और **आत्मा** का एकाकार होना ही निराकार है; और निराकार होना ही मुक्त होना है।'

राजा जनक की इसी स्वीकारोक्ति में आह्लाद और आनंद की स्पष्ट झलक है। चूंकि वह आत्मस्वरूप की अनुभूति से नितांत शांत और निरंजन हो गए हैं। अब उनमें न तो कोई अभिलाषा शेष रह गई है और न ही लोभ, मोह और माया।

वस्तुत: लोभ, मोह और माया ने ही राजा जनक को कृत्रिम और भ्रामक मूल्यों का दास बना रखा था। वह '**मैं**' के अहं में विस्मृत होकर आत्मज्ञान से वंचित थे। वह सोचते थे, आत्मा और मैं एकीकृत नहीं, विभाजित हैं। मानव तो सिर्फ काया है और मरणोपरांत ही काया के प्राण आत्मा का रूप ग्रहण करते हैं। अष्टावक्र ने परम सत्य का प्रसाद दिया तो राजा जनक को स्पष्टत: विदित हुआ कि मानव के मरने के बाद आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, आत्मा तो नित्य है, चिरंतन है, शाश्वत है, उसका न जन्म होता है न मरण। आत्मा सर्वव्यापी है, **आत्मा** ही में **मैं** समाहित है, और **मैं** ही **आत्मा** में।

राजा जनक को इस परम सत्य का साक्षात्कार तत्काल निराकार होने का परम सुख प्रदान करता है। वह निराकार आत्मस्वरूप का बोध करते ही समझ जाते हैं कि **मैं** और **जगत** का अस्तित्व है भी और नहीं भी है। इस बोध से उनके सम्मुख यह परम सत्य भी प्रकट होता है कि उनके आत्मस्वरूप से देह भी आलोकित है और **जगत** भी। जगत **मेरा** ही प्रतिरूप है और मैं ही **जगत** का प्रतिरूप। **मैं** कुछ भी नहीं, अत: **जगत** भी कुछ नहीं, सर्वत्र आत्मा का रूप ही विकीर्ण है। जो इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है, वह आत्मज्ञान से विहीन होकर निरर्थक जीवन यापन करता है। उसे मात्र देह, साकार, मोहमाया-लोभ और वासनाएं ही अभीष्ट प्रतीत होती हैं और वह आत्मस्वरूप का बोध किए बिना ही मरता और जीता रहता है।

अष्टावक्र ने राजा जनक को आत्मस्वरूप की विराटता, विशालता और अंतहीनता के दर्शन करा दिए तो वह गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहते हैं, आप धन्य हैं कि मुझे आपने मेरे प्रति ही निष्ठावान बना दिया। मैं तो ऐसे परमात्मा के प्रति निष्ठावान था, जिसे मैं व्योम की अनंत ऊंचाइयों में गुप्तवास करते देखता था। मैं तो कल्पित परमात्मा की अवधारणा में ही

आजीवन भटकता रहता, किंतु आपकी कृपा से ज्ञात हुआ कि **मैं** तो कुछ होता ही नहीं, **मैं** तो मात्र आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त **मैं** का कोई अस्तित्व नहीं। मैं का आत्मस्वरूप होते ही मैं ही परमात्मा हूं। परमात्मा की प्रतीति से देह और जगत प्रकाशमय हैं। आत्मा से जगत है, जगत ही आत्मा है तो जगत भी निराकार और निसंग है।

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥३॥

भावार्थ: आपने अत्यंत कुशलता से ऐसा आत्मज्ञान प्रदान किया कि मैं सशरीर विश्व का परित्याग करके परमात्मा को साक्षात देख रहा हूं।

विवेचना: जब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक प्राणिमात्र दिग्भ्रमावस्था में सतत् भटकता रहता है। यह भटकना क्या है? मात्र आसक्तियों से आबद्ध रहना। यह ऐसी स्थिति है जिसमें मानव की जिंदगी नाटकीय हो जाती है। भोग-विलास में वह जिस सुखानुभूति से तृप्त होता है, वह कृत्रिम और वीभत्स होती है, किंतु उसे लगता है, यही जीवन का परम लक्ष्य है। मानव नहीं जानता कि ऐसी जीवनशैली आत्महंता होती है, जो उसे आत्मा से परिचित नहीं होने देती, अर्थात स्वयं से, स्वयं की शक्तियों और स्वयं के प्रति विश्वास से हीन करती है। मानव को लगता है, परमात्मा ने जितना जीवन दिया है, उसे अंतिम क्षण तक आनंदपूर्वक ही भोगना चाहिए। अगर कोई पाप हो भी जाए तो चिंता नहीं, गंगा में डुबकी लगाते ही प्रायश्चित हो जाएगा। वह स्वार्थ के वशीभूत और निष्ठुर हो जाता है। निष्ठुरता उसे दंभी और अभिमानी बनाती है। अभिमानी मानव मात्र स्वयं को महत्त्व देता है, उसे अपनी काया के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता।

प्रत्येक मानव मुक्ति के लिए छटपटाता है। भोग-विलासी को मुक्ति की आवश्यकता अधिक होती है, अत: उसकी छटपटाहट भी अधिक होती है। किंतु उसे मुक्ति मार्ग का ज्ञान नहीं होता, कोई समाधि लगाता है, कोई ईश्वर-स्तुति करता है, कोई तपस्वी बन जाता है तो कोई एक टांग पर खड़ा होकर हठयोग में लीन हो जाता है।

अष्टावक्र की दृष्टि में, इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। मुक्ति का मार्ग अत्यंत सीधा और सरल है। वे कहते हैं—'मानव को स्व-ज्ञान करना चाहिए, यह स्व-ज्ञान ही आत्मज्ञान है।'

यही आत्मज्ञान जब राजा जनक को होता है, तब उनका जीवन सार्थक हो उठता है। आत्मज्ञान के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि ज्ञान के प्रति आस्था

हो। राजा जनक में यही आस्था थी, उन्होंने निष्ठा और विश्वासपूर्वक अष्टावक्र के उपदेशों का श्रवण किया तो शब्द सीधे उनके हृदयपटल पर अंकित हो गए।

आत्मज्ञान ने राजा जनक को संपूर्णतः परिवर्तित कर दिया। शरीर उनकी दृष्टि में नगण्य हो गया। वह विशुद्ध रूप से **आत्मा** हो गए हैं। **मैं** और **जगत** का अस्तित्व मिथ्या लगने लगा।

आत्मबोध से उनकी काया को आलोक मिलता है, जिसमें आभास हो जाता है कि उनका दृष्टा कोई और नहीं, वह स्वयं हैं। वह क्रियाहीन और निष्काम हैं, क्योंकि आत्मा क्रियाशील और काममय नहीं होती। आत्मा निरपेक्ष और तटस्थ है, इसलिए अहंकारहीन भी है। राजा जनक जब आत्मस्वरूप हो गए तो उन्हें अपना शरीर निरर्थक प्रतीत हुआ।

अतः वह अष्टावक्र से कहते हैं—'यह शरीर तुच्छ है, इस जगत की व्यर्थता का बोध मुझे हो चुका है। मैं आत्मस्वरूप हूं, अतः इस शरीर व जगत की मुझे क्या आवश्यकता? मैं शरीर और जगत का परित्याग करता हूं। आपने अत्यंत कुशलता से अनुभव करवा दिया है कि मैं ही परमात्मा हूं। मुझे परमात्मा स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है।'

आत्मबोध होते ही राजा जनक की दृष्टि में देह, आत्मा तथा परमात्मा से समस्त भेद-प्रभेद समाप्त हो जाते हैं। उन्हें स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब एक-दूसरे में अंतर्निहित हैं। इनका एकत्व ही यथार्थ है, जो मानव इन्हें भिन्न रूपों में मानता है, वह सदैव भ्रमित रहता है और अपने वास्तविक विराट स्वरूप के दर्शन करने से आजीवन वंचित रहता है। उसमें त्याग की भावना आ ही नहीं सकती, वह तो सतत् पाने की ही लालसा में केंद्रित होकर अपने असीम स्वरूप को सीमित करता है। यह परमात्मा की कल्पित सत्ता से सदैव भयभीत रहता है। उसके कोप से बचने के लिए उपासना करता है, उसकी कृपा और आशीर्वाद पाने के लिए धार्मिक अनुष्ठान करता है। वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता कि परमात्मा तो उसी के अंदर-बाहर है, परमात्मा तो वह स्वयं है।

अष्टावक्र यह बात स्पष्ट रूप से कहते हैं—'परमात्मा तुमसे अलग नहीं है, तुम स्वयं परमात्मा हो, जब तक मानव स्वयं को महत्ता प्रदान नहीं करेगा, स्वयं को परमात्मा नहीं मानेगा, उसका उद्धार संभव नहीं।'

राजा जनक ने स्वयं को परमात्मा के रूप में देखा तो उन्हें अपने शरीर और जगत से मोह भंग हो गया, उन्होंने शरीर और जगत को त्यागने की घोषणा कर दी। **शरीर** और **जगत** को त्यागने का यह अर्थ नहीं कि मानव

मृत्यु का वरण करे। यहां **त्याग** का अर्थ है, जगत में व्याप्त मोहासक्त करनेवाले पदार्थों से विमुख हो जाना, शरीर को भोग-विलास तथा वासनाओं में लिप्त न करना। अर्थात तू **आत्मा** हो जा, तेरा **शरीर** और **जगत** से नाता टूट जाएगा। शरीर और जगत होते हुए भी नहीं होंगे। आत्मस्वरूप होने के लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं, बस, स्वयं को, स्वयं के शरीर को और जगत को भूलकर निष्ठापूर्वक **स्वयं** को आत्मा मानो।

यही राजा जनक ने निष्ठापूर्वक स्वीकारा तो उनका अपने शरीर और जगत से संबंध विच्छेद हो गया और वह अष्टावक्र की कृपा से परमात्मा को देखने में सक्षम हो गए।

राजा जनक की तरह कोई भी **स्वयं में परमात्मा** के दर्शन कर सकता है, किंतु उसे अष्टावक्र के उपदेशों में निष्ठा और अपने आप में आस्था रखनी होगी। तभी वह अपने शरीर की निरर्थकता का बोध कर स्वयं को मात्र आत्मस्वरूप मानेगा, फिर न उसे शरीर से मोह रहेगा और न जगत से और वह स्वयं में **परमात्मा** के दर्शन कर सकेगा।

यथा न तोयतो भिन्नास्तरंगाः फेनबुब्दुदाः।
आत्मनोनतथाभिन्नंविश्वमात्मविनिर्गतम्॥४॥

भावार्थः जिस प्रकार जल से तरंग, फेन व बुलबुले भिन्न नहीं, उसी प्रकार **आत्मा** और **विश्व** भी भिन्न नहीं। यह विश्व आत्मा से ही प्रस्फुटित हुआ है।

विवेचनाः आत्मज्ञान होते ही राजा जनक की दृष्टि व्यापक हो जाती है। वह शरीर और जगत की मोहमाया से मुक्त होकर इनका परित्याग करते हैं। उन्हें यह सहज ही आभास हो जाता है कि आत्मा वास्तव में सर्वव्यापी है, चराचर के कण-कण में विद्यमान है। उसके बिना जड़, जीव और जगत की कल्पना करना मूढ़ता है। जो जड़, जीव और जगत से आत्मा को पृथक करते हैं, वे वस्तुतः मूढ़ होते हैं। ऐसे ही लोग शरीर को प्रधानता देते हैं और सुख-दुख के प्रपंच में फंसे रहते हैं, आत्मा के बारे में उनका मानना होता है कि वह शरीरांत के बाद अस्तित्व में आती है।

राजा जनक इस सत्य से परिचित होते हैं कि आत्मा का अस्तित्व चिरस्थायी है, शरीर रहे या न रहे, आत्मा की अनश्वरता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। आत्मा प्रत्येक जड़-चेतन के अंदर समाहित है। अतएव **शरीर** को **आत्मा** मानने में ही गति है।

राजा जनक भी देह को तिलांजलि देकर आत्मस्वरूप हो जाते हैं। इस

प्रकार उन्हें स्वयं में परमात्मा के दर्शन होते हैं। तब उन्हें पता चलता है कि संपूर्ण विश्व आत्मा से ही प्रस्फुटित हुआ है। आत्मा और विश्व में कोई अंतर नहीं। विश्व और आत्मा एकत्र हैं, अभिन्न हैं, इसलिए निराकार हैं। यह जो विश्व हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह वस्तुत: आत्मा का ही साक्षी रूप है।

अष्टावक्र राजा जनक को बार-बार आत्मा का महत्त्व क्यों बताते हैं। क्यों कहते हैं–'शरीर को भूल जाओ और आत्मस्वरूप धारण करो।' यह आत्मस्वरूप और आत्मा क्या है? वस्तुत: आत्मा का अर्थ 'मैं' ही होता है। अष्टावक्र राजा जनक के माध्यम से संपूर्ण मानव समुदाय को यह संदेश देना चाहते हैं कि मानव अपनी शक्ति को पहचाने, वह अपने शरीर का मोह त्यागे, यह न समझे कि शरीर का धर्म भोग-विलास और आत्मा का पृथक संसार है। मानव ही आत्मा है, वह स्वयं को आत्मस्वरूप माने, तभी वह स्वयं में परमात्मा का दर्शन करेगा, तभी उसे आभास होगा कि वह किसी आकाशीय परमात्मा की कठपुतली नहीं, अपना नियंता आप है।

राजा जनक शारीरिक विद्रूपताओं के मोह से विछिन्न होकर आत्मस्वरूप हो जाते हैं, उनका सर्वांग परमात्मा हो जाता है। उन्हें अपना शरीर और जगत मिथ्या प्रतीत होता है। उनके सम्मुख यह सत्य सिद्ध हो जाता है कि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। वह अष्टावक्र के सामने स्वीकार करते हैं कि देह और आत्मा की द्वैत अवधारणा असत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं, देह और आत्मा की सत्ता एक है। यह अद्वैत अवधारणा ही मोक्ष के प्रशस्त मार्ग की ओर प्रेरित करती है। राजा जनक स्वीकार करते हैं कि **मैं** और **आत्मा** में किंचित मात्र भी भेद नहीं। **मैं ही आत्मा हूं**, इसका बोध होते ही हे प्रभु, चमत्कार हो गया। अब मुझे सर्वत्र आत्मा की विद्यमानता दृष्टिगोचर हो रही है। आत्मा से कुछ भी अछूता नहीं। सब आत्मा को स्पर्श करते हैं, आत्मा सबको स्पर्श करती है। आत्मा मुझमें भी है, तुझमें भी है। मैं ही आत्मा हूं, आत्मा ही मैं है, आत्मा से किसी को पृथक नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार जल से तरंग, झाग और बुलबुले निकल कर अलग रूप का भ्रम पैदा करते हैं, किंतु वे जल से भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार विश्व देखने में भले ही अलग लगे, किंतु वह आत्मा से भिन्न नहीं है, क्योंकि विश्व का निर्माण आत्मा से ही हुआ है।

आत्मा की सर्वव्यापकता का सत्य जिसने प्राप्त कर लिया, वह स्वयं से विस्मृत हो जाता है। यह विस्मृति उसे निर्लोभी, निर्मोही और मायाहीन बना देती है। इसका अर्थ यह है कि उसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वह आत्मस्वरूप हो गया, क्योंकि आत्मा निर्मोही, निर्लोभी और मायाहीन होती है।

वस्तुतः माया, मोह और लोभ ही मानव को आत्मा से साक्षात्कार नहीं करने देते। वासनाओं के अंधमहासागर में वह आकंठ इतना डूब जाता है कि स्वयं को परमात्मा मानने की शक्ति अर्जित नहीं कर पाता। परमात्मा उसकी दृष्टि में भयकारी शक्ति है, जिसे क्रोधित करने का अर्थ है जीवन से वंचित होना। उसे मात्र अपने से, अपने जीवन से मोह होता है। वह परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि तो देता है, किंतु शारीरिक मोह की बलि देने से कतराता है। यदि वह स्वयं में परमात्मा की प्रतीति करे तो वह स्वयं शारीरिक व जगत के मोह को तिलांजलि दे देगा। उसे समस्त सृष्टि आत्मामय प्रतीत होती है। भले ही ऐसा लगे विश्व व आत्मा भिन्न हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि विश्व आत्मा का साक्षी है और दोनों अभिन्न हैं।

तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारितः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्॥५॥

भावार्थः वैचारिक्र दृष्टि से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व भी मात्र आत्मा ही है।

विवेचनाः राजा जनक का आत्मबोध उनकी वैचारिक दृष्टि को व्यापकता प्रदान करता है। उन्हें समस्त सृष्टि आत्मामय प्रतीत होती है।

अष्टावक्र इस तथ्य को भलीभांति रेखांकित करने में सफल हुए हैं कि सृष्टि आत्मा से ही निसृत हुई है, अतः वह आत्मा से भिन्न हो ही नहीं सकती। समस्त चराचर का मूलाधार एकमात्र आत्मा ही है। इसी सत्य को राजा जनक जब हृदयंगम करते हैं तो वह विश्व को विश्व के रूप में नहीं देखते, **विश्व** उन्हें **आत्मा** प्रतीत होता है। मानो आत्मा के बिना विश्व का अस्तित्व नहीं। ऐसी प्रतीति का कारण है कि वह आत्मा का साक्षी है, आत्मा की भांति निराकार है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मानव की देह आत्मा का साक्षी-स्वरूप है। देह के साकार को साक्षी मानो, क्योंकि देह का आत्मस्वरूप निराकार है।

जो आत्मा और विश्व की पृथक-पृथक सत्ताओं में विश्वास रखते हैं, जो आत्मा और विश्व के एकत्व को खंडित करते हैं, उनके विचार भी द्वैतं होते हैं, खंडित होते हैं। ऐसे लोगों को सोचना चाहिए कि जो विश्व आत्मा से प्रकट हुआ है, उसे अलग-अलग कैसे मान लिया जाए।

अष्टावक्र के आत्मज्ञान से राजा जनक के ज्ञान-चक्षु जब खुलते हैं तो वह स्वयं को आत्मा से अलग देख ही नहीं पाते। आत्मामय और आत्मस्वरूप की तीव्र चेतना ही उन्हें आभास कराती है कि आत्मा से पृथक कुछ नहीं। ब्रह्मसृष्टि ब्रह्ममय ही हो सकती है—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जो

आत्मा से पैदा होता है, उसे **आत्मा** से पृथक मानने की धृष्टता कैसे की जा सकती है। जो परमात्मा से भयभीत होते हैं, जो स्वयं के आत्मरूपी होने की कल्पना को दुस्साहस मानते हैं, ऐसे लोग ही **आत्मा** और **सृष्टि** को पृथक मानने की धृष्टता करते हैं।

राजा जनक को जैसे ही स्वयं के आत्मस्वरूप की अनुभूति होती है, उनके समस्त संदेह विलुप्त हो जाते हैं। उन्हें समझ में आ जाता है कि जल और जल के बुलबुलों की सत्ता जिस प्रकार पृथक नहीं होती, उसी प्रकार विश्व को आत्मा से अलग नहीं माना जा सकता। **आत्मा** और **विश्व** एक-दूसरे में समाहित हैं, एक ही रूप हैं।

राजा जनक अष्टावक्र के समक्ष स्वीकारते हैं–'आपकी कृपा से मुझे आत्मबोध हो गया है कि आत्मा से पृथक कुछ नहीं। जल और जल के झाग भले ही भिन्न प्रतीत हों किंतु झाग जल से अलग नहीं। वस्त्र और तंतु भी भले ही अलग-अलग प्रतीत होते हैं, किंतु वस्त्र वस्तुतः तंतु से ही बना है, अतएव एक-दूसरे से अलग नहीं। तंतु मूल है और उसी से वस्त्र का निर्माण होता है। उसी प्रकार विश्व का मूल भी आत्मा है, आत्मा से ही विश्व की उत्पत्ति हुई है, अतः आत्मा और विश्व एक ही है, अलग नहीं।'

राजा जनक को जैसे ही आत्मबोध होता है, उन्हें सबकुछ आत्मामय दृष्टिगोचर होता है। इस सत्यानुभूति से उनका संपूर्ण व्यक्तित्व परमात्मा का रूप धारण कर लेता है।

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।
तथा विश्वंमयिक्लृप्तंमयाव्याप्तंनिरंतरम्॥६॥

भावार्थः जिस प्रकार ईख के रस से निर्मित शर्करा में ईख का रस ही व्याप्त है, उसी प्रकार मुझसे निर्मित विश्व मुझमें ही निरंतर व्याप्त है।

विवेचनाः राजा जनक की अंतर्दृष्टि को अष्टावक्र के उपदेशों ने इतना व्यापक और विस्तृत कर दिया है कि उन्हें चराचर का कण-कण आत्मस्वरूप प्रतीत होता है।

वस्तुतः सारा भ्रम तभी पैदा होता है जब मानव आत्मा की सत्यता से अपरिचित होता है। परमात्मा की पृथक सत्ता के भय से वह इतना सहमा हुआ होता है कि उसके लिए विश्वास करना कठिन हो जाता है कि वही आत्मा है, आत्मा उससे से भिन्न नहीं।

इस भ्रम को फैलाने में द्वैतवादियों का योगदान कम नहीं है। उन्होंने शरीर और आत्मा की पृथक सत्ता को मान्यता दी है। वे कहते हैं–'शरीर अलग है

और जीवितावस्था तक आत्मा का इससे कोई संबंध नहीं। शरीर जब प्राण त्याग देता है, तब प्राण आत्मा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उनका कथन है कि मुक्ति और मोक्ष के लिए परमात्मा को योग, साधना व रूप से प्रसन्न करना चाहिए। वे नहीं मानते कि मानव ही परमात्मा है। द्वैतवादियों की इस विचारधारा का भयावह फल यह निकला है कि मानव स्वयं में दीन-हीन हो गया। स्वयं का आत्मा-परमात्मा होना मानव को जो मानसिक शक्तिसंपन्नता प्रदान करता है, जो आत्मविश्वास प्रदान करता है, उससे वह समस्त आकांक्षाओं और भोग-विलासों से विमुख हो जाता है, जबकि आत्मा-परमात्मा की पृथक सत्ता का विचार मानव को देह के प्रति जागरूक करता है, उसे देह ही प्रमुख प्रतीत होती है। वह देह को सजाने-संवारने में लगा रहता है। देह की आवश्यकताओं की पूर्ति से उसे तनिक भी अवकाश नहीं मिल पाता। आनंद और उमंग से जीने की ललक से मानव जीवन के वास्तविक मूल्यों और ध्येयों से अलग-थलग पड़ जाता है। भौतिकता के प्रति उत्कंठा में जितनी वृद्धि होती जाती है, उतना ही वह विभ्रमों का शिकार होता है। भोग-विलास की अति से अंत में वह ऊब जाता है और उसे जीवन निस्सार लगने लगता है और वह मुक्ति और मोक्ष के लिए आकुल हो उठता है।

यहां भी वह मिथ्या धारणाओं का ही अवलंबन लेता है। स्वयं में परमात्मा की उपस्थिति का बोध उसे होता नहीं, अतः वह परमात्मा को प्रसन्न करके मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न निरर्थक प्रयोग करता है।

राजा जनक की भांति यदि मानव इस सत्य से परिचित हो जाए कि वही आत्मा और परमात्मा है तो उसकी निवृत्ति असंदिग्ध है। इस सत्य से परिचित होना ही पर्याप्त नहीं, वरन् इसे निष्ठा और पूरी आस्था के साथ हृदयंगम करना चाहिए। तभी वह परमात्मा के परमपद की अनुभूति कर पाने में सक्षम होगा।

राजा जनक आत्मामय हो गए तो उनका शरीर से मोह समाप्त हो गया, क्योंकि **आत्मा** के निकट मोहमाया का कोई अर्थ नहीं। आत्मा न **शरीर** है और न **साकार**, अतः राजा जनक एकाएक मोहमाया से विमुक्त हो गए। इस स्थिति में संपूर्ण विश्व के केंद्र में उन्हें ब्रह्म नजर आया, बीज रूप में आत्मा नजर आया, जिससे जीव-जगत निसृत हुआ। जैसा बीज होता है, वैसा ही उसका फल होता है। आत्मा से जीव-जगत पैदा हुआ तो यह स्वयंसिद्ध है कि जीव-जगत आत्मा के अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता।

जिस प्रकार नख को त्वचा से पृथक नहीं कर सकते, उसी प्रकार विश्व व आत्मा एक हैं। जिस प्रकार वस्त्र व तंतु एक है, उसी प्रकार विश्व व आत्मा

एक हैं। राजा जनक अष्टावक्र को एक और उदाहरण देते हुए आगे कहते हैं–'ईख और शर्करा भले ही भिन्न प्रतीत होते हैं, किंतु मूलत: एक ही हैं क्योंकि शर्करा ईख के रस से बनती है और उसमें ईख का रस ही व्याप्त होता है, अत: वे पृथक हो ही नहीं सकते। उसी प्रकार यह विश्व मुझसे बना है, अत: मुझसे अलग नहीं, अर्थात मैं आत्मा हूं और आत्मा से बना है यह विश्व। इनकी सत्ता एक ही है।'

अष्टावक्र ने अब तक जितना उपदेश राजा जनक को दिया था, उसके आलोक में राजा जनक समझ जाते हैं कि वस्तुओं के विभिन्न आकारों और रूपों से भ्रमित नहीं होना चाहिए, सदैव मूलाधार को प्रमुख मानना चाहिए। भले ही ईख, रस और शर्करा (चीनी) तीन विभिन्न रूपाकार हों, किंतु रस और शर्करा का मूलाधार ईख ही है, अत: ईख की प्रधानता में संदेह नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार आत्मा की प्रधानता असंदिग्ध है, क्योंकि संपूर्ण विश्व आत्मा से निसृत हुआ है।

आत्माज्ञानाज्जगद्भातिआत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भातितज्ज्ञानाद्भासतेनहि।।७।।

भावार्थ: आत्म-अज्ञान से जगत स्थूल रूप में भासता है और आत्मज्ञान से नहीं। इसी प्रकार रस्सी का ज्ञान न हो तो वह सर्प प्रतीत होती है और रस्सी का ज्ञान हो तो भ्रम नहीं रहता।

विवेचना: आत्मज्ञान के अभाव में जगत स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होता है। स्थूल जगत क्या है? चराचर से भरापूरा भूखंड। आत्म-अज्ञान से वशीभूत होकर मानव को इससे भिन्न जगत का स्वरूप दिखाई नहीं देता। उसे सारा जगत मात्र उपभोग की वस्तुओं का विशाल भंडार प्रतीत होता है। वह आजीवन भौतिक उपलब्धियों के झंझावात में घिरा रहता है। स्वार्थ और लोभ में स्वयं को भूल जाता है। जो स्वयं को भूल जाता है, वह आत्मा को भूल जाता है। आत्मा का आत्मसात न कर पाने के कारण निरकुंश और अहंकारी बन जाता है। उसकी दृष्टि में उसका '**स्व**' ही सबकुछ है। 'स्व' की तुष्टि ही उसका एकमात्र ध्येय बन जाता है।

ध्येय की सफलता के लिए वह परमात्मा से भक्तिभाव से आग्रह करता है। मस्तिष्क में परमात्मा की काल्पनिक छवियां गढ़ता है। तदुपरांत उसे जीवन की व्यर्थता का बोध होता है और समस्त कर्त्तव्यों से विमुख होकर परमात्मा के मिलन की कामना से वन-कंदराओं की ओर पलायन करता है, जो वस्तुत: अज्ञान की ओर पलायन है।

९-७]

राजा जनक को आत्मज्ञान हो चुका है। उन्हें अपने आत्मस्वरूप पर आस्था और विश्वास है। वह जगत अथवा जीवन को निस्सार, व्यर्थ या मिथ्या नहीं मानते। जगत भी है, जीवन भी है, किंतु सब आत्मामय; और जो आत्मामय है वह व्यर्थ कैसे हो सकता है। निरर्थकता या सार्थकता तो मानव की दृष्टि में है। जिसे आत्मबोध है, उसके लिए जगत व जीव आत्मस्वरूप है, इसलिए सदैव सार्थक है। इसके विपरीत जो आत्मबोध से शून्य है, उसके लिए जगत व जीव तब तक सार्थक है, जब तक वह उसे भोगने में समर्थ है। जो आत्मबोध की अनुभूति कर चुका है, वह परमात्मा मिलन की चाह में कर्त्तव्यों से विमुख हो पलायन नहीं करता, क्योंकि उसे भलीभांति विदित है कि वह परमात्मा से भिन्न नहीं, परमात्मा **उसमें** है, वह **परमात्मा** में है। वह अपना नियामक आप बन जाता है, किसी काल्पनिक परमात्मा पर निर्भर नहीं रहता।

आत्मबोध से मानो राजा जनक का नया अवतरण होता है। उनके सामने सृष्टि नए रूप में अवतरित होती है। उन्हें स्वयं से सृष्टि अलग प्रतीत नहीं होती। **वह** भी आत्मा, **सृष्टि** भी आत्मा, फिर उनमें अलगाव कैसा? उन्हें मुक्ति प्राप्ति के लिए वन-कंदराओं में पलायन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। मात्र आत्मबोध से उनका कल्याण हो जाता है। उन्हें सप्रयास मोह, माया व लोभ को झटकना नहीं पड़ा, आत्मस्वरूप होते ही अनायास उनका लोप हो गया।

राजा जनक को अब पता चला कि जब तक उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ था, वह जगत की स्थूलता को ही वास्तविक जगत मान बैठे थे। इस विभ्रांति ने उन्हें कृत्रिम जीवन व्यतीत करने पर विवश कर दिया था। उनकी दृष्टि में उनका शरीर ही विशेष था, उसके स्वास्थ्य, सौष्ठव, सुख और आनंद के प्रयास में उनका हर पल व्यतीत होता था। परमात्मा से याचना करते थे कि मरणोपरांत उनकी आत्मा को शांति मिले।

भला हो गुरु अष्टावक्र का, जो उन्होंने इस सत्य से अवगत कराया कि परमात्मा को क्यों मनाते हो, परमात्मा तो तुम स्वयं हो, आत्मा भी तुमसे अलग नहीं। भूल जाओ कि तुम पंच तत्त्वों का समूह हो या आकार हो, तुम उन तत्त्वों के साक्षी हो, निराकार हो, आत्मस्वरूप हो।

आत्मस्वरूप होकर राजा जनक को सारा जगत आत्मा का पर्याय नजर आ रहा था। अब उनके सामने विराट सचाई प्रकट हो चुकी थी कि आत्म-अज्ञान के कारण जगत की स्थूलता ही उन्हें वास्तविक जगत प्रतीत होता था, किंतु आत्मज्ञान होते ही यह मिथ्या धारणा मिट गई। इस भ्रम का कारण वैसा ही

था, जैसे रस्सी के ज्ञान के बिना हम उसी को सांप समझ बैठते हैं, किंतु रस्सी का ज्ञान होते ही हम ऐसी भूल नहीं करते।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'आपके उपदेश से मेरे ज्ञान–चक्षु खुल गए हैं। मैं इस जगत को आत्मा से भिन्न मान बैठा था, इसकी स्थूलता को सत्यस्वरूप मानता था। आत्मज्ञान से मुझे पता चला कि जगत और कुछ नहीं आत्मा है। आत्म–अज्ञान ऐसा ही है जैसे रस्सी के ज्ञान के अभाव में कोई रस्सी को ही सांप मान ले, किंतु ज्ञान होते ही वह उनमें भेद करना जान जाएगा। सच तो यह है कि जिसे आत्मज्ञान हो जाए, उसे और किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती, आत्मस्वरूप होकर वह अपना जीवन सार्थक कर लेता है।'

प्रकाशो मे निजंरूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदाप्रकाशते विश्वं तदाहं भासएव हि॥८॥

भावार्थः प्रकाश मेरा निज रूप है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। जब विश्व प्रकाशित होता है, तब वह मुझसे ही आभासित होता है।

विवेचनाः आत्मस्वरूप होते ही राजा जनक का सोच विराट और विस्तृत हो गया। उन्हें आभास होता है वह **'मैं'** नहीं, **आत्मा** हैं। निज की निरंजनता, शांति, बोध, प्रकृति से दूरी की अनुभूति होते ही उनका अपने शरीर से मोह भंग हो जाता है। वह आत्मा हो जाते हैं, इसका बोध उनके सर्वांग को प्रकाशित करता है।

अष्टावक्र की दृष्टि में आत्मा ही सर्वोपरि है। आत्मा शाश्वत प्रकाश–पुंज है। इसके आलोक से मानव अपनी व जगत की वास्तविकता से परिचित होता है। जब मानव स्वयं आत्मा हो जाता है तो प्रकाश–पुंज बन जाता है। निज को भी आलोकित करता है और जगत को भी आभासित करता है।

आत्मविहीन मानव निरंतर अंधकार में भटकता है। उसके अंतर्मन का तमस उसे तामसिक प्रवृत्तियों का दास बना देता है। वह ऐसे ही लोगों के संपर्क में आता है, जो स्वयं अंधकार में भटक रहे होते हैं।

आत्मज्ञान के अभाव में मानव अपना ही अहित करता है। उसका ध्येय सीमित और विकास अवरुद्ध हो जाता है। उसे स्वयं पर विश्वास नहीं होता, इसलिए वह आत्मस्वरूप धारण कर पाने के योग्य नहीं होता।

आज विश्व में अनाचार और व्यभिचार की वृद्धि का कारण आत्मज्ञान का अभाव ही है। मानव को भ्रम हो गया है कि वह सबसे श्रेष्ठ है, महान है और अद्वितीय है। जो मानव संपन्न होता है, वह परमात्मा का पूजा–पाठ कर

उसका आभार व्यक्त करता है, जो निर्धन होता है वह परमात्मा को उलाहना देता है कि उससे ऐसी कौन-सी भूल हो गई, जो वह दाने-दाने को तरस रहा है। निर्धन हो या संपन्न, दोनों परमात्मा की कृपा पर निर्भर हैं, जबकि उनकी निर्धनता और संपन्नता कृत्रिम हैं। वे दोनों भ्रामक भाव-जगत में जीते हैं। संपन्न को पता नहीं कि वह आत्मज्ञान के अभाव में निर्धन है और निर्धन इस सत्य से अपरिचित है। आत्मज्ञान की उपलब्धि से वह संपन्नता की अनुभूति से विभोर हो उठेगा, उसे भौतिक उपादानों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

वास्तविक निर्धन वही है, जो आत्मज्ञान से वंचित है। आत्म क्या है, आत्मा क्या है? आत्मा और आत्मा का अर्थ है, स्वयं मानव। मानव स्वयं परिचित हो जाए, स्वयं से आस्था रखे, स्वयं के प्रति विश्वस्त हो, यही आत्मज्ञान है। आत्मा कोई वस्त्र नहीं है कि उसे पहनकर आप आत्मामय हो जाते हैं। जब से सृष्टि चली आ रही है आपका '**मैं**' ही आत्मा है, इसका आपको आत्मबोध मात्र होना चाहिए। इस बोध के बाद आपको अनुभव होगा कि यह आपके सोच को विराटता प्रदान करता है। आपके लिए समस्त भौतिक उपलब्धियां महत्त्वहीन हो जाती हैं।

भौतिक उपलब्धियों पर इतराने वाले मानव को स्वयं पर विश्वास नहीं होता, वह स्वयं के प्रति आस्थावान नहीं रहता। ऐसा मानव आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता। वह अंधकार में जीता है और उसे ही प्रकाश मान लेता है।

अष्टावक्र के उपदेशों के माध्यम से राजा जनक को आत्मज्ञान की उपलब्धि हुई तो उनका अंधकार छंट गया और वह संपूर्णत: ज्योति-पुंज बन जाते हैं। आत्मा का अर्थ ही है प्रकाश, आलोक ज्योति, उज्ज्वलता।

वह अष्टावक्र से कहते हैं-'मैं आत्मा हूं और आत्मा ही प्रकाश है। मुझे प्रतीति हो गई है कि यह प्रकाश मेरा ही निज रूप है। **प्रकाश** मुझसे पृथक नहीं, **मैं** प्रकाश से पृथक नहीं। जब विश्व प्रकाशित होता है तो वह भी मुझसे (आत्मा) उद्‌भासित होता है। इस प्रकार विश्व और मुझमें तादात्म्य सिद्ध होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विश्व और आत्मा में पार्थक्य संभव नहीं। विश्व का प्रकाशित होना आत्मा से ही संभव और सहज है।

परमात्मा क्या है? उसकी हृदय को जब प्रतीति होती है तो क्या होता है? परमात्मा विशुद्ध प्रकाश है, परमात्मा की प्रतीति होते ही हृदय उज्ज्वल प्रकाश से आलोकित हो उठता है। मानव के सारे संशय-संदेह लुप्त हो जाते हैं, उसका सोच, उसकी दृष्टि चतुर्दिक प्रकाश ही प्रकाश देखती है। वह निराकार

होकर प्रकाश की भांति विश्व के ओर-छोर तक उद्भासित हो जाता है। प्रकाश में प्रकाश समाहित है, वह स्वच्छंद और मुक्त हो जाता है। उसका जन्म-मरण नहीं होता। वह अनश्वर और शाश्वत होकर अनन्त में निरंतर उपस्थित होता है।

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यंशुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥९॥

भावार्थः कितने आश्चर्य का विषय है कि अज्ञानतावश कल्पित विश्व मुझे ऐसा लगता था जैसे सीपी रौप्य (चांदी) हो, रस्सी सर्प हो और सूर्य की किरणें जल।

विवेचनाः आत्मज्ञान के अभाव में मानव बुद्धि असंयत हो जाती है। उसका विवेक प्रकाश और तिमिर का अंतर करने में अक्षम हो जाता है। सत्य क्या है, असत्य क्या, इसकी विवेचना नहीं कर पाता। सच तो यह है कि आत्म-अज्ञानी को विवेक और विवेचना की आवश्यकता ही नहीं। वह आत्मस्वरूप से महिमामंडित नहीं होता, वह आत्म-प्रवंचनाओं से गौरवान्वित होता है। उसे लगता ही नहीं कि प्रवंचनाओं से वह स्वयं को धोखा दे रहा है। धोखेबाज अपनी क्षणिक उपलब्धियों, प्रसन्नताओं और आनंद से अल्पकाल तक भले ही इतराए, अंत में उसे अपनी ही जीवनशैली से घृणा हो जाती है। आत्म-अज्ञानी का अंत ऐसा ही आत्मघाती होता है। वह **स्वयं** का **स्वयं** के हाथों विनाश कर देता है। हर जन्म में इसकी निरंतरता बनी रहती है।

राजा जनक जब तक आत्म-अज्ञान से लिप्त थे, अंधकार और अविवेक ने उनका सारा सोच विचलित कर दिया था। ज्ञान की पिपासा उन्हें अष्टावक्र तक ले आई। जब उनसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ तो उनके जीवन को सार्थकता मिल गई, प्रकाश से तन-मन उद्भासित हो गया, बल्कि वह स्वयं प्रकाश-पुंज में परिवर्तित हो गए।

ऐसा चमत्कारिक होता है आत्मज्ञान। वह मानव को प्रकाशित कर देता है। अंधकार का उसके निकट कोई स्थान नहीं, दूर-दूर तक प्रकाश ही प्रकाश होता है। प्रकाश के समक्ष कृत्रिमता झूठ, प्रवंचना और अविवेक टिक ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा एकमात्र वास्तविकता है, सत्य और यथार्थ है।

आत्मज्ञानी की दृष्टि विश्व की कल्पित अवधारणाओं पर नहीं टिकती, वह विश्व की आंतरिकता एवं वास्तविकता से परिचित हो जाता है। आत्म-अज्ञानी को कल्पित संसार ही वास्तविक दृष्टिगोचर होता है, उसे यही लगता है कि रस्सी, रस्सी नहीं सर्प है। आत्मज्ञान से उद्भासित होते ही वह चकित होता

है–'अरे! **विश्व** तो मुझसे है और **मैं** विश्व से, क्योंकि दोनों ही आत्मा हैं, आत्मा के प्रतिरूप, आत्मा के साक्षीस्वरूप। वह अपने आंतरिक प्रकाश से संपूर्णतः आलोकित हो उठता है, वह गौरवान्वित होता है कि यह उसका निज का प्रकाश है, कोई अन्य उसे प्रकाशित नहीं कर रहा, क्योंकि वह आत्मा है और आत्मा का प्रकाश स्वतःस्फूर्त होता है। जिस विश्व में वह अब तक विचरण करता रहा, वह तो नितांत काल्पनिक और अंधकारमय था। उसमें तो वह मात्र काल्पनिक कामनाओं के पीछे अंधा होकर भागता रहा था। वह स्वयं काल्पनिक और कृत्रिम हो गया था। काल्पनिक विश्व, काल्पनिक कामनाएं और काल्पनिक मानव का अस्तित्व ही क्या है? वे सब क्षणभंगुर, नाशवान और नश्वर हैं। कामनाओं के दास मानव का मोक्ष संभव नहीं। आत्म–अज्ञान के कारण वह अपनी शक्तियों से अनभिज्ञ होता है। वह स्वयं को भाग्य के आश्रय छोड़ देता है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि **वह** अपना उद्धारक **आप** है।

अष्टावक्र के पास आने से पहले राजा जनक की भी ऐसी ही भ्रामक स्थिति थी। उनसे ज्ञान मिलते ही वह साक्षात अग्निपुंज बन गए। वह चकित रह गए कि आत्मज्ञान के अभाव में जिस विश्व पर उन्हें अगाध विश्वास था, वह तो नितांत अविश्वनीय था। आत्म–अज्ञानी जिस प्रकार सीपी को देखकर उसे चांदी मान लेता है, रस्सी को देखकर सर्प मान लेता है और सूर्य की किरणें उसे जल समान प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार उन्होंने भी कल्पित विश्व को वास्तविक मान लेने की भयंकर भूल की थी।

अब उन्हें पता चला कि **विश्व** यथार्थ में आत्मा है, आत्मा से **विश्व** है, मैं **विश्व** हूं, **विश्व** ही मैं हूं। मेरी अथवा विश्व की स्थूलता असत्य है, आत्मा की निराकृति ही सत्य है। **विश्व** निराकार है, **मैं** भी निराकार हूं, इसलिए विश्व भी निरंतर है, मैं भी निरंतर हूं। आत्मामय बनकर सबकुछ एकात्म हो जाता है, एक–दूसरे से अविछिन्न, आबद्ध और अंतर्निहित।

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदिकुंभो जलेवीचिः कनके कटकं यथा॥१०॥

भावार्थः मुझसे निसृत विश्व मुझमें ही उसी प्रकार विलीन हो जाएगा, जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, जल में लहर और स्वर्ण में आभूषण का विलय हो जाता है।

विवेचनाः यह विश्व क्या है? मायाजाल। मानव क्या है? मायाजाल में निबद्ध अज्ञानी और विमूढ़। अपनी विमूढ़ता में वह मायाजाल की विभीषिका

से भिज्ञ नहीं हो पाता। मायाजाल के आड़े-तिरछे मार्ग पर चलने में असुविधा भी उसे अस्थिर नहीं कर पाती। वह मोह और लोभ के वशीभूत होकर मायाजाल में और अधिक धंसता जाता है। वहां घनघोर अंधकार है, किंतु वह उसे प्रकाश समझने की भूल करता है, चतुर्दिक कृत्रिमता व्याप्त है, किंतु वह उसे सत्य मान लेता है। वह जिन सुखों से आह्लादित होता है, वे उसे आत्मदर्शन से अंततः वंचित कर देते हैं।

जो मानव आत्मदर्शन नहीं करता, वह आत्मज्ञान नहीं कर पाता। आत्म-अज्ञानी का मायाजाल की मृगमरीचिका में एक दिन अतृप्तावस्था में भयावह अंत हो जाता है। भयावह अंत इसलिए कि उसकी जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति संभव नहीं होती, हर जन्म में उसे इन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ेगा।

राजा जनक ऐसे भयावह अंत से बच गए। अष्टावक्र से उन्हें यह आत्मज्ञान प्राप्त हो गया कि मायाजाल की मृगमरीचिका से वह आत्मदर्शन की सिद्धि नहीं कर पाएंगे। आत्मज्ञान ने उन्हें तृप्ति-अतृप्ति की भावनाओं से मुक्ति दिला दी, वह आत्मस्वरूप होकर आत्मदर्शन करने में पूर्णतः सफल हो गए।

आत्मदर्शी मानव कभी मोहमाया से प्रभावित नहीं होता क्योंकि आत्मा इनसे सदैव निष्प्रभावित रहता है।

स्वयं के आत्मा होने का विश्वास प्राप्त होते ही राजा जनक का मस्तिष्क विभामय हो गया और दृष्टि विस्तृत। वह स्पष्ट देख रहे थे अपना नया रूप, जो आत्मस्वरूप था। वह स्वयं **आत्मा** बनकर अपने ही **प्रकाश** से जगमगा रहे थे। उनसे ही विश्व विनिर्गत होकर जगमगा रहा था। उनसे ही निसृत होकर कण-कण भी आत्मस्वरूप हो गया। उनका आत्मस्वरूप अनवरत है, अनश्वर है। आत्मा बार-बार मरता और जन्मता नहीं। जिन्हें अपने आत्मा होने पर आस्था नहीं, वही बार-बार मरते और जन्मते हैं।

जन्म-मरण मिथ्या है। सुख-दुख की भावनाएं काल्पनिक हैं। पाना-गंवाना मन का भ्रम है। आत्मज्ञान के अभाव में मानव इन्हीं को सत्य की संज्ञा देता है। आत्म-अज्ञानी का अपने ही तन-मन पर अधिकार नहीं होता। वह निस्पृह-सा किसी कल्पित परमात्मा की इच्छाओं के सम्मुख सदैव नतशिर होता है। जबकि आत्मज्ञानी परमात्मा हो जाता है, अपना नियंता आप। आत्मा-परमात्मा, इच्छा-आकांक्षाओं, जीवन-मरण, सुख-दुख तथा पाने-गंवाने की भावनाओं से सर्वथा मुक्त होता है, अपने आप में पूर्ण, एकमात्र और ब्रह्म।

आत्मा ही समस्त चराचर का मूलाधार है। आत्मा से जड़-जीव की उत्पत्ति हुई है। **मेरा** मूल भी आत्मा है, **विश्व** का मूल भी आत्मा है। '**मैं**' मूल में समाकर, आत्मस्वरूप होकर सदैव अस्तित्व में रहेगा, उसका अंत असंभव है।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं-'मैं आत्मज्ञानी होकर निर्द्वंद्व और संशयहीन हो गया हूं। आत्मा को कैसा द्वंद्व या संशय? जिस प्रकार मैं आत्मा से उत्पन्न होकर आत्मा में ही विलीन हो जाऊंगा, उसी प्रकार मुझसे पैदा हुआ विश्व मुझमें ही विलीन हो जाएगा। मूल एक होता है किंतु उसके साक्षीस्वरूप अनेक। साक्षीस्वरूप आत्मामय होकर उसी प्रकार आत्मा में विलीन हो जाता है, जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, जल में लहर और स्वर्ण में आभूषण। अतः हे गुरुदेव! मेरा कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, मैं आत्मा हूं, शाश्वत हूं, अनंत हूं, अविनाशी और निराकार हूं। मेरा साकार होना केवल आत्मा का साक्षीस्वरूप है।'

साक्षीस्वरूप चूंकि आत्मा का साक्षात साक्ष्य है, अतः उसे भौतिक संपदाओं का लोलुप नहीं होना चाहिए। आत्मज्ञानी होता भी नहीं है, आत्मा का भान होते ही वह लोलुपता आदि भावनाओं से स्वतंत्र हो जाता है। इस सत्य की प्रतीति उसे तुष्ट कर देती है कि **आत्मा** से विनिर्गत होकर वह **आत्मा** को ही प्राप्त होगा। वह सदैव **आत्मा** है, इसे हृदयंगम करके मानव जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

अहो अहंनमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः॥११॥

भावार्थः मैं आश्चर्यचकित हूं। मुझे मेरा ही नमस्कार। जगत के नाश होने की स्थिति में ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यंत विनष्ट हो जाएंगे, किंतु मेरा नाश नहीं होता।

विवेचनाः राजा जनक को आत्मस्वरूप का आभास हुआ तो उन्हें आत्मा के महत्त्व का बोध हो गया।

वह आत्मा हैं तो उनका नाश असंभव है। जगत का नाश हो सकता है, किंतु आत्मा का नहीं। मैं सर्वकालिक हूं, अभूत हूं।

आत्मा प्रत्येक जड़-जीव में व्याप्त है। स्थूलदेही जड़ और जीव का नाश हो सकता है, किंतु आत्मा अक्षुण्ण रहती है। भले ही संपूर्ण सृष्टि विनष्ट हो जाए, किंतु आत्मा की नश्वरता को आंच तक नहीं आती। सृष्टि का सृजन **आत्मा** से होता है और वह **आत्मा** में ही विलीन हो जाती है। **आत्मा** की अक्षुण्णता बनी रहती है।

ब्रह्मा ने ही सृष्टि की रचना की थी, किंतु स्वयं ब्रह्मा भी आत्मा का साक्ष्यस्वरूप है, उसकी उत्पत्ति आत्मा से हुई है, अतः ब्रह्मा का भी नाश संभाव्य है, किंतु आत्मा अविनाशी है। सृष्टि प्रलय में जलमग्न होकर विनष्ट हो सकती है, पर आत्मा का अस्तित्व बना रहता है, वह न जलमग्न हो सकती है, न उसे वायु उड़ाकर ले जा सकती है। जल में भी आत्मा है, वायु में भी आत्मा है। आत्मा से पुनः सृष्टि विनिर्गत हो सकती है, अतः आत्मा से सृष्टि है, सृष्टि से आत्मा है। सृष्टि आत्मा दृश्यरूप है, दृश्य मिट सकता है, परिवर्तित हो सकता है, किंतु आत्मा अदृश्य और अपरिवर्तनीय है। सृष्टि का निर्माण किसी कल्पित परमात्मा ने नहीं अपितु सृष्टि में ही समाहित परमात्मा ने किया है। कल सृष्टि नहीं रहेगी, लेकिन उसका मूलाधार आत्मा-परमात्मा का अस्तित्व काल कवलित नहीं होता।

अपने ऐसे विलक्षण आत्मस्वरूप की प्रतीति होते ही राजा जनक आश्चर्यचकित होते हैं। मैं आत्मा हूं, आत्मा अविनाशी है, अतः मैं अविनाशी हूं। भले ही प्रलय के समय सृष्टि नष्ट हो जाए, उसके साथ ब्रह्मा से लेकर तृण का भी चिह्न शेष न रहे, लेकिन ऐसी स्थिति में भी मेरा नाश नहीं होगा। अनादि से अनंत तक मेरा चिरस्थायित्व है। समस्त ब्रह्मांड एकमात्र मैं ही हूं, श्रेष्ठ, परम, उत्तम, अनुपम और अतुलनीय। मेरे सम्मुख ऐसा कोई नहीं, जिसको मैं नमन करूं, अतः मैं स्वयं को ही नमस्कार करता हूं।

ऐसा विराट है आत्मा, जब आत्मज्ञानी का **मैं** आत्मामय हो जाता है तो वह भी विराट हो जाता है, उसके सम्मुख सबकुछ क्षीण, महत्त्वहीन और मूल्यहीन है।

राजा जनक का आत्मबोध उन्हें अपने अंदर परमात्मा की प्रतीति करवाता है। राजा जनक अपनी सत्ता आप हो जाते हैं। वे किसी काल्पनिक सत्ता के अधीन नहीं। उनके स्थूल शरीर का, सृष्टि का भले ही नाश हो जाए—**मैं** (आत्मा) नित्य है, अपरिहार्य है और ध्रुव सत्य है। ऐसे विराट रूप **मैं** को कौन नमस्कार नहीं करना चाहेगा। अतः मैं ही **मैं** को नमस्कार करता हूं।

अष्टावक्र के ब्रह्मज्ञान से राजा जनक अभिभूत हो जाते हैं। उन्हें आश्चर्य की अनुभूति होती है। यह है भी आश्चर्य का विषय कि प्रलय के समय जगत के नाश होने की स्थिति में ब्रह्मा से लेकर तृण तक का तो नाश हो सकता है, किंतु **मेरा** नहीं।

इससे आत्मा की विशालता तो सिद्ध होती है, यह धारणा भी मिथ्या सिद्ध होती है कि सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा है। अष्टावक्र की निश्चित धारणा है कि

सृष्टि का रचयिता आत्मा है, ब्रह्मा भी आत्मा से उत्पन्न है। इस आत्मबोध से राजा जनक आत्मा का स्वरूप धारण करके **मैं** की महत्ता को स्वीकारते हैं।

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्न गंतानागंता व्याप्य विश्वमवस्थितः॥१२॥

भावार्थ: मैं आश्चर्यचकित हूं। मैं स्वयं को नमस्कार करता हूं। अनेक देहों में होते हुए भी मैं एक ही हूं। मैं कहीं आता-जाता नहीं, किंतु संपूर्ण विश्व में अवस्थित हूं।

विवेचना: अष्टावक्र से आत्मबोध की प्राप्ति होते ही राजा जनक का **मैं** आत्मा का पर्याय हो जाता है। वे जैसे-जैसे आत्मचिंतन करते हैं, उनके आश्चर्य की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। उनका 'मैं' बार-बार अपनां ही नमन करता है।

राजा जनक को आश्चर्य इस बात का है कि संपूर्ण विश्व में केवल एक ही आत्मा व्याप्त है। जड़-जीव अनेक हैं, अनगिनत हैं, किंतु वे सब एक आत्मा से उत्पन्न हुए हैं और उन सबमें केवल एक ही आत्मा का वास है।

आत्मा एक ही है, उसका केवल एक ही रूप है और यह रूप है निराकार। आत्मा से पैदा हुए जड़-जीव अनंत हैं, उनके रूप व आकार-प्रकार भी अनंत हैं। वे साकार हैं, दृश्य हैं, किंतु उन सब में एक ही अदृश्य आत्मा समाविष्ट है। एक आत्मा ने ही समस्त जीव-जड़ को एक सूत्र में बांध रखा है। आत्मा और प्रत्येक जड़-जीव एक-दूसरे में अंतर्निहित एकात्म हैं। उन्हें अलग-अलग रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

आत्मा को न कोई काट सकता है, न पानी में डुबा सकता है, न जला सकता है, न गाड़ सकता है। आत्मा से उत्पन्न जड़ व जीव का स्थूल शरीर भले ही कट जाए, पानी में डूब जाए, जल जाए अथवा जमीन में गाड़ दिया जाए, उसकी आत्मा कल भी विद्यमान थी और आज भी है। जिस मानव को स्वयं में आत्मा की प्रतीति हो जाती है, वह बार-बार कटने, डूबने, जलने और गड़ने से बच जाता है और मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

राजा जनक अष्टावक्र के उपदेश सुनकर इस सत्य से भलीभांति अवगत हो जाते हैं। वह आत्मस्वरूप, आत्मामय हो जाते हैं, उनका '**मैं**' विराट आत्मा में परिवर्तित हो जाता है। वह अपने नए स्वरूप से अभिभूत होते हैं और अष्टावक्र से कहते हैं-'मैं आश्चर्यचकित हूं, स्वयं का ही नमन करता हूं। मैं एक होते हुए भी अनेक देहों समाहित हूं। कहीं भी आता-जाता नहीं, फिर भी संपूर्ण विश्व में अवस्थित हूं।'

अष्टावक्र राजा जनक के कथन से सिद्ध करना चाहते हैं कि आत्मा सर्वथा निश्चल, अडिग और गतिहीन है, ऐसी स्थिति में भी वह विश्व के ओर-छोर में व्याप्त है। आत्मा एक है और यही एक आत्मा सबमें समाई हुई है। उसी एक आत्मा से जुड़ा है, विश्व, जीव और जड़।

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेणयेन विश्वं चिरं धृतम्॥१३॥

भावार्थ: मैं आश्चर्यचकित हूं। स्वयं को नमस्कार करता हूं। विश्व में मुझ जैसा दक्ष कोई नहीं। मैं शरीर का स्पर्श नहीं करता, ऐसी स्थिति में भी विश्व को चिरकाल तक धारण करता हूं।

विवेचना: आत्मा स्वयं में संपूर्ण है, अतः दक्ष व चतुर है। राजा जनक आत्मलीन होते ही आत्मा की प्रबलता की अपने अंतर में स्पष्ट अनुभूति करते हैं।

वस्तुतः मानव को अपने अंतर में आत्मा की अनुभूति के प्रति आस्था होने पर वह आत्मस्वरूप हो जाता है। वह आत्मा का स्पर्श नहीं कर पाता, न ही आत्मा उसका स्पर्श करता है। आत्मा निराकार होता है और आत्मस्वरूपी भी निराकार हो जाता है। आत्मस्वरूपी विश्व में रहकर शारीरिक कार्यों का संपादन अवश्य करता है, किंतु शरीर में लीन नहीं होता, देह के प्रति मोहित नहीं होता। आत्मा की दक्षता यह है कि वह शरीर में है, किंतु शरीर का स्पर्श नहीं करता, इस पर भी विश्व उसमें समाहित है।

राजा जनक ने आत्मज्ञान होते ही यह दक्षता अपने अंतर में अनुभूत की। उन्हें संपूर्ण विश्व आत्मामय दिखने लगा। सबकुछ आत्मा से संबद्ध, सबकुछ आत्मा में पिरोया हुआ, सबकुछ एक सूत्र में बंधा हुआ। मानो **आत्मा** नहीं तो **कुछ** भी नहीं। किंतु आत्मा किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता, किसी का स्पर्श नहीं करता, केवल आत्मज्ञानी आत्मा की प्रतीति करता है, वही प्रतीति उसे स्वयं के आत्मा होने का भान करवाती है।

आत्म-अज्ञानी को आत्मा की प्रतीति नहीं होती। उसमें भी आत्मा होता है, किंतु वह अपने अंतर में आत्मस्वरूप की अनुभूति करने में विफल होता है। उसे लगता है, आत्मा कोई बाहरी वस्तु है, जबकि आत्मा अंदर-बाहर सब जगह विद्यमान है। आत्म-अज्ञानी को लगता है, मेरी सत्ता और आत्मा की सत्ता अलग-अलग है, मैं अपने आप में संपूर्ण और समर्थ हूं, अपने हाथ-पैर और मस्तिष्क से जो चाहूं, करने में सक्षम हूं। मरणोपरांत ही मेरे प्राण आत्मा बनकर नई योनि को प्राप्त होंगे। इस प्रकार वह नवीन देह धारण करता है,

बार-बार मरता है। उसे लगता है, यही उसकी नियति है। परमात्मा की इच्छा के बिना कुछ भी संभव नहीं।

वस्तुतः आत्म-अज्ञानी जीते-जी मृत समान होता है, क्योंकि वह स्वयं को किसी अज्ञात-अनजानी शक्ति का दास समझता है, परमात्मा के भय और कोप से सदैव असहज जीवन व्यतीत करता है। अपने प्रति ही दीन-हीन और शंकालु हो जाता है। जबकि अष्टावक्र इस बात पर बल देते हैं कि तुम किसी अज्ञात-अनजानी शक्ति के दास मत बनो, तुम्हें किसी अज्ञात-अनजाने परमात्मा के भय और कोप से असहज जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता नहीं, स्वयं पर विश्वास रखो, तुम्हीं शक्ति हो। अपनी भुजाओं पर आस्था रखो। तुम ही परमात्मा हो, आत्मा सिर्फ बाहर ही नहीं, तुम्हारे अंदर भी है। इस सत्य को जब तक निष्ठापूर्वक आत्मसात नहीं करोगे, तब तक मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं।

राजा जनक ने यह सत्य निष्ठापूर्वक आत्मसात किया और उनका 'मैं' आत्मा बन गया, वे विशुद्ध परमात्मा बन गए, अपनी शक्ति और अपने दृष्टा वे आप थे कोई अन्य नहीं था। वे अपने प्रकाश से आप आलोकित थे और उनके प्रकाश से सारा विश्व आलोकित था, वह परवश नहीं थे, स्ववश थे।

आत्मज्ञान पाकर राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'मेरे आश्चर्य का अंत नहीं, मुझसे महान कोई नहीं, अतः मैं स्वयं को नमन करता हूं। इस विश्व में मुझसे दक्ष अन्य कोई नहीं। तभी मैं शरीर का स्पर्श किए बिना चिरकाल से विश्व को धारण करता हूं।'

राजा जनक की इस स्वीकारोक्ति से सिद्ध होता है कि संपूर्ण विश्व आत्मामय है, आत्मा साकार नहीं, निराकार व अदृश्य है, वह किसी का स्पर्श नहीं करता, इस पर भी विश्व को धारण कर रखा है। आत्मा है, इसलिए विश्व है। विश्व नश्वर है, उसका अंत भी हो जाए तो आत्मा का अंत नहीं होता। विश्व पुनः अस्तित्व में आता है तो आत्मा से स्फूर्त होता है। आत्मा की सर्व व्यापकता असंदिग्ध है।

अहो अहं नमो मह्यं यस्य में नास्ति किंचन।
अथवा यस्य मे सर्व यद्वाङ्मनसगोचरम्॥१४॥

भावार्थः मैं आश्चर्यचकित हूं। स्वयं को ही नमन करता हूं। किंचित मात्र भी मेरा नहीं अथवा वाणी और मन से संबद्ध सर्व विषय मेरे हैं।

विवरणः आत्मज्ञानी राजा जनक को आत्मा की प्रतीति होती है तो वह निरपेक्ष, निर्लोभी और निष्काम हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि उनके पास सबकुछ उपलब्ध है, पर आत्मा को भौतिक उपलब्धियों से क्या लेना-देना, आत्मा तो अपने आप में उपलब्धि है।

आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी में यही भेद है। आत्म-अज्ञानी भौतिक उपलब्धियों को सर्वस्व मानता है। वह आजीवन ऐश्वर्य, संपन्नता और सुख की कामनाओं का पीछा करता है। एक कामना पूरी होती है तो नई-नई कामनाएं जन्म लेती हैं। वह कामनाओं के कारागार से कभी बाहर नहीं निकल पाता। काम, क्रोध और लोभ के तमोगुण से उसका मन व वाणी दूषित हो जाती है, किंतु वह इसे ही वास्तविक जीवन मानता है, अधिक-से-अधिक उपलब्धियां पाना उसका एकमात्र लक्ष्य हो जाता है। वह नहीं जानता कि इन कुप्रवृत्तियों से वह अपना इहलोक और परलोक नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है।

जो शरीर को महत्त्व देता है, उसका मन व वाणी पर अधिकार नहीं रहता। मन उसे सतत् उकसाता है, अधिक कामी और लोभी बनाता है। मन की विकलता से वह ईर्ष्यालु, शंकालु और लालची बन जाता है। वह दूसरे का वैभव देखकर ईर्ष्या से दग्ध हो जाता है, उसे सदैव यह शंका रहती है कि सारी दुनिया उसके विरुद्ध षडयंत्र रच रही है, अधिक पाने की लालसा उसका पीछा नहीं छोड़ती। उसकी वाणी पर दंभ और अहंकार का अधिकार हो जाता है। वाणी से जो भी शब्द निकलता है, वह दंभोक्ति और अतिशयोक्ति से अधिक कुछ नहीं होता। वह एक ओर तो स्वयं को शारीरिक रूप से शक्तिशाली मानता है, जबकि मानसिक रूप से स्वयं को अशक्त, कायर और परवश मानता है, क्योंकि वह परमात्मा नामक अन्य सत्ता की दया और कोप से सदैव आशंकित होता है।

आत्मज्ञानी ऐसी जीवनशैली को हेय मानता है। राजा जनक का भाव-जगत आत्मानुभूति से नवीन रूप धारण करता है। वह भौतिक उपलब्धियों से परे हो जाते हैं, अपरिचित हो जाते हैं। आत्मा कामनारहित होती है, देहधर्मी कामनाओं में आकंठ डूबा रहता है लेकिन आत्मदर्शी नहीं डूबता। आत्मदर्शी अपनी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा हो जाता है, अपनी शक्ति और ऊर्जाओं से संपन्न, अपना अधिकारी आप। आत्मा के चैतन्य रूप से उनका शरीर संतृप्त हो जाता है। स्वयं के परमात्मा होने का भान उन्हें निर्भय और निश्शंक बना देता है। वह आत्मानुभूति से अभिभूत हो जाते हैं, दक्ष और समर्थ बन जाते हैं। उन्हें किसी बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं प्रकाश हैं।

राजा जनक अपनी नवीन मानसिक अवस्था से अष्टावक्र को अवगत कराते हुए कहते हैं-'मेरे आश्चर्य का पारावार नहीं। मैं स्वयं का नमन करता हूं। देखिए तो, जगत के लोग किस भांति सबकुछ झपटने को आतुर हैं, सबकुछ पाने की चाह में एक-दूसरे से धोखा करते हैं, षड्यंत्र रचते हैं, मन

और वाणी के विषयों से संबद्ध प्रत्येक वस्तु पाने के लिए एक-दूसरे से झगड़ते हैं। आपकी कृपा से मुझे आत्मज्ञान हो गया है। निस्संदेह **मैं** तो **आत्मा** हूं। **आत्मा** को कुछ नहीं चाहिए, **आत्मा** का कुछ नहीं। आत्मा तो स्वयं सबमें विद्यमान है। इसलिए सबकुछ आत्मा का है। वाणी और मन के समस्त विषयों पर आत्मा अवस्थित है। अर्थात आत्मा का कुछ नहीं, इस पर आत्मा का सबकुछ है।

अष्टावक्र की स्पष्ट मान्यता है कि मानव को अपनी शक्ति और ऊर्जा का भान होना चाहिए, अन्यथा वह अपना जीवन व्यर्थ गंवा देगा। उसे स्वयं में आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए, तभी वह स्वयं की शक्ति और ऊर्जा से परिचित होता है, तभी उसमें भौतिक उपादानों के प्रति लोभ नहीं उपजता। वह आत्मावत होकर निरपेक्ष, निरंजन, निर्लोभी और अपना परमात्मा आप हो जाता है।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोहमस्मि निरंजनः॥१५॥

भावार्थः ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता–इन तीनों की कोई वास्तविकता नहीं। ये तीनों अज्ञानी को ही सत्य प्रतीत होते हैं, जबकि मैं निरंजन हूं।

विवेचनाः ज्ञान (जानकारी), ज्ञेय (जानने योग्य) और ज्ञाता (जानकार) क्या है? ये सब एक-दूसरे से असंबद्ध और विपरीत हैं। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के विभिन्न रूप हैं, विविधाएं हैं और बहुआयाम हैं। एक ज्ञाता कहता है, कर्म किए जाओ, फल की इच्छा मत करो। दूसरा कहता है, फल की इच्छा ही कर्म की प्रेरक शक्ति है। तीसरा ज्ञाता कहता है, सांसारिक बंधन व्यर्थ हैं। चौथा ज्ञाता कहता है, सांसारिक बंधन का निर्वाह मानव की सबसे बड़ी परीक्षा है। कल का ज्ञान आज निरर्थक है। आज का ज्ञान कल किसी के काम का नहीं रहेगा। सच तो यह है कि कोई ज्ञान अंतिम नहीं, कोई ज्ञान सिद्ध नहीं, तभी तो विभिन्न मत, मठ और विचारधाराएं सदैव अस्तित्व में रही हैं।

अष्टावक्र की दृष्टि में ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञाता की कोई वास्तविकता नहीं। वास्तविकता है तो एकमात्र आत्मा की। आत्मा के अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं। आत्मा स्वयं ज्ञान है।

राजा जनक को आत्मबोध होता है तो वह ज्ञानमय, आत्मामय हो जाते हैं। ज्ञान पाने के लिए वही भटकता है, जो आत्म-अज्ञानी होता है, जिसने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया होता। आत्मा के साक्षात्कार का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा को आंखों से देखा जाए, वह तो निराकार है। आत्मा के साक्षात्कार

का अर्थ है, आत्मानुभूति, स्वयं को आत्मा मानने का आस्थामय विश्वास।

राजा जनक को अष्टावक्र के विचार सुनकर स्वयं को आत्मा मानने का आस्थामय विश्वास हो जाता है। अब न उन्हें ज्ञान की आवश्यकता है, न ज्ञेय और न ज्ञाता की। वह उनकी निस्सारता से अवगत हो जाते हैं। आत्मज्ञान, प्राप्त करने के बाद अन्य किसी ज्ञान का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के विभिन्न सत्यों पर से उसकी आस्था समाप्त हो जाती है। उन्हें विश्वास हो जाता है कि आत्मा के सत्य के अतिरिक्त कोई अंतिम सत्य नहीं।

आत्म-अज्ञानी विभिन्न सत्यों के पीछे भागता है। उसे कभी जीवन और मरण सत्य प्रतीत होता है तो कभी जीवन की निस्सारता को वह सत्य मान बैठता है। आयु के साथ उसके सत्य भी बदलते रहते हैं। वह वृद्धावस्था में वैराग्य को परम सत्य मानकर परमात्मा की तलाश करता है।

अष्टावक्र की दृष्टि में जीवन निस्सार नहीं, मूल्यवान और अर्थवान है, किंतु मानव आत्मज्ञान के अभाव में उसकी सार्थकता से परिचित नहीं हो पाता। वृद्धावस्था में वैराग्य धारण कर उसे परमात्मा को तलाश करने की आवश्यकता नहीं। वह अपने अंदर आत्मानुभूति करे तो उसे स्वयं के परमात्मा होने की प्रतीति होगी, तब न उसे वैराग्य सताएगा और न परमात्मा की खोज करने की आवश्यकता होगी।

राजा जनक को स्वयं परमात्मा की खोज करने की निरर्थकता का भान हो चुका है। उन्हें अपना '**स्व**' परमात्मा प्रतीत हो रहा था। वे आत्मामय होकर इस ज्ञान को प्राप्त कर चुके थे कि मैं ही ज्ञान हूं, **मैं** ही ज्ञेय हूं और **मैं** ही ज्ञाता हूं। मुझसे बड़ा कोई ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान नहीं। मेरी दृष्टि में इनकी कोई यथार्थता नहीं, वास्तविकता नहीं। जो आत्मस्वरूप नहीं अर्थात जो आत्म-अज्ञानी हैं, वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता को वास्तविक और यथार्थ मानते हैं। वही भ्रमग्रस्त होकर कभी इस ज्ञाता के पास दौड़ता है, कभी उस ज्ञाता के पास। विभिन्न और विपरीत ज्ञान के चक्रव्यूह में वह कई अन्य भ्रमों का शिकार होता है।

राजा जनक को कोई भ्रम नहीं, क्योंकि वह आत्मा से परिचित हो गए हैं। उन्हें अब किसी अन्य ज्ञान से परिचित होने की इच्छा नहीं है। आत्मा इच्छारहित होती है, आत्मा स्वयं में इच्छा है, आत्मा स्वयं ज्ञान है। वह अष्टावक्र से आत्मज्ञान के पश्चात अपनी नई अवस्था से उन्हें परिचित करवाते हैं–'जब मैं आत्म-अज्ञानी था तो ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता वास्तविक प्रतीत होते थे। आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ तो इनकी अवास्तविकता का मुझे भान हुआ। ज्ञान, ज्ञेय और

ज्ञाता में दोष हो सकते हैं, किंतु आत्मा में नहीं। अतएव मैं निरंजन हूं, दोषों से मुक्त और अलिप्त।'

राजा जनक के इस कथन से अष्टावक्र यह सिद्ध करना चाहते हैं कि आत्मा समस्त ज्ञानों से ऊपर है, ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता में त्रुटि हो सकती है, पर आत्मा त्रुटिविहीन है, इसलिए निरंजन है। जो निरंजन है, वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता है। जो अनात्म है, वह अनिरंजन है और भ्रामक ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के पीछे भटकता है और अपनी ऊर्जाएं और शक्तियां गंवाकर कृत्रिम जीवन जीता है।

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
द्रश्यमेतन्मृषासर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः॥१६॥

भावार्थः द्वैत ही दुख का मूल है, इसकी कोई औषधि नहीं। दृष्टिगोचर होनेवाले दृश्य मिथ्या हैं। मैं ही एक अद्वितीय और चिन्मात्र हूं।

विवेचनाः विश्व में व्याप्त सुख-दुख कुछ भी नहीं, मात्र भ्रांति और भ्रम हैं। जो द्वैत की परिकल्पना में डूबे होते हैं, उन्हें ही दुखों के भ्रम सताते हैं। द्वैत की अवधारणा ही भ्रामक है। द्वैतवाद का सिद्धांत मानव और आत्मा की सत्ता पृथक को मानता है। आत्मा और मानव में अलगाव करने का प्रयास ही दुखों का मूल है। मानव जब स्वयं आत्मा से अलग होकर देखता है तो उसे 'स्व' पर विश्वास नहीं रहता। उसका 'स्व' खंडित हो जाता है, वह अपनी ऊर्जाओं और शक्तियों का उचित उपयोग नहीं कर पाता। वह मृत्यु से भयभीत होता है, परमात्मा के कोप की कोरी कल्पनाओं से सतत् उद्विग्न रहता है। परमात्मा की दया-दृष्टि पाने के लिए वह निरर्थक साधनाएं करता है, समाधियां लगाता है। द्वैत उसे इस सत्य की प्रतीति ही नहीं होने देता कि वही आत्मा है, वही परमात्मा है। उसका दृष्टा कोई अन्य नहीं, वही अपना दृष्टा आप है। उसे परमात्मा की इच्छाओं पर जीने की विवशता झेलने की आवश्यकता नहीं, वह अपनी इच्छाओं का स्वामी आप है, अपना परमात्मा आप है। और आत्मानुभूति होते ही वह समस्त दुखों से निवृत्त हो जाता है।

राजा जनक की भी समस्त दुखों से निवृत्ति हो चुकी है, क्योंकि आत्मानुभूति से उनका 'स्व' आत्मामय हो गया है। उन्हें इस सत्य का भलीभांति भान हो गया है कि द्वैत की भ्रामक अवधारणा ही सारे दुखों का आधार है। इनसे मुक्त होने की कोई औषधि नहीं, बस, अद्वैत के सिद्धांत पर विश्वास लाओ, आत्मा की 'स्व' में प्रतीति करो, तुम्हारे सारे दुखों की निवृत्ति हो जाएगी। अद्वैत की अवधारणा में सुख-दुख का कोई अस्तित्व नहीं। उसमें सिर्फ आनंद और

उछाह है। आत्मा की प्रतीति तुम्हें स्वतंत्रता और स्वामित्व प्रदान करती है। तुम किसी असत्य सत्ता की स्वतंत्रता अथवा स्वामित्व में नहीं जीते। आत्मस्वरूप होकर तुम निरपेक्षता के भान से इच्छारहित और निरंजन होते हो।

इच्छारहित और निरंजन आत्मा दुख, कष्ट, मोह, माया और काम जैसे भावों से परे होती है। ऐसे भाव उस मानव को सालते हैं, जो इंद्रियों के वश में जीता है। आत्मानुभूति करनेवाला इंद्रियजित होता है।

राजा जनक इंद्रियजित हैं, क्योंकि उन्होंने 'स्व' की आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है। वह देहधारी होते हुए भी सर्वांग आत्मा (विदेह) थे। आत्मस्वरूप राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'अब मैं जान गया हूं कि दुख क्यों होता है, वस्तुत द्वैत-भाव ही दुखों का मूल है और इसके उपचार की कोई औषधि नहीं। बस, अद्वैत भावों के अनुसरण से इसका उपचार संभव है। मुझे अब भान हो चुका है कि जगत मिथ्या है, **मैं** अर्थात आत्मा सत्य है। ये जो दृश्य नजर आ रहे हैं, सब भ्रामक हैं, निराकार आत्मा ही परम सत्य है। **मैं** अर्थात आत्मा ही अद्वितीय और चिन्मात्र है।'

इस कथन से सिद्ध होता है कि यदि मानव आत्मस्वरूप को पहचान ले तो उसके जीने का ढंग सहज हो जाएगा। उसके हृदय में निष्कपट और निष्काम की भावना घर कर जाएगी। अद्वैत भाव के कारण ही वह प्रवंचनाओं का शिकार हो जाता है और विषय-भोग की होड़ में मन-वचन से पतित हो जाता है। अद्वैत भाव उसे इस सत्य से परिचित ही नहीं होने देता कि समस्त जीव-जगत एक ही आत्मा से संबद्ध और एक ही सूत्र में पिरोए हुए हैं। आत्मा से अलगाव की कल्पना से मानव दुखों और कष्टों को अनवरत सहता है। स्वयं में आत्मा-परमात्मा की प्रतीति उसे अद्वितीय बना देती है, क्योंकि आत्मा और मानव एक ही है। आत्मा विषय-भोग से अलिप्त है, अतः मानव को भी भोग-विलास के प्रति मोह नहीं रह पाता। यह निर्मोह उसे समस्त दुखों से मुक्त कर देता है।

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृशतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥१७॥

भावार्थः मैं बोधमात्र हूं। अज्ञानतावश ही मैंने उपाधि की कल्पना की है। किंतु नित्य विचार करके मैं निर्विकल्प में स्थित हूं।

विवेचनाः राजा जनक को स्वयं के बोध होने का विश्वास हो गया तो उनका काल्पनिक भाव-जगत पलक झपकते ही तिरोहित हो गया। बोध एकमात्र है। बोधत्व से ही संपूर्ण सृष्टि जुड़ी हुई है, समस्त जीव-जड़ आत्मा का साक्षी है, चैतन्य रूप है, बोध है।

जड़-जीव को आत्मा से असंबद्ध करना ही असत्य को अंगीकार करना है। असत्य मानव को वास्तविकताओं से कभी परिचित नहीं होने देता। वह सबको अलग-अलग रूप में देखता है और स्वयं को सबसे अलग-अलग करके अकेला हो जाता है। अकेला मानव एकत्व और पूर्णत्व का बोध नहीं कर पाता। उसका अकेलापन उसे शक्तिहीन कर देता है, वह अपने आत्मबल से विस्मृत हो जाता है। शारीरिक शक्ति ही उसे वास्तविक शक्ति प्रतीत होती है। शरीर की देखभाल और शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति उसका एकमात्र ध्येय बन जाता है। प्रत्येक अकेला मानव दूसरे मानव को संदिग्ध मानता है, उसे लगता है कि सारा जगत उसका शत्रु है, सब उसकी प्रगति में बाधक हैं, सब उससे ईर्ष्या करते हैं और सब उसे लूटना चाहते हैं। वस्तुत: अकेला मानव स्वयं सबसे घृणा, ईर्ष्या और शत्रुता करता है। वह किसी की प्रगति सहन नहीं करता, दूसरों की अर्जित उपलब्धियों को लूटने-खसोटने के षड्यंत्र रचता है, दूसरों को धोखा देने से भी नहीं चूकता।

आत्मबोध होते ही राजा जनक अकेले नहीं रह जाते हैं। स्वयं को आत्मा मानते ही उन्हें इस विराट सत्य का भान होता है कि संपूर्ण सृष्टि आत्मा से निसृत है, सृष्टि के जड़-जीव आत्मा से उत्पन्न हुए हैं, अत: यह सृष्टि, सृष्टि के सारे जड़-जीव आत्मा है। सबकुछ आत्मामय है, अत: सबकुछ एकत्व में समाहित है। मैं अकेला नहीं, मुझसे **सृष्टि** है और सृष्टि **मैं** हूं। आत्मा से अलगाव की भावना ही मानव को दिग्भ्रमित करती है। वह सोचता है कि आत्मा का अस्तित्व बाहर होता है, जबकि आत्मा उसके अंदर भी होती है, बल्कि वह स्वयं आत्मा होता है, वह इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता है कि वह परमात्मा स्वरूप है, अपना विधाता आप है। वह परमात्मा को असीम शक्ति मानता है, वह यह तो मानता है कि परमात्मा कण-कण में समाया हुआ है, किंतु वह अपना परमात्मा आप है, इस तथ्य से नितांत अनभिज्ञ होता है।

इस भ्रांति में उसे सृष्टि एकसूत्र में बंधी नहीं दीखती, सबकुछ विविधता से परिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। वह सबको विविध नामों और उपाधियों से अलंकृत करता है। यह भूल जाता है कि नाम और उपाधियां—सुविधा के लिए आविष्कृत की गई हैं, नाम और उपाधियां, जड़-जीवन एक-दूसरे से असंबद्ध नहीं हो जाते, वे एक ही आत्मा से आबद्ध हैं, अत: एक ही आत्मस्वरूप हैं, उनकी भिन्नता, उनके नाम व उपाधियां मिथ्या हैं, उनका एकात्म होना परम सत्य है। राजा जनक अष्टावक्र की कृपा से इस सत्य से परिचित हो चुके हैं कि यह जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वस्तुत: अभिन्न है। मानव आत्म-अज्ञान के

कारण ही सांसारिक दृश्यों और उपाधियों को देख-सुनकर सोचता है कि सब सबसे अलग और अनेक रूपी हैं। अष्टावक्र कहते हैं–'अलगाव और अनेकता को उसी रूप में देखना भ्रांति है, अलगाव और अनेकता में एकत्व और एकात्म है। आत्मा से विनिर्गत सृष्टि अलग और अनेक कैसे हो सकती है, सब आत्मस्वरूप में समाहित है और उनका एक ही रूप है।'

राजा जनक की भ्रांति टूटती है। वह स्वयं को आत्मा का चैतन्य स्वरूप मानते हैं। अष्टावक्र को अपने नवीन स्वरूप में बताते हुए वह कहते हैं–'मैं बोधमात्र हूं, बोध से इतर कुछ नहीं। यह समस्त सृष्टि बोध है और मैं उसी बोध का अभिन्न भाग हूं। '**स्व**' के बोध का भान होते ही मुझे यह स्वीकार करते तनिक भी विचलन नहीं कि मैं अब तक आत्मज्ञान के अभाव से भ्रांतियों में जी रहा था। मैं मात्र शरीर नहीं था, शरीर तो आत्मा का साक्षीस्वरूप था, वस्तुतः मैं आत्मा हूं, बोध हूं। अज्ञानवश ही मैंने देह को सत्य मान लिया, नामों और उपाधियों को ही महत्त्व देकर सबको अलग-थलग मानता था और स्वयं को भी सबसे अलग-थलग मानता था। आज आपकी कृपा से ज्ञात हुआ कि सब आत्मामय है, बोधमय है, मैं बोध हूं, उपाधि नहीं। इसका निरंतर विचार करने से मैं निर्विकल्प हो गया हूं, मेरा कोई विकल्प नहीं, मेरा कोई पर्याय नहीं, मैं विशुद्ध बोध हूं, मेरा नाम या उपाधि बोध का पर्याय या विकल्प नहीं हो सकते। मेरे बोध ने मुझे निर्विकल्प बना दिया है।'

राजा जनक के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आत्मा का कोई विकल्प नहीं। आत्मा किसी विभिन्नता का विकल्प नहीं हो सकती। आत्मा अखंडित है और सृष्टि उससे जुड़ी हुई अखंडित है। अतः आत्मा सर्वथा निर्विकल्प है।

नमेबंधोस्तिमोक्षोवाभ्रांतिः शांतानिराश्रया।
अहोमयिस्थितंविश्वंवस्तु तोनमयिस्थितम्॥१८॥

भावार्थः यह कैसा आश्चर्य है कि मुझमें स्थित विश्व वस्तुतः मुझमें स्थित नहीं। अतः न मैं बंधन में हूं और न मोक्ष का आकांक्षी। मैं निराश्रय हूं, शांत हूं, भ्रांति से मुक्त हूं।

विवेचनाः राजा जनक को बोध हो चुका है कि वह आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मा किसी के आश्रय में नहीं रहता, अतः राजा जनक भी निराश्रित होकर सारी भ्रांतियों से मुक्ति पाते हैं और उनका चंचल चित्त शांत पड़ जाता है।

यह सत्य है कि राजा जनक को प्रतीति है कि **विश्व** मुझसे है और मैं

विश्व से हूं। मुझमें निस्संदेह विश्व स्थित है, पर वह वस्तुतः स्थित नहीं है। अर्थात राजा जनक में विश्व अवश्य स्थित है, किंतु वह विश्व के मोहमाया से बंधे हुए नहीं हैं। उन्हें विश्व के प्रलोभन अब नहीं सता रहे।

वस्तुतः विश्व के प्रलोभन आत्म-अज्ञानी को ही सताते हैं। वह विश्व को अपने में स्थित नहीं पाता, उसे बाह्य विश्व के मोह, माया और लोभ जकड़ लेते हैं। उनके बंधन से वह कभी मुक्त नहीं होता। आनेवाला प्रत्येक नया दिन उसे अधिक लोलुप, कामुक और ईर्ष्यालु बनाता है। प्रत्येक दिन इनका बंधन कसता जाता है, और अंत में वह अपनी अनंत कामनाओं और क्षुधाओं से ऊब जाता है, एकाएक बंधन मुक्त होना चाहता है। मोक्ष की लालसा में कर्त्तव्यों से विमुख होकर वैराग्य धारण करता है।

राजा जनक के मन में मोक्ष प्राप्ति व वैराग्य धारण की इच्छा जाग्रत नहीं होती। उन्हें स्वयं के आत्मा और परमात्मा होने की प्रतीति हो चुकी है। यह सत्य उनके सामने प्रकट हो चुका है कि उनका दृश्य स्वरूप, उनका नाम, उनकी उपाधि आत्मा का चैतन्य और साक्षीस्वरूप हैं। उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए वैराग्य धारण कर वन-प्रांतरों में जाने की आवश्यकता नहीं। वह आत्मा हैं, उनमें विश्व समाहित है, किंतु उनमें बाह्य विश्व की विसंगतियां लेशमात्र भी स्थित नहीं। मोह, लोभ और वैश्विक विसंगतियों का मिथ्या मायाजाल नहीं रहा तो राजा जनक बंधनहीन हो गए, जब कोई बंधन नहीं रहा तो मोक्ष की आकांक्षा भी नहीं रही।

अर्थात जो आत्म-अज्ञानी मोक्ष की आकांक्षा में वैराग्य धारण करते हैं और पर्वतों तथा वनों में जाकर कष्टकारी साधनाओं और तपस्याओं का अवलंबन लेते हैं, वे वस्तुतः मोह-लोभ और विसंगतियों के मायाजाल के बंधन से अंत तक मुक्त नहीं हो पाते। वस्तुतः उन्हें मात्र स्वयं में आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए, तदुपरांत न कोई बंधन रहेगा और न मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा।

आत्मा की प्रतीति करते ही राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'मुझे आश्चर्य होता है कि मुझ में विश्व स्थित होते हुए विश्व स्थित नहीं है। अब मुझे विश्व के भौतिक उपादानों और सुख-सुविधाओं की चाह नहीं रही, यह सब देह की आवश्यकताएं हैं, मैं आत्मस्वरूप हूं, बोध हूं, और आत्मा व बोध दैहिक आवश्यकताओं से मुक्त होती हैं। मैं आवश्यकताओं के बंधन से जकड़ा हुआ नहीं हूं, अतः मुझे मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा नहीं। परमात्मा बंधन मुक्त होता है, उसे भला मोक्ष-प्राप्ति की कैसी इच्छा। मैं परमात्मा हूं, मैं

मोक्षसिद्ध हूं। मुझे किसी आश्रय या सहारे की आवश्यकता नहीं, मैं निराश्रय हूं, मेरी सारी भ्रांतियों का विनाश हो चुका है, अतः मैं परम शांत हूं।'

राजा जनक की इस स्वीकारोक्ति पर अष्टावक्र इस सत्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि जो आत्म-अज्ञानी आश्रय और सहारे खोजता फिरता है, उसे '**स्व**' पर विश्वास नहीं होता, वह '**स्व**' शक्तियों से अनभिज्ञ होता है, नित्य भ्रांतियों में जीने को विवश होता है। ये भ्रांतियां क्या हैं? देह को प्रमुखता देना, आत्मा की प्रतीति न करना, भौतिक उपलब्धियों की चाह करना, मोक्ष की कामना करना, कृत्रिम परमात्मा की तलाश में भटकना।

अष्टावक्र का एकमात्र कथन यही है कि परमात्मा की तलाश में भटकने की आवश्यकता नहीं, तुम अपने परमात्मा आप हो। यह मत सोचो कि तुम मरणोपरांत आत्मा बनोगे, आत्मा तो सदैव तुम्हारे अंदर है, तुम आत्मस्वरूप हो, यह सत्य जिसने पा लिया, वह बंधनमुक्त हो जाता है, न बार-बार जन्म लेता है, न बार-बार मरता है, वह मोक्ष सिद्ध हो जाता है।

सशरीरमिदं विश्वं नकिंचिदिति निश्चितम्।
शुद्धचिन्मात्रआत्माचतत्कस्मिंकल्पनाधुना॥१९॥

भावार्थः निश्चित रूप से शरीर सहित इस विश्व का किंचित भी अर्थ नहीं। यह विशुद्ध चिन्मात्र आत्मा है, इसके अतिरिक्त इसकी कोई अन्य कल्पना नहीं की जा सकती।

विवेचनाः राजा जनक के आत्मस्वरूप को इस सत्य का दर्शन हो जाता है कि शरीर सहित इस विश्व का सारा तानाबाना निरर्थक है। न शरीर का महत्त्व है और न विश्व का। सबकुछ मिथ्या व भ्रम है।

आत्मज्ञान के अभाव में लोग मिथ्या और भ्रम को सत्य मान बैठते हैं। उन्हें शरीर और आत्मा ही सर्वोपरि दृष्टिगोचर होता है। वह अपनी शारीरिक इच्छाओं का पोषण करते हैं, विश्व के मायावी तानो-बानों में उलझते हैं। वस्तुतः विश्व के दृश्य रूप का कोई अर्थ नहीं, यह शरीर निरर्थक है।

राजा जनक को अष्टावक्र के उपदेशों से विदित होता है कि विश्व और शरीर और कुछ नहीं, मात्र आत्मा के साक्षीस्वरूप हैं। शरीर अथवा विश्व से सम्मोहित होने के स्थान पर यदि यह स्मरण रखा जाए कि आत्मा सर्वोपरि है तो ज्ञात होगा कि शरीर व विश्व आत्मा की उत्पत्ति हैं और एक-दूसरे से पृथक नहीं। आत्मा की उत्पत्ति होने के कारण वे भी आत्मस्वरूप हैं, अतः आत्मा की भांति इच्छाहीनता ही मानव की नियति है।

राजा जनक सारी इच्छाओं से रहित हो गए। उन्हें विश्व की निस्सारता का

भलीभांति ज्ञान हो गया। उनमें विश्व भले ही स्थित था, किंतु वह विश्व की बाह्य चकाचौंध से प्रभावित नहीं होते। शरीर सहित यह विश्व निस्संदेह निरर्थक है। वस्तुत: शरीर सहित विश्व है क्या? क्या शरीर का रखरखाव और आनंद-भोग ही सत्य है? क्या विश्व के पदार्थों में ही सत्य विद्यमान है? क्या पदार्थों की प्राप्ति में ही शरीर की सार्थकता है? नहीं—शरीर सहित विश्व शुद्ध चिन्मात्र आत्मा है, आत्मा का चैतन्य रूप है। आत्मा निराकार है और शरीर सहित विश्व निराकार आत्मा का साकार स्वरूप है। **आत्मा** से ही सृजित यह **शरीर** सहित **विश्व** वस्तुत: विशुद्ध आत्मा ही है, **आत्मा** से अलग इसकी कल्पना की ही नहीं जा सकती।

राजा जनक को जब बोध हो गया, जब उन्हें स्वयं के चैतन्य का भान हो गया तो आत्मा से पृथक अपनी कल्पना नहीं कर सके। वे विशुद्ध चिन्मात्र आत्मा हो गए। सशरीर विश्व विशुद्ध आत्मा का मात्र चैतन्य स्वरूप है। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'बोध की प्रतीति होते ही शरीर व विश्व की निरर्थकता से मैं परिचित हो चुका हूं। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि शरीर सहित यह विश्व कुछ नहीं है, इसका आत्मा से अलग कोई स्वरूप नहीं, वरन् यह आत्मा से ही अभिन्न रूप से जुड़ा है। इसके अतिरिक्त शरीर सहित विश्व का कोई और अर्थ ही नहीं है कि यह आत्मा का चिन्मात्र है, मात्र चेतनास्वरूप है। इससे अधिक इसकी कल्पना की ही नहीं जा सकती।'

अष्टावक्र राजा जनक की उक्ति के द्वारा यह बताना चाहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त किसी और की कल्पना नहीं की जा सकती। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जब आत्मा ही सबकुछ है, उसके बिना किसी का अस्तित्व संभव ही नहीं तो आत्मा के अतिरिक्त कुछ और कल्पना करने का प्रश्न ही कहां उठता है। आत्मा की न तो किसी से तुलना की जा सकती है और न ही उससे आगे किसी की कल्पना की जा सकती है। जो आत्मज्ञानी होता है, वह आत्मा-परमात्मा के परम पद को प्राप्त होता है। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, शरीर और विश्व के दृश्य स्वरूप से वह निष्प्रभावित होता है। वह मात्र एक ही सार्थक कल्पना करता है कि **उसका शरीर** और **यह विश्व** निराकार **आत्मा** का **साकार स्वरूप** हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह प्रथम और अंतिम कल्पना है।

शरीरं स्वर्गनरकौ बंधमोक्षौ भयं तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत्किमेकार्यचिदात्मनः॥२०॥

भावार्थ: शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष तथा भय कल्पना मात्र हैं। इस शरीर में सन्निहित चिदात्मा का इन सबसे क्या संबंध है?

विवेचना: कुछ शास्त्रों में शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष और भय आदि अवधारणाओं की परिकल्पना की गई है, जिनका वास्तविक मूल्यों से कोई संबंध नहीं। ऐसे शास्त्र आत्मिक सत्ता के स्थान पर शारीरिक सत्ता को महत्त्व देते हैं, बल्कि दोनों सत्ताओं के पृथक अस्तित्व को सत्य मानते हैं। उनका मानना है कि आकाश की अनंत ऊंचाइयों में कहीं स्वर्ग व नरक अवस्थित है, जहां मर्त्यलोक के प्राणी पाप व पुण्य के प्रभाववश पहुंचते हैं, तदुपरांत जन्म-मरण के बंधन से बचने के लिए मोक्ष की परिकल्पना करते हैं। उन्हें सदैव परमात्मा का भय सताता रहता है। अष्टावक्र की दृष्टि में इन सबका कोई अस्तित्व नहीं, यह कोरी कल्पनाओं का केवल पिटारा मात्र है।

वस्तुत: आत्मज्ञान के अभाव में मानव शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष तथा भय को वास्तविक मान लेता है, और यहीं से अपनी शक्तियों व निज प्रकाश से आंखें मूंद लेता है। इच्छाओं, अभिलाषाओं का बंधन उस पर हावी हो जाता है। निरंतर अपकर्म करता है। अपने पापों को याद कर स्वर्ग-नरक की कल्पना करता है। मोक्ष की इच्छा से सद्कर्म करता है। सद्कर्म भी कैसे? वह दान देता है, मंदिरों में भक्तिभाव से जाता है, परमात्मा के दर्शन की अभिलाषा में तप व साधना करता है, पर उसे तथाकथित मोक्ष नहीं मिलता। वह मरण के चक्र में सदैव फंसा रहता है।

वह सोचता है, परमात्मा उसे जिस स्थिति में रखेगा, उसी में जीवित रहना उसकी विवशता है, जबकि **आत्मज्ञानी** अपने आप में **आत्मा** की प्रतीति करता है, **स्वयं** को **परमात्मा** के रूप में देखता है, वह किसी काल्पनिक परमात्मा की दया के सहारे जीवित नहीं रहता। वह शारीरिक सत्ता और आत्मिक सत्ता को एकाकार कर लेता है, आत्मामय हो जाता है, अपनी नियति आप निर्धारित करता है। शरीर और विश्व के प्रति उसे कोई मोह नहीं रह जाता। सृष्टि के समस्त जड़ और चेतन **आत्मा** में समाकर आत्मा हो जाते हैं। आत्मा के अतिरिक्त आत्मज्ञानी को और कुछ नहीं दीखता। वह कल्पना करता है, तो मात्र आत्मा की, न कि शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष तथा भय की।

राजा जनक को अष्टावक्र से आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई तो वह ब्रह्मरूप को प्राप्त हो गए, आत्मलीन हो गए, आत्मा बन गए। उनको भलीभांति भान हो गया कि उनका दृश्य रूप या उनका साकार रूप निराकार आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, अत: वह इंद्रियजित बन गए, निर्भय और निमग्न हो गए, निश्शंक और प्रशांत हो गए। वह अष्टावक्र से कहते हैं–'आपकी कृपा से मुझे सत्यानुभूति

हो गई है कि आत्मा परम सत्य है। शरीर, स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष और भय की अवधारणाएं सर्वथा काल्पनिक हैं, यथार्थ से इनका कोई संबंध नहीं। यथार्थ तो आत्मा है, जो मैं हूं, मुझ चिदात्मा का इन काल्पनिक अवधारणाओं से क्या संबंध?'

राजा जनक के इस कथन से आत्मा की महत्ता पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है, जिसे आत्मस्वरूप का भान हो जाता है, वह निज प्रकाश से आलोकित हो जाता है। सूर्य का आलोक भी निज प्रकाश के सम्मुख हीन और प्रभामुक्त है। आत्मा की प्रतीति से वह दृष्टा हो जाता है, वह किसी काल्पनिक दृष्टा के भरोसे नहीं जीता। विश्व और शरीर के सम्मोहन उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। उसे यहीं स्वर्ग और मोक्ष जैसी निधियां मिल जाती हैं, जबकि आत्म-अज्ञानी यहीं पर शरीर स्वर्ग, नरक, बंधन, मोक्ष और भय से पीड़ित रहता है। आत्मज्ञानी आत्मस्वरूप हो जाता है तो उसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका तो इन भ्रामक व काल्पनिक अवधारणाओं से कुछ लेना-देना ही नहीं। वह आत्मा होकर विराट और असीम हो गया है। आत्मा की भांति सर्वत्र व्याप्त है।

अहो जनसमूहोऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥२१॥

भावार्थः आश्चर्य तो यह है कि जनसमूह में भी मुझे द्वैत का दर्शन नहीं होता। मेरी दृष्टि में जनसमूह अरण्यवत हो गया है, अतः किससे प्रीति रखूं।

विवेचनाः कल तक राजा जनक शरीर थे, विश्व और विश्व के पदार्थ उन्हें मोह लगते थे, सुख-दुख की अनुभूतियां उन्हें अभिभूत करती थीं, स्वजन व परजन में भेद करते थे, उनमें भी घृणा और प्रीति की भावनाएं थीं, वे अहंकार और स्वार्थ से आक्रांत थे।

आत्मज्ञान होते ही वह पलक झपकते समस्त भावनाओं व दुर्भावनाओं से मुक्त हो गए। सामने वही कल का विश्व था, विश्व में चतुर्दिक मोह पदार्थों की आज भी कमी नहीं थी, सुख-दुख की अनुभूतियां, स्वजन-परजन का भेद, घृणा, प्रीति, स्वार्थ और अहंकार का आज भी बोलबाला था, किंतु राजा जनक सबसे तटस्थ हो गए थे। तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण का चिरकाल से अस्तित्व रहा है, किंतु आत्मज्ञानी इनसे कभी संपृक्त नहीं होते। आत्मज्ञानी का **निजत्व** आत्मा में समाहित होकर **आत्मा** का अंग बन जाता है। उसे समस्त विश्व, विश्व का जनसमूह एक ही आत्मा से सृजित, एक ही आत्मा में पिरोया हुआ प्रतीत होता है। वह द्वैतवादियों की भांति शरीर, विश्व और आत्मा

की पृथक सत्ताओं में विश्वास नहीं रखता। सबमें आत्मा है, आत्मा में सब हैं, आत्मा से अलग कुछ नहीं, अतः जड़-चेतन एक सूत्र में आबद्ध एक आत्मा ही है।

आत्म-अज्ञान से पीड़ित मानव सदैव भावनाओं-दुर्भावनाओं से घिरा रहता है। प्रीति-शत्रुता, दुख-सुख, ईर्ष्या-षड्यंत्र और स्वजन-परजन के सीमित भाव-जगत में कैद होकर वह आत्मा को बाह्य जगत की कोई विचित्र वस्तु समझने की भूल करता है। राजा जनक इस भूल से स्वयं को अलग कर चुके थे, उन्हें '**स्व**' की आत्मा के दर्शन हो चुके थे, विश्व के पदार्थ, शरीर, दुख-सुख, ईर्ष्या-षड्यंत्र अपने स्थान पर थे, किंतु इनसे वह असंबद्ध और असंपृक्त थे। विश्व में क्या है, भला है या बुरा है, इनसे राजा जनक का कोई प्रयोजन नहीं था। वह सांसारिक होते हुए भी असांसारिक हो गए, विश्व उनमें स्थित था, किंतु वह विश्व की भावनाओं-दुर्भावनाओं को चित्त में स्थान नहीं देते। उनकी दृष्टि विभेद करना नहीं जानती, वह तो जड़-चेतन और आत्मा को संयुक्त रूप में देखती थी। वह नहीं मानते कि वृक्ष में पृथक आत्मा है तो गाय और मानव में पृथक। सभी एक ही आत्मा के पृथक और साकार रूप होते हुए भी एक आत्मा में समाए हुए एकात्म ही थे।

आत्मज्ञान होने के उपरांत राजा जनक में यह जो नया सोच उत्पन्न हुआ, उसकी स्वीकारोक्ति वह अष्टावक्र से यों करते हैं–'आपके विचारों से मैं अत्यंत अभिभूत हूं। आश्चर्य तो यह है कि जनसमूह में भी मुझे कहीं द्वैत नजर नहीं आता है, अर्थात जनसमूह में मैं जन-जन को अलग रूप में देखने में असमर्थ हूं। मुझे संपूर्ण जनसमूह एक ही रूप में दिखता है, एक ही आत्मा में समाहित, एक ही आत्मा के सूत्र में पिरोया हुआ एक ही रूप। आत्मा से निसृत यह जनसमूह आत्मा से पृथक हो भी तो नहीं सकता। जनसमूह और आत्मा अद्वैत हैं, द्वैत होने का भान मिथ्या है। जनसमूह का अस्तित्व मेरी दृष्टि में अरण्यवत हो गया है, अतः मुझे समझ में नहीं आता कि मैं किससे प्रीति करूं?'

इससे स्पष्ट है कि आत्मा न प्रीति करती है, न अप्रीति। प्रीति-अप्रीति का भाव देह-धर्मियों के व्यवहार में अवश्य दृष्टिगोचर होता है। यह प्रीति-अप्रीति ही उन्हें सांसारिक मोहमाया में उलझाती है। ऐसे ही लोगों को जनसमूह का जन-जन पृथक प्रतीत होता है और वे स्वयं में आत्मानुभूति करने में असमर्थ होते हैं। सर्वत्र उन्हें द्वैतानुभूति होती है।

अष्टावक्र राजा जनक के कथन के माध्यम से अद्वैत की सार्थकता को

चिह्नित करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि सुख-दुख से मुक्त होने की अनुभूति ही मोक्ष है, मोक्ष के लिए जप, तप या साधना के आयोजन निरर्थक हैं। यदि मानव स्वयं को आत्मा का अभिन्न रूप मान ले तो वह सांसारिक कर्त्तव्य निभाते हुए भी सांसारिक मोहमाया से निर्लिप्त रहता है, ठीक उसी तरह जैसे राजा जनक में विश्व स्थित है, किंतु उनमें विश्व इसलिए स्थित नहीं है, क्योंकि वे विश्व के पदार्थों से संपूर्ण जड़-चेतन से जुड़ जाते हैं।

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा॥२२॥

भावार्थः मैं देह नहीं हूं, मेरी देह नहीं है, न ही मैं जीव हूं। निस्संदेह मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूं। मेरी जीवित रहने की स्पृहा ही मेरा बंधन है।

विवेचनाः निस्संदेह जीवित रहने की इच्छा मानव के पतन का एकमात्र कारण है। जीवित रहने की इच्छा ही उसे अपकर्म करने को बाध्य करती है। वह भौतिक प्रतिद्वंद्विता की दौड़ में सबसे आगे रहना चाहता है। वह सर्वाधिक संपन्नता पाना चाहता है। धन, पद और गौरव की लोलुपता में उसे कोई भी कर्म-कुकर्म करने में हिचक नहीं होती। जीवित रहने की लालसा के बंधन में अंततोगत्वा वह **स्वयं** को **स्वयं** द्वारा कैद कर लेता है। जीवन की वास्तविकताओं, सचाइयों से उसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वह अपनी सचाई से भी अनभिज्ञ होता है। उसे लगता है कि वह पंच तत्त्वों-पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल और आकाश से निर्मित साकार पुतला है, जो परमात्मा की संकेतों पर नर्तन करता है। वह जानता है कि एक दिन उसे मर जाना है, अतः जितनी आयु मिली है, उसे वह संपूर्णता से जीना चाहता है। उसकी दृष्टि में संपूर्णता का अर्थ है, अधिक संपत्ति, अधिक यश, अधिक गौरव। इनकी अधिकता उसे अधिक अहंकारी और ईर्ष्यालु बनाती है। वह स्वयं को सबसे महान व श्रेष्ठ समझता है, यद्यपि वह सबसे तुच्छ होता है।

राजा जनक की बंद दृष्टि अष्टावक्र के उपदेशों से खुल जाती है और उनकी तुच्छता तिरोहित हो जाती है। उन्हें भान होता है कि जो जीवन वह जी रहे थे, वह कृत्रिम था, तथापि जीने की लालसा से वह अधीर रहते थे। यह जीवित रहने की तीव्र आकांक्षा ही उनका बंधन था, मोह था। अब वह इस बंधन व मोह से सर्वथा मुक्त थे।

अष्टावक्र राजा जनक की इस उक्ति से यह सिद्ध नहीं करना चाहते कि जीवित रहने की इच्छा से मुक्ति का अर्थ यह है कि मृत्यु की शरण लो। अष्टावक्र जीवन-त्याग नहीं चाहते। मृत्यु को तो समयानुसार सब प्राप्त होंगे।

अष्टावक्र की जीवन के प्रति आस्था है। वह मात्र यह चाहते हैं कि जीवन का मोह-त्याग कर समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करो, किंतु लालसाओं से संलिप्त होना ही जीवन को निरर्थक करना है।

राजा जनक आत्मामय हो गए थे, अत: स्वयं की, विश्व की और आत्मा की वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं रहे थे। **विश्व** और **वह** आत्मा के अभिन्न भाग थे, अत: वह **आत्मा** के निरपेक्ष हो गए और **आत्मा** के पदार्थ **आत्मा** की भांति उनकी दृष्टि में शून्य और निराकार हो गए। उनमें उस प्रकार जीने की इच्छा शेष नहीं रही थी, जिस प्रकार देह-धर्मी जीते हैं, अत: वह जीने की इच्छा से बंधनमुक्त हो गए। अब वह इच्छारहित जिएंगे, निस्संग, निर्लिप्त और निरपेक्ष।

वस्तुत: आत्मा की भांति इच्छारहित, निस्संग, निर्लिप्त और निरपेक्ष होकर जीने में ही जीवन की सार्थकता है। जो स्वयं में आत्मा की उपस्थिति से परिचित हो जाता है, उसका जीवन सार्थक हो जाता है। वह जानता है कि पंच तत्त्वों से निर्मित उसका आकार आत्मा का साक्ष्य है, अत: वह साकार रूप को स्वयं का सत्य न माने, वह उत्पन्न आत्मा ही है। मात्र वही आत्मा से उत्पन्न नहीं, समस्त जड़-चेतन आत्मा के साक्ष्य हैं, और समस्त विभिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। जनसमूह उसे अनेक जनों का जमघट नहीं प्रतीत होता अपितु प्रकाश-पुंज की भांति एक शिलाखंड-सा दृष्टिगोचर होता है। उसे अपनी देह नहीं दीखती, वह देह की प्रतीति से विमुख हो जाता है। उसे स्वयं को जीव मानने की इच्छा नहीं होती, बस, लगता है कि चैतन्य स्वरूप हो गया है, वह ब्रह्म है और कुछ नहीं। ऐसा इसलिए लगता है, चूंकि उसे ज्ञान हो चुका है कि उसकी जो जीवित रहने की इच्छा थी, उसके बंधन से वह मुक्ति पा चुका है।

राजा जनक अपनी इस स्थिति को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—'आत्मा की प्रतीति होते ही मेरे सम्मुख सत्य प्रकट हो चुका है कि मैं देह नहीं। आत्मा की देह आत्मा कैसे हो सकती है। यह जो मेरी देह दृष्टिगोचर हो रही है, यह मेरी नहीं, आत्मा का चैतन्यरूप है, मैं जीव भी नहीं, मेरा जीव मेरी आत्मा का साक्ष्य है। मैं देह और जीव से मुक्त मात्र आत्मा हूं, आत्मा की भांति निज का प्रकाश मैं स्वयं हूं। मुझे किसी का आश्रय नहीं चाहिए, आत्मा की भांति निराश्रय होते ही मेरी भ्रांति समाप्त हो गई है, मेरा चित्त शांत है। भ्रांति ही जीवित रहने की इच्छा के बंधन में जकड़ती है। मेरी जीवित रहने की इच्छा का बंधन ही मुझे कामनाओं की मृगमरीचिका में अब तक भटकाता रहा था। अब न कामनाएं हैं, न मैं हूं, न मेरा शरीर। मैं न शरीर हूं, न जीव हूं, मात्र चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूं।'

चैतन्यस्वरूप ब्रह्म का अर्थ ही है देह का आत्मान्वित होना, आत्मा का देहान्वित होना। दोनों एक-दूसरे में समाकर एक हो जाते हैं। ऐसे आत्मान्वित ज्ञानी का सृष्टि से एकाकार हो जाता है। उससे सृष्टि होती है, वह सृष्टि से होता है। उसे अपने में विश्व के स्थित होने का आभास होता है, किंतु वह विश्व से सम्मोहित नहीं होता, अतः उसे अपने में विश्व की अनुपस्थिति का भी आभास होता है। उसे किसी में भी द्वैत का आभास नहीं होता। जब सभी आत्मा के अंग हैं तो स्पष्ट है, सब एकात्म हैं।

एकात्म की सत्ता की अनुभूति से राजा जनक की दृष्टि का फलक विस्तृत और विस्तीर्ण हो जाता है। उनके सम्मुख जीवन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वह अपनी नियति के स्वामी स्वयं हो जाते हैं। वह परमात्मा पर आश्रित नहीं होते, बल्कि स्वयं परमात्मा की सत्ता से एकीकृत होते हैं। इस स्थिति में उनके सारे भ्रमों, भ्रांतियों और मिथकों का नाश हो जाता है। उनके चित्त की चंचलता शांत पड़ जाती है। यही वास्तविक मुक्ति है, यही है यथार्थ मोक्ष।

अष्टावक्र का संदेश है कि तुम आत्मा में विलीन हो जाओ तो आत्मा तुम्हारे में विलीन हो जाएगी। तदुपरांत तुम साकार देह की अनुभूति से मुक्त हो जाओगे, अर्थात तुम्हारी देह को भौतिक सुखों की आसक्ति नहीं होगी। आत्मा में न अनासक्ति होती है, न आसक्ति, आत्मावत तुम भी निरपेक्ष और निरंजन हो जाओगे। कोई कामना या कोई दोष तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगा, क्योंकि तुम्हें आत्मा और परमात्मा की प्रतीति हो चुकी है। तुम मोक्ष की आकांक्षा नहीं करोगे, क्योंकि तुम स्वयं मोक्ष हो।

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक्समुत्थितम्।
मय्यनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते॥२३॥

भावार्थ: आश्चर्य का विषय है कि मैं भुवन को कल्लोलित करनेवाला विचित्र समुद्र हूं, जिसमें चित्त की वायु से अनंत तरंगें उत्पन्न होती हैं।

विवेचना: राजा जनक को प्रतीत होता है कि आत्मज्ञान सिद्ध करने के बाद वह देह-विहीन हो गए हैं और उन्होंने विश्व को कल्लोलित करनेवाले विचित्र समुद्र का रूप धारण कर लिया है। यह समुद्र क्या है? यह है ब्रह्म चैतन्य समुद्र स्वरूप। यह संपूर्ण विश्व और कुछ नहीं, केवल आत्मा के चैतन्य स्वरूप का विचित्र समुद्र है। इसी से विश्व में कल्लोल व्याप्त है।

अर्थात जब देह और आत्मा का एकीकरण हो जाता है तो उससे ब्रह्म की चेतना के समुद्र का निर्माण होता है, जिससे विश्व में कल्लोल व्याप्त है। अष्टावक्र कहना चाहते हैं कि विश्व और कुछ नहीं, समुद्र स्वरूप आत्मा व

ब्रह्म का कल्लोलित रूप है। यह कल्लोल, ये वैश्विक गतिविधियां आत्मा के समुद्र से विलग नहीं, उसी का मूर्त स्फुरण हैं।

अष्टावक्र का परामर्श है कि मूर्त स्फुरण को भूल जाओ, भुवन का कल्लोल मिथ्या है। स्मरण रखो कि तुम अमूर्त आत्मा के अंश हो, यह भुवन भी उसी का भाग है। स्वयं में ब्रह्म को आत्मसात करोगे तो तुम्हें स्वयं के निस्सीम समुद्र होने की प्रतीति होगी, तुम अनुभव करोगे कि तुमसे ही यह भुवन कल्लोलित है। अर्थात तुमसे ही **भुवन** है, भुवन से ही **तुम** हो। तुम्हारा और भुवन का उत्स आत्मा है, अतएव तुम या भुवन **आत्मा** से भिन्न नहीं, आत्मा के अविछिन्न रूप हो, बल्कि आत्मा ही हो। तुम्हारा शरीर अथवा विश्व का कल्लोल उसी आत्मा का चैतन्य और साक्ष्य स्वरूप है। आत्मा होने का बोध तुम्हें अकेला या जनसमूह नहीं होने देगा। अकेले हो कर भी तुम अकेलेपन का अनुभव नहीं करोगे। तुम्हें स्वयं में, अन्य में, भुवन में आत्मा के दर्शन होंगे, तुम्हें लगेगा सबकुछ आत्मामय है, तुम सब एक हो, एक-दूसरे से अलग नहीं। तुम्हारे अंतर्मन में आह्लाद का समुद्र उमड़ पड़ेगा, तुम्हारे अंतर्मन का यह समुद्र और कुछ नहीं आत्मा का स्फुरणस्वरूप है। तुम्हें आभास होगा कि इसी समुद्र से संपूर्ण भुवन में कल्लोल व्याप्त है।

राजा जनक को अष्टावक्र के उपदेश सुनकर ऐसा ही भान होता है, वह कहते हैं–'मैं आत्मा हूं, और उसी आत्मा से आत्मा रूपी समुद्रवत हो गया हूं, अर्थात समुद्र की भांति वकीर्ण, विशाल, असीम, जिसका कोई ओर-छोर नहीं। मेरे ही आत्मरूपी समुद्र से भुवन कल्लोलित होता है, भुवन मुझसे पृथक नहीं, वह मेरा ही रूप है, मैं उसी का रूप हूं, समस्त जीव-जगत एकरूपी हैं। समुद्र रूपी भुवन में जो अनन्त तरंगें नर्तन करती हैं, वे और कुछ नहीं, चित्त का वायु प्रतिरूप हैं। भुवन के समस्त क्रियाकलाप और गतिविधियां मेरे चित्त से जुड़ी हैं। मेरा चित्त आत्मा से जुड़ा है। अर्थात मुझ सहित यह भुवन 'एकोब्रह्म' के अतिरिक्त और कुछ नहीं। समुद्र से तरंग भिन्न नहीं, मुझसे ब्रह्म भिन्न नहीं।'

राजा जनक के इस कथन से अष्टावक्र ने चित्त की महत्ता पर प्रकाश डाला है। मानव की सारी क्रिया-प्रतिक्रियाएं, इच्छाएं-अनिच्छाएं, सबलता-दुर्बलता, वासना-वैराग्य आदि चित्त में उठनेवाले सोच-विचारों का प्रतिफल होते हैं। मानव का जैसा स्वभाव और प्रकृति होगी, चित्त उसे उसी दिशा की ओर पग उठाने को प्रेरित करेगा। आत्मज्ञान के अभाव में मानव देह के आनंद और सुख की कल्पना करेगा तो चित्त उसे भौतिक चकाचौंध तक

सीमित रखता है, वही उसकी दुनिया है, जिसमें वह कोल्हू के बैल की भांति आंखों पर पट्टी बांधकर आजीवन चलता है। जब क्लांत होकर आंखों से पट्टी उतारता है तो पाता है कि वह तो जहां से चला था, वहीं खड़ा है, अर्थात जब दुनिया में आया था तो उसकी मुट्ठी खाली थी और अब जब वह दुनिया से जा रहा है तो भी उसकी मुट्ठी खाली है। वह थका-हारा-सा खिन्नमना अज्ञान की अनंत निद्रा में सो जाता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी इस सत्यानुभूति से परिचित हो जाता है कि उसका शरीर नाक, कान, चित्त, मस्तिष्क आदि अलग-अलग अवययों का समूह मात्र नहीं हैं। मैं सर्वांग आत्मा हूं, मेरे शरीर के अलग-अलग अवयय भी आत्मा से भिन्न नहीं। अतः चित्त भी आत्मा होकर निज प्रकाश से आलोकित है, वह किसी भी प्रकार की बाह्य चकाचौंध से विचलित नहीं होता। मेरे चित्त से जो प्रत्येक उच्छवास निकलता है, उसमें वासनाओं का उद्रेक नहीं होता, चित्त की वायु से अनंत तरंगें निसृत होती हैं, जो समुद्र रूपी भुवन को कल्लोलित करती हैं। जिस मानव का जैसा स्वभाव व प्रकृति होगी, वह भुवन में उसी प्रकार के क्रिया-कलाप संपादित करता है।

अष्टावक्र का मत है कि चित्त की दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने की अनिवार्यता असंदिग्ध है। यह चित्त ही है, जो मानव को दिग्भ्रमित करता है और सत्यानुभूति का साक्षात्कार नहीं करने देता। असत्य की पगडंडी पर चलता हुआ वह अनंत जनसमूह में अकेलेपन की पीड़ा सहने को विवश हो जाता है।

राजा जनक को सत्य का राजपथ मिल गया है। उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान हो गया है, उनकी दृष्टि विस्तृत हो गई है और मस्तिष्क विशाल। उन्हें आश्चर्य होता है कि मैं आत्मा का चैतन्य व साक्ष्य स्वरूप ओर-छोर हीन विचित्र समुद्र हूं। मेरे चित्त के वायु के झोंकों से ही भुवन की क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं संभव हैं, अर्थात उन्हीं से सागर में निरंतर और अविराम नाना-प्रकार की तरंगों का सृजन हो रहा है। मुझसे यह समुद्र रूपी भुवन है और मेरे चित्त की वायु से समुद्र की तरंगें हैं, अर्थात भुवन की गतिविधियां संभव हैं। मैं, भुवन और गतिविधियां ब्रह्म की चेतना का प्रकटीकरण हैं, निराकार आत्मा का साकार साक्षीस्वरूप हैं। किंतु चैतन्य व उनकी विभिन्नता में अभिन्नता है।

मय्यनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः॥२४॥

भावार्थः मैं सर्वव्यापी समुद्र हूं, मेरी चित्त-वायु शांत पड़ जाए तो जीवरूपी वणिक के दुर्भाग्य से जगत रूपी नौका का नाश निश्चित है।

विवेचना: यह भुवन क्या है? सर्वव्यापी समुद्र है, जो चित्तवायु की तरंगों से लहराता है, अर्थात मानव के चित्त के स्वाभानुसार भुवन के क्रियाकलाप संचालित होते हैं। चित्तवायु की तरंगों का तात्पर्य है–चित्त में उठनेवाले संकल्प-विकल्प। चित्त के संकल्पों-विकल्पों से भुवन की विकास यात्रा को विराम नहीं लगता।

अष्टावक्र ने राजा जनक के माध्यम यहां पुन: आत्मारूपी समुद्र और चित्तवायु की व्याख्या को विर्स्तार से समझाने का प्रयास किया है। राजा जनक स्वयं को आत्मरूप से प्रतिष्ठित पाते हैं, तो आत्मा-परमात्मा की अनुभूति से वह दोषरहित और इच्छाविहीन हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि यह भुवन मेरे आत्मरूपी समुद्र का पर्याय है, जो चित्तवायु की तरंगों से तरंगित है। चित्तेच्छा से ही भुवन के कार्यकलाप निर्धारित होते हैं। चित्त का जैसा भाव-जगत होगा, मानव का वैसा कार्य-जगत होगा। जब तक चित्त से इच्छाएं विनिर्गत होंगी, मानव क्रियाशील होगा, जब चित्त-वायु की तरंगें उठेंगी, समुद्र की लहरों पर नौकाएं सहजता से तैर सकेंगी। चित्तवायु से समुद्र तरंगित न हो तो शांत समुद्र में नौका का डूबना निश्चित है।

जीवरूपी वणिक के समस्त सांसारिक कर्म उसके चित्त के संकल्प और निर्णय से चलते हैं, अर्थात अपने नौका रूपी जीवन को चित्तवायु की तरंगों से लहराते समुद्र यानी भुवन में वह भलीभांति चला पाता है। यदि चित्त संकल्पविहीन हो जाए, अर्थात चित्तवायु से तरंगें ही न उठें तो जीव रूपी वणिक की नौका शांत समुद्र में डूब जाएगी। इसे वह अपना दुर्भाग्य मानता है, यद्यपि इसका वास्तविक कारण होता है–चित्तवायु का निस्पंदन।

राजा जनक को भान होता है कि **चित्त** का संकल्प-विकल्प ही **प्रारब्ध** का निर्णायक बिंदु होता है। अपने कृत्यों से वह अपनी जीवन-नौका चलाता है और लोभ, मोह और माया के अपने ही चक्रव्यूह में घिर जाता है। जब राजा जनक की आत्मा सर्वव्यापी समुद्र का रूप धारण करती है और शांत चित्तवायु की प्रतीति में उन्हें परम शांति प्राप्त होती है, तब उन्हें लोभ, मोह और माया आकर्षित नहीं करती। वह निर्द्वंद्व, निर्लिप्त और निरपेक्ष हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि जीवरूपी वणिक की चित्तवायु शांत पड़ जाए तो उसके जीवन का नाश अवश्यंभावी है।

अर्थात अष्टावक्र का मत है, जब आत्मज्ञानी में लोलुपता का नाश हो जाता है तो उसकी चित्तवायु से लालसाओं की तरंगें नहीं उठतीं और आत्मारूपी समुद्र धीर-गंभीर और मंथर हो जाता है। उसमें आत्मज्ञानी की जीवन-नौका

बड़ी सहजता से चलती है। उसे जीवन-नौका के डूबने का भय नहीं रहता, वह जीवन के मोह से बद्ध नहीं है। शांत चित्त का अर्थ है मोक्ष।

राजा जनक का चित्त भी शांत है। वह अनंत समुद्र की भांति चतुर्दिक व्याप्त हो जाते हैं, उनके चित्तवायु की तरंगें शांत हैं, हृदय में कोई चाह नहीं। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'मैं सर्वव्यापी अनंत समुद्र हूं। मेरे चित्तवायु की तरंगें शांत हैं। अत: मेरे आत्मरूपी समुद्र में कोई हलचल नहीं। हलचल तब होती है, जब चित्तवायु में प्रबल आकांक्षाओं का आवेग होता है। मेरे आवेग नि:शेष हो गए, मुझे किसी प्रकार की आकांक्षाओं से मोह नहीं, अत: मेरे चित्तवायु की तरंगों में तीव्र प्रवाह नहीं। मेरी आत्मा से निसृत समुद्र रूपी भुवन भी प्रशांत है, सर्वत्र आत्मा जैसी शांति व्याप्त है। किंतु आत्मज्ञान के अभाव में जीवरूपी वणिक के चित्तवायु में तरंगित अभिलाषाओं का आवेग शांत पड़ जाए तो समुद्र में उनकी जीवन-नौका तैर नहीं सकेगी, वह अतल गहराइयों में डूब जाएगी।

यहां अष्टावक्र राजा जनक की उक्ति से दो बातें स्पष्ट करना चाहते हैं। एक तो यह कि आत्मज्ञानी आत्मा का वरण कर शांत हो जाता है और समुद्र के धीर-गंभीर पटल पर मंथर गति से जीवनरूपी नौका चलाता है। दूसरा यह कि आत्म-अज्ञानी के चित्त में आकंक्षाओं का प्रबल वेग होता है और वह उसके झोंके से लहराते समुद्र में जीवनरूपी नौका खेता है, किंतु जब चित्त में आकंक्षाओं का वेग शांत पड़ जाता है तो शांत समुद्र में उसकी जीवनरूपी नौका तैर पाने में असमर्थ हो जाती है। इससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि चित्त में संकल्प-विकल्पों की धाराएं न उठें तो विश्व के सभी क्रियाकलाप ठप हो जाते हैं। यह ठप हो जाना आत्म-अज्ञानी का दुर्भाग्य है। आत्मज्ञानी तो आत्मा में सन्निहित होकर सारे संकल्पों को सिद्ध कर लेता है, अत: उसके चित्तवायु से तरंगों का लोप जाता है और उसकी आत्मा का समुद्र रूपी भुवन शांत पड़ जाता है। यह शांति आत्मज्ञानी की मुक्ति है।

मय्यनंतमहाम्भोधावाश्चर्य जीववीचय:।
उद्यंतिंघंतिखेलंतिप्रविशंतिस्वभावत:॥२५॥

भावार्थ: आश्चर्य! मेरे अनंत महासागर रूप में जीवरूपी तरंगें उत्पन्न होती हैं, शत्रुता-मित्रता करती हैं, खेलती हैं, तदुपरांत स्वभावत: ही मुझ में विलीन हो जाती हैं।

विवेचना: आत्मा की प्रतीति होते ही राजा जनक को बोध हो जाता है कि वह अनंत महासागर हैं और उसमें जीवरूपी तरंगों अर्थात सृष्टि का सृजन

होता है। जीव निरंतर एक-दूसरे से मित्रवत या शत्रुवत व्यवहार करते हैं और खेलते हैं। अंत में समुद्र से निसृत जीव समुद्र में ही विलीन हो जाते हैं।

अष्टावक्र राजा जनक की इस उक्ति से यह तथ्य स्थापित करना चाहते हैं, सबकुछ एक ही आत्मा से **सृजित** होता है और अंत में सबकुछ उसी आत्मा में **विलीन** हो जाता है। यह चक्र चिरकाल से निरंतर चलता आ रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा।

किंतु आत्मज्ञानी इस मर्म को हृदयंगम नहीं कर पाता। वह स्वयं को आत्मा से भिन्न मानता है और चित्त की चंचलता से एक पल भी स्थिर नहीं रह पाता, सदैव सांसारिक क्रीड़ाओं में संलग्न रहता है। आपाधापी और संघर्ष में उसका श्वास फूल जाता है, शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है, किंतु वह मरण द्वार तक पहुंचकर भी अहंकार और मोह से आवेष्टित होता है। उसे प्रतीत होता है, यही वास्तविक जीवन है। पुनः जीवन मिले या न मिले, अथवा न जाने कितनी योनियों बाद मानव-जीवन मिले, अतः इस जीवन में ही समस्त उपलब्धियों पर अधिकार जमाना ही श्रेयस्कर है, समस्त सुखों का उपभोग करना ही एकमात्र ध्येय है।

राजा जनक जब अष्टावक्र के सान्निध्य में आते हैं तो उन्हें ज्ञात होता है कि सुख और उपलब्धियों में देह मात्र **देह** रह जाती है, उसे **मोक्ष** कभी नहीं मिल सकता, चाहे जितना तप अथवा साधनाएं करो। उन्हें अष्टावक्र से आत्मज्ञान होने पर सहसा भान होता है कि वे अब तक कैसा मिथ्या जीवन व्यतीत कर रहे थे। कितने मूढ़ थे कि उन्होंने शरीर को ही विशिष्ट और प्रमुख मान लिया, जब कि शरीर का कोई मूल्य नहीं, विश्व का कोई अर्थ नहीं। यह तो मिट्टी है, मिट्टी में मिल जाएगा। यदि मुक्त होना चाहते हो, बार-बार मिट्टी में मिलने से बचना चाहते हो तो **स्वयं** में **आत्मा** के दर्शन कर लो, इस सत्य को हृदयंगम कर लो कि तुम स्वयं आत्मा हो, और तुमसे ही यह सत्य निसृत होकर एक सूत्र में बंधा हुआ है। जीव-जगत को भिन्न-भिन्न मानना मिथ्या है, सबमें एक ही आत्मा है, सब आत्मस्वरूप हैं।

इस ज्ञान का भान होते ही राजा जनक को लगता है कि वह अनंत समुद्र हैं। उनकी आत्मा का समुद्ररूपी भुवन उन्हीं के चित्त की तरंगों से तरंगित है। इन तरंगों से ही जीवरूपों का सृजन होता है किंतु ये जीवरूप इस सत्य से परिचित नहीं हो पाते कि वे आत्मा से उत्पन्न आत्मरूप ही हैं। वे अपने अस्तित्व को अपना एक अलग स्वरूप मानते हैं, दूसरे से पृथक, दूसरे से भिन्न, दूसरे से श्रेष्ठ, दूसरे से अधिक बौद्धिक और बलशाली। इस पृथकता

की भावना से वे एक-दूसरे से कभी शत्रुवत् लड़ते हैं तो कभी मित्रवत् खेलते हैं। शत्रुता-मित्रता की भावनाएं कभी समाप्त नहीं होतीं, सब एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ में क्रूर और अहंकारी हो जाते हैं। यह अहंकार उन्हें आत्मा से विमुख कर देता है, वे स्वयं में आत्मा की उपस्थिति का भान नहीं कर पाते।

अष्टावक्र के उपदेश सुनकर राजा जनक इससे भलीभांति परिचित हो जाते हैं कि वह आत्मा होकर परमात्मा के परम पद को पा चुके हैं। उन्हें अपनी देह की निरर्थकता का भान हो गया है। वह मरणोपरांत मिट्टी में जरूर मिल जाएंगे, किंतु बार-बार मिट्टी में मिलने के लिए पुनः जन्म नहीं धारण करेंगे। आत्मा में विलीन होकर अनंतकाल तक अनंत में विद्यमान होंगे। उन्हीं से जीव-जगत होगा, वे जीव-जगत से पृथक नहीं होंगे, जीव-जगत से सतत् अविच्छिन्न रहेंगे। उनका कोई अन्य **सृष्टा** नहीं था, वह स्वयं के सृष्टा थे और उनकी सृष्टि से **अन्य** का अस्तित्व था। अन्य, अन्य नहीं थे, उन्हीं से संपृक्त थे।

देह की विस्मृति और आत्मा की अनुभूति ने राजा जनक नया बोध दिया कि वही स्वयं के सृष्टा, दृष्टा और नियंता हैं। विश्व का व्यापार यथावत् चल रहा है। संसार के मायावी मोहपाशों में कोई कमी नहीं आई, किंतु राजा जनक की आत्मा की दृष्टि को आत्मा की विराट सत्ता का साक्षात्कार हो गया। ऐसा तभी संभव हुआ, जब उन्हें स्वयं के आत्मा होने का बोध हुआ और परमात्मा की भांति वे स्वयं के नियामक स्वयं बन गए।

❑❑

राजा जनक ने तो स्वीकार कर लिया कि उन्हें आत्मा की प्रतीति हो गई और वह स्वयं को आत्मा-परमात्मा का साक्ष्य स्वरूप मानते हैं। अब उनके चित्त में किसी प्रकार का संदेह, सम्मोहन और आसक्ति नहीं थी। किंतु अष्टावक्र कैसे सहज विश्वास कर लें राजा जनक की इस स्वीकारोक्ति पर। शिष्य की परीक्षा लेना परमावश्यक था, अतः वह राजा जनक से पूछते हैं:

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥१॥

भावार्थः अविनाशी आत्मा एक है, इस तत्त्व से विज्ञ होकर भी तुझ जैसे आत्मज्ञानी और धीर को धनार्जन की रुचि क्यों है?

विवेचनाः अष्टावक्र मानव प्रवृत्ति से भलीभांति परिचित थे। जानते थे कि मानव का स्वभाव पलक झपकते परिवर्तित नहीं हो सकता। उपदेश सुनकर यदि मानव में सात्विकता के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाए तो अब तक उसकी दुष्प्रवृत्तियों का लोप हो गया होता। इसमें संदेह नहीं कि कभी-कभी अल्पकाल के लिए मानव वैराग्य और सात्विकता की भावनाओं से अभिभूत हो जाता है। ऐसा भी होता है कि कभी किसी प्रियजन के निधन के समय अथवा कभी स्वयं ही घनघोर यातना सहते समय उसे विरक्ति और जीवन की निस्सारता का बोध होता है, किंतु कुछ दिन व्यतीत होते ही वह पुनः सांसारिक गतिविधियों में लिप्त हो जाता है।

अतः अष्टावक्र को जिज्ञासा यह जानने की थी कि राजा जनक वस्तुतः आत्मज्ञानी हो गए हैं अथवा यह उनकी क्षणिक अवस्था है। राजा जनक आत्मविश्वासपूर्वक स्वीकार करते हैं कि उन्हें स्वयं के आत्मा होने का भान हो गया है, वही परमात्मा हैं, कोई काल्पनिक परमात्मा उन्हें अपनी इच्छाओं से परिचालित नहीं करता, वरन् वह अपने दृष्टा आप हैं। उन्होंने अनेक उद्धरण

प्रस्तुत किए और अष्टावक्र को अपने आत्मज्ञानी होने का विश्वास दिलाना चाहा। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'मुझे अपने शरीर के अस्तित्व की विस्मृति हो गई है, क्योंकि मैं आत्मा हूं। मुझी से **आत्मा** है, और आत्मा से **मैं** हूं। आत्मा निराकार होती है और मेरी साकार शरीर आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, ब्रह्म का साक्षीस्वरूप है। सारी सृष्टि ब्रह्ममय है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं, अतः द्वैत की धारणा भ्रामक है। सबकुछ एक आत्मा में समाहित एक रूप है, अद्वैत है। मेरा शरीर है, किंतु मुझे शारीरिक अभिलाषाओं के प्रति तनिक भी मोह नहीं रहा। आत्मज्ञान के चमत्कार से मेरा निज प्रकाश मुझे आलोकित कर रहा है, मुझे किसी अन्य के प्रकाश का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं। मैं आत्मावत निराश्रित हूं, अनंत और विस्तृत हूं, ऐसा समुद्र हूं, जिसका कोई ओर-छोर नहीं। अब मुझमें न आसक्ति का भाव रहा और न किसी प्रकार के मोह अथवा माया से ग्रस्त हूं। मुझे निरंजन और निरपेक्ष की अनुभूति हो गई है।'

अष्टावक्र ने उनकी स्वीकारोक्ति ध्यानपूर्वक सुनी थी। किंतु वह एक पल के लिए भी इस सत्य को विस्मृत नहीं कर सके थे कि वह राजा हैं, सिंहासन पर आसीन होते हैं। भला एक राजा इतनी शीघ्रता से कैसे भोग-विलास को तिलांजलि दे सकता है। वह सदैव ऐश्वर्य व संपन्नता में रहे थे, मात्र बीस श्लोक सुनकर उन्हें आत्मज्ञान की अनुभूति होगी, यह अष्टावक्र को विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता था। जो राजा सिंहासनारूढ़ होकर आदेश देता हो, और जिसके आदेश का प्रत्येक जन नतमस्तक होकर पालन करता हो, स्वाभाविक है कि वह अहंकारी और अभिमानी होगा। यहां आने से पहले तक जो अहंकार और अभिलाषाओं से परिपूर्ण था, अल्पकाल में ही उसे किस प्रकार विनम्रता और इच्छाहीनता का बोध हो सकता है। जब साधारण मानव ही मोहमाया, वासनाओं व अधिकारों से आजीवन मुक्त नहीं हो पाता, सदैव नई-नई आकांक्षाओं के पीछे भागता है, तब यह राजा दो पल की अवधि में ही आसक्ति और अहंकार से असंपृक्त हो जाए, इसकी संभावना अष्टावक्र को धूमिल प्रतीत हुई।

अष्टावक्र को ऐसा भी लगता था कि मेरे सान्निध्य में तो राजा जनक आत्मविज्ञ होने का वचन देते हैं, किंतु क्या विश्वास, मेरी दृष्टि से ओझल होते ही उन्हें सांसारिक भौतिकता पुनः अपनी ओर सम्मोहित कर ले और सिंहासन पर बैठते ही अहंकार और दंभ उनकी आंखों को रक्तवर्ण कर दे।

अष्टावक्र को राजा जनक से ऐसी अपेक्षा भी नहीं कि आत्मज्ञान का प्रमाण देने के लिए वह राजपाट छोड़कर संन्यासी हो जाएं अथवा कर्त्तव्यों से

विमुख हो वैराग्य धारण करें। अष्टावक्र की दृष्टि में आत्मज्ञानी का अर्थ था, आसक्तियों से विरक्ति, भोगविलास से विमुक्ति, अहंकार और निरकुंशता से विमुखता। आत्मा की प्रतीति होने का अर्थ है, निरंजनता और निरपेक्षता। किंतु स्वयं को निरंजन और निरपेक्ष घोषित करना और इसका साक्षात भाव बन जाना—इन दोनों में भारी अंतर था। अष्टावक्र यह जानना चाहते थे कि राजा जनक निरंजन और निरपेक्ष के पर्याय बन गए थे या उनकी घोषणा क्षणिक उत्तेजना की अभिव्यक्ति मात्र थी।

अष्टावक्र राजा जनक का हृदय टटोलने के लिए कहते हैं—'आत्मा अविनाशी है, आत्मा एक है, इस तत्त्व से तू परिचित हो गया। तेरा कथन है कि पंच तत्त्वों से निर्मित तेरे शरीर का कोई महत्त्व नहीं, वह यथार्थतः आत्मा का चैतन्य स्वरूप है। तूने स्वयं को आत्मा मान लिया, तुझे स्वयं में परमात्मा की प्रतीति हो गई है। फिर तुझ जैसे आत्मज्ञानी और धीर-गंभीर को अर्थार्जन की लालसा क्यों है? इस तथ्य को तू अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्राणी धन-लोलुप होता है। इसलिए वह सतत् छल-प्रपंच और विषय वासनाओं में लीन रहता है। धन लोलुपता ही उसे आत्मज्ञान से वंचित करती है। वह मद, लोभ, मोह और माया के विकार से कभी मुक्त नहीं हो सकता। तू राजा है, थोड़ी देर पहले तक राजसत्ता के अभिमान से चूर था। मैं कैसे मान लूं कि अब अहंकारी नहीं रहा और विनम्र बन गया। तू कहीं अब तक धन-संग्रह की प्रवृत्ति से ग्रस्त तो नहीं? क्या अब भी तुझमें धनोपार्जन की रुचि नहीं? एकाएक मैंने तेरी भांति किसी को आत्मज्ञानी होते नहीं देखा। मैं कैसे विश्वास कर लूं कि तू प्रासाद में लौटते ही पुनः भोग-विलास में लिप्त नहीं होगा? इसीलिए पूछता हूं कि आत्मज्ञानी और धीर-गंभीर होकर भी तेरी अर्थार्जन की प्रवृत्ति समाप्त क्यों नहीं हुई?'

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥२॥

भावार्थः आत्म-अज्ञानी को विषय के भ्रम से प्रीति होती है। उसी प्रकार जैसे सीपी के अज्ञानी को चांदी के भ्रम से चांदी का लोभ होता है।

विवेचनाः अष्टावक्र राजा जनक से आगे कहते हैं—'आत्मज्ञानी को लोभ व प्रीति स्पर्श तक नहीं करती। संसार की उपभोग्य वस्तुओं से उसे घृणा हो जाती है। भौतिक सुख-सुविधाओं का आकर्षण उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता। ऐसा आत्मज्ञानी ही आत्मावत निरपेक्ष और निरंजन होता है।'

वस्तुतः आत्म-अज्ञानी कभी भी आत्मदर्शन नहीं कर पाता। वह भोग-विलास

की भूल-भुलैया में स्वयं को ही भूल जाता है, तो आत्मा को कैसे याद रखेगा? उसे विषयों से आसक्ति में चरम सुख की अनुभूति होती है, वह कल्पना भी नहीं कर सकता कि विषय क्षणभंगुर होते हैं और आत्मा अनश्वर हैं। **विषय** मिथ्या है और **आत्मा** सत्य। मानव का साकार स्वरूप आज है, कल नहीं रहेगा, जबकि आत्मा **आज** भी है और **कल** भी रहेगी। जो स्वयं में आत्मा की प्रतीति करता है, वह संमस्त आसक्तियों से मुक्त होता है। विषयी को चतुर्दिक द्वैत का दर्शन होता है, जबकि अविषयी विश्वरूपा हो जाता है, उसे कहीं भी अद्वैत की अनुभूति नहीं होती।

ये सांसारिक विषय क्या हैं? वस्तुत: विषय कुछ नहीं। आत्म-अज्ञानी को मात्र विषयों का भ्रम होता है और वह उनके प्रति आसक्त हो जाता है। यहीं से उसकी दृष्टि संकुचित हो जाती है और सोच सीमित। वह अपनी आत्मशक्ति से आंखें मूंद लेता है और अपने शारीरिक बल पर इतराता है। यह नहीं सोचता कि शारीरिक बल नश्वर है और आत्मशक्ति अक्षुण्ण। उसकी दृष्टि में अर्थोपार्जन ही एकमात्र लक्ष्य होता है, जिसे सिद्ध करने को वह आजीवन जोड़-तोड़ करता है, इस पर भी अंतिम श्वास तक वह अतृप्त होता है, उसकी अभिलाषाएं अधूरी रह जाती हैं। सत्य तो यह है कि आत्म-अज्ञान न रहे तो विषयों का भ्रम भी तिरोहित हो जाता है।

इन्हीं विचारों को ध्यान में रखकर अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'अर्थार्जन की लालसा से तब तक हृदय मुक्त नहीं हो पाता, जब तक आत्मज्ञान की ज्योति हृदय में प्रज्ज्वलित नहीं होती। हृदय के तमस से मानव को विषयों का भ्रम होता है और उनसे प्रीति होती है। अब तक तू इसी प्रीति से आबद्ध था। तेरे प्रत्येक क्रियाकलाप की प्रेरक शक्ति यही विषयासक्ति थी। अब तू कहता है कि तुझे आत्मज्ञान हो गया है। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह भी तेरा भ्रम हो।

भ्रम मानव की मति को क्षत-विक्षत कर देता है। किंतु वह भ्रम को ही सत्य मानता है और अपनी क्षत-विक्षत मति भी उसे अत्यंत बौद्धिक और परिमार्जित प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में वह कभी आत्मबोध नहीं कर पाता। राजन्, तू अपने हृदय को टटोल, क्या सचमुच तुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है अथवा तू अभी तक दिग्भ्रमित है। याद रख, आत्मज्ञान के अभाव में मानव वस्तुस्थिति की यथार्थ मीमांसा नहीं कर पाता। जिस प्रकार सीपी के अज्ञान से मानव को सीपी में रजत (चांदी) की भ्रांति होती है और भ्रांति से उसमें लोभ उत्पन्न हो जाता है, उसी आत्म के अज्ञान से मानव को विषयों का भ्रम होता है

और इस से उसमें प्रीति (मोहमाया) उत्पन्न होती है। आत्मज्ञानी को कभी भी विषयों से मोह नहीं होगा, उसे सर्वत्र आत्मा दृष्टिगोचर होगी, **स्वयं** में भी और **विश्व** में भी। वह संपूर्ण ब्रह्मांड का अविछिन्न अंग बन जाता है। सीपी में भी उसे ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होगा, रजत नहीं, अतः वह कभी लोभ से संपृक्त नहीं होगा।

राजन! तू भलीभांति विश्लेषण कर, क्या सीपी तेरी दृष्टि में रजत है? यदि सीपी तुझे रजत प्रतीत होती है तो इसका अर्थ है, तू अभी तक लोभग्रस्त है, अब भी तू अर्थार्जन की लालसा से मुक्त नहीं हुआ। विषयों का भ्रम तुझे प्रीति और राग से कभी मुक्त नहीं होने देगा। तेरे पास ऐश्वर्य का अभाव नहीं, सत्ता का अनंत अहंकार है, भोग-विलास के समस्त उपादान उपलब्ध हैं, इनका आकर्षण अत्यंत प्रबल होता है। यहां तो तुझे भ्रम है कि तू आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया, किंतु राजप्रासाद की चकाचौंध में पहुंचते ही पुनः तू ऐश्वर्य, सत्ता और भोग-विलास में आकंठ डूब सकता है। राजन! ऐश्वर्य, सत्ता और भोग विलास के उपादानों के मध्य भी जो मानव उनसे विरक्त व उदासीन रहता है, वही आत्मज्ञान से आलोकित होता है।'

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥३॥

भावार्थः जिस प्रकार सागर से तरंगें स्फुरित होती हैं, उसी प्रकार आत्मा से विश्व। तब तुम स्वयं को **मैं हूं** मानकर दीन की भंति क्यों दौड़-भाग करते हो।

विवेचनाः अष्टावक्र यहां राजा जनक को पुनः स्मरण कराते हैं कि **मैं** का कोई अस्तित्व नहीं, यह नश्वर और विनाशी है, **मैं** होने का अभिमान मत करो।

अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि **मैं** की अनुभूति मानव को क्षुद्र और संकीर्ण बनाती है। वह अहंकार के मद में स्वयं को श्रेष्ठ तथा पर को तुच्छ समझता है। इससे टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है, समाज में सामुदायिक भवना का विकास अवरुद्ध हो जाता है। सब अपने अस्तित्व का महत्त्व सिद्ध करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करते हैं, भले ही इसमें छल-प्रपंच का सहारा क्यों न लेना पड़े अथवा प्राण व संपत्ति की हानि ही क्यों न हो। सब एक-दूसरे से आगे निकलने की होड़ में रक्तरंजित संघर्ष करने से भी नहीं चूकते। धन-संचय के अतिरिक्त उन्हें और कुछ नहीं सूझता। धन-संचय की वृद्धि से लालसाओं की वृद्धि होती है, भोग-विलास की अतृप्य तृष्णा जाग्रत होती है।

वर्तमान युग में भी **मैं** की अनुभूति सर्वत्र व्याप्त है। उसके परिणामस्वरूप मानव की जो गति हो रही है, वह किसी से छिपी हुई नहीं है। सब शिखर पर पहुंचने की महत्त्वाकांक्षा में दूसरे को नीचे धकेलने का कोई भी अवसर नहीं गंवाना चाहते। ऐसी स्थिति में अष्टावक्र के विचार आज भी प्रासंगिक और अर्थवान हैं। अष्टावक्र की दृष्टि में **मैं** की अनुभूति मानव को हेय बनाती है, जबकि **आत्मा** की प्रतीति उसे आत्मज्ञान से आलोकित करती है और तामसिक जगत से बाहर निकालती है।

राजा जनक को इसी तथ्य से परिचित कराते हुए अष्टावक्र कहते हैं–'स्वयं को **मैं हूं** मानकर व दीन-हीन की तरह दौड़-भाग मत कर, अन्यथा आजीवन लालसाओं का पीछा करते हुए तेरे जीवन की सार्थकता ही नष्ट हो जाएगी। तू **मैं** नहीं है, आत्मा से निसृत विशुद्ध आत्मा है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। **मैं** तो आत्मा का मात्र चैतन्य स्वरूप है। आत्मा की प्रतीति से तेरा वैचारिक जगत संकीर्णता का त्याग कर विशद और विस्तीर्ण हो जाएगा। तुझे भान होगा कि तू मात्र **मैं** नहीं, **पर** भी हूं, क्योंकि **पर** भी आत्मा से निसृत है। अत: **मैं** और **पर** एकात्म है। जनसमूह के समस्त जन अलग-अलग नहीं, एक ही आत्मा के सूत्र में पिरोए हुए हैं। एक का बोध होते ही **पर** से आगे निकल जाने की दुर्भावना समाप्त हो जाती है, रक्तरंजित प्रतिद्वंद्विता का लोप हो जाता है। तदुपरांत न अतृप्य लालसाओं का अस्तित्व रहेगा और न भोग-विलास की इच्छा जाग्रत होगी। जीवन सहज और सामान्य हो जाता है।

अष्टावक्र राजा जनक को समुद्र की तरंगों का उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार सागर से तरंगों का स्फुरण होता है, उसी प्रकार आत्मा से विश्व प्रस्फुटित हुआ है। जिस प्रकार सागर और तरंगें एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा और विश्व एक-दूसरे में समाहित हैं। जिस प्रकार तरंगें ऊपर उठकर पुन: सागर में मिल जाती हैं, उसी प्रकार आत्मा से निकला विश्वात्मा में ही लीन हो जाता है। जब सबकुछ आत्मा है और सबकुछ को आत्मा में ही समा जाना है–तो **मैं हूं** के अभिमान से मदहोश होना निरर्थक है। वस्तुत: **मैं हूं** की जिस भावना को तू अभिमान समझता है, वह तेरी दीनता है। बाहर से तेरा अभिमानी स्वरूप जितना विकराल होता जाएगा, तेरी दीनावस्था में उतनी ही वृद्धि होगी। दीन वही होता है, जो पाने की इच्छा से पीड़ित होता है, यही पीड़ा उसे लालसाओं के पीछे दौड़ने को बाध्य करती है, जन-जन का एकात्म स्वरूप नष्ट करती है।

अत: राजन! तू **मैं हूं** की दीन भावना का परित्याग कर। मैं आत्मा हूं,

आत्मा मुझसे है, मैं आत्मा से, जन-जन एक ही आत्मा के विभिन्न चैतन्य स्वरूप होते हुए अद्वैत है, द्वैत नहीं—इस उदात्त भावना को हृदयंगम करेगा तो तेरी दीनता का स्वत: ही विनाश हो जाएगा।

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम्।
उपस्थेऽत्यंतसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति।।४।।

भावार्थ: शुद्ध चैतन्य और अति सुंदर आत्मा के बारे में सुनकर भी जो आसपास के विषयों में संलिप्त रहता है, वह मलीनता को प्राप्त होता है।

विवेचन: अष्टावक्र खेद प्रकट करते हैं कि लोग युगों से आत्मा की अर्थवत्ता का वर्णन सुनते आ रहे हैं, किंतु उसे हृदयंगम नहीं करते। इसी कारण मानवीय मूल्यों और आदर्शों का निरंतर ह्रास हो रहा है। वस्तुत: मानव अपने ही कर्मों से अपना पतन कर रहा है। अपनी दयनीय स्थिति का उत्तरदायी वह स्वयं है।

अष्टावक्र को आश्चर्य तो इस बात का है कि मानव को आत्मा की शुद्ध चैतन्य और अति सुंदरता का भान है, किंतु इसका विशद वर्णन वह एक कान से सुनता है और दूसरे कान से निकाल देता है। यदि वह आत्मज्ञान को आत्मसात कर ले तो चतुर्दिक सुख, शांति और सौहार्द्र का साम्राज्य स्थापित हो जाए। तदुपरांत छल-प्रपंच, वासनाएं और भोग-विलास की कुत्सित भावनाएं स्वत: ही विनष्ट हो जाएंगी।

आत्मज्ञान से यदि कोई दीप्तिमान होना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे इंद्रियजित होना पड़ेगा। सच तो यह है कि इंद्रियां ही आत्मज्ञान की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा हैं। इंद्रियां वासना को भड़काती हैं, नई-नई कामनाएं जाग्रत करती हैं। इंद्रियों से वशीभूत मानव सर्वदा देहसुख के नए-नए उपाय आविष्कृत करता है, सर्वदा नई-नई मादक कल्पनाएं करता है। वह एक पल भी इस बारे में नहीं सोचता कि यह देहसुख अथवा मादकता की कल्पनाएं मिथ्या से अधिक कुछ नहीं, इनसे कभी तृप्ति नहीं मिलती, वरन् तृष्णा और अधिक बढ़ती जाती है।

हां, यदि वह आत्मज्ञान को अनुभूत कर ले तो उसे ज्ञात होगा कि अब उसे किसी देहसुख की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह आत्मा की प्रतीति में तृप्त हो जाता है, उसे भविष्य में कभी तृष्णा नहीं सताती। वह परमानंद की परम स्थिति को प्राप्त होता है। किंतु मानव देहसुख की मिथ्या अभिलाषाओं से कभी मुक्त नहीं हो पाता और वह वास्तविक परमानंद की परम स्थिति से सदैव वंचित रह जाता है।

यही सोचकर अष्टावक्र को शंका होती है कि राजा जनक आत्मा की महिमा सुनकर जिस आत्मज्ञान को प्राप्त होने की स्वीकारोक्ति करते हैं, कहीं वह भी क्षणिक तो नहीं? क्योंकि युगों से आत्मा की महिमा सुनकर भी लोग अब भी विषयासक्तियों से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। वह राजा जनक से कहते हैं–'शुद्ध चैतन्य और अति सुंदर आत्मा के बारे में सुनकर भी मानव को आत्मा की प्रतीति नहीं होती। वह थोड़ी देर के लिए अभिभूत जरूर होता है कि आत्मा कितनी विशद व विरल है, उसे लगता है कि वह आत्मानुभूति कर रहा है, किंतु अगले पल ही सोचता है, छोड़ो आत्मा-परमात्मा का चक्कर। दुनिया में इतना आकर्षण है, सुंदरता है, स्वाद है, इसे भोगो और आनंदित रहो। राजन! समझ में नहीं आता कि **आत्मा** की महिमा जानते हुए भी मानव आसपास के **विषयों** में क्यों लिप्त हो जाता है? उसे भलीभांति ज्ञात है कि विषयासक्ति से वह निस्संदेह पतन के गर्त में जा पड़ेगा, जहां से उद्धार संभव नहीं। इस पर भी वह इंद्रियों पर निग्रह का किंचित मात्र भी प्रयास नहीं करता। यह विषयासक्ति अंततः उसके समग्र व्यक्तित्व को तुच्छ बना देती है।

अतः राजन! मैं शंकित हूं कि तूने सचमुच आत्मा की प्रतीति कर ली है? क्या सचमुच तू इस वास्तविकता से परिचित हो गया है कि तू आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, तू विश्वात्मा है, व्यष्टि नहीं, समष्टि है? यदि हां, तो मुझे प्रसन्नता नहीं चाहिए। किंतु मैं मानवीय अस्थिरता से भलीभांति परिचत हूं। उसके मतिष्क के विचार अत्यंत तीव्रता से परिवर्तित होते हैं। जब वह ऋषि, मुनि अथवा विद्वान विचारक के सान्निध्य में होता है तो सात्विक विचारों से आलोड़ित-विलोड़ित होता है, किंतु अपनी दुनिया में लौटते ही वह पुनः रास-रंग में प्रवृत्त हो जाता है। अतः मेरी शंका अकारण नहीं है। मैं ऐसा चिरकाल से देखता आ रहा हूं कि आत्मा की महिमा से परिचित होते हुए भी जन-जन विषयासक्तियों में लिप्त हैं। अंततः क्यों वह इंद्रियजित बनने का प्रयास नहीं करता?

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्य ममत्वमनुवर्त्तते।।५।।

भावार्थः आत्मा में सर्वभूतों के होने का और सर्वभूतों में आत्मा के होने का ज्ञान होते हुए भी मुनि ममता करता है, यह कितने आश्चर्य का विषय है।

विवेचनाः अष्टावक्र के सम्मुख राजा जनक ने तो यह स्वीकार कर लिया कि उन्हें आत्मानुभूति हो गई, किंतु अष्टावक्र को उनकी स्वीकारोक्ति संदेहास्पद प्रतीत होती है। कारण यह कि बड़े-बड़े मुनि आत्मा की प्रतीति नहीं कर सके तो राजा जनक की स्वीकारोक्ति का क्या महत्त्व है?

यह सर्वविदित है–**आत्मा** से ही सर्वभूतों का अस्तित्व है और **सर्वभूतों** में ही आत्मा का वास है। सर्वभूत अर्थात संपूर्ण जीव–जगत आत्मा का पर्याय है। इसकी जानकारी जन–जन को है किंतु स्वयं में कोई आत्मा के दर्शन नहीं कर पाता। दर्शन करता है तो बस बाह्य जगत की विसंगतियों का, जो उसे लुभाती और भरमाती हैं।

इस स्थिति से सामान्यजन ही नहीं, स्वयं को ज्ञानी–ध्यानी मानने वाले महापुरुष भी इससे आक्रांत हैं। महापुरुष इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं कि कण–कण में, तृण से लेकर मानव में, संपूर्ण चराचर में आत्मा व्याप्त है। सर्वभूत आत्मा के साक्षीस्वरूप हैं, किंतु वे स्वयं में आत्मा की प्रतीति नहीं कर पाते, परमात्मा की अनुभूति नहीं कर पाते, अतः उनका ज्ञान–ध्यान मिथ्यासिद्ध होता है। वस्तुतः वे मूढ़ होते हैं, महापुरुष नहीं। ऐसे महापुरुष सामान्यजन से पृथक नहीं होते, वे भी विषयासक्त होते हैं और ईर्ष्या, संदेह और लोभ की परिधि में ही विचरण करते हैं।

अष्टावक्र ऐसा नहीं कहते कि आत्मानुभूति होते ही संन्यास लेकर घर–परिवार व संसार से नाता तोड़कर एकांतवास करो। जो लोग ज्ञान अथवा मोक्ष पाने की लालसा में अपने कर्त्तव्यों से विमुख होते हैं और संन्यास धारण कर अरण्य अथवा आकाश को स्पर्श करते हुए पर्वतीय शिखर पर जा पहुंचते हैं, उनसे अष्टावक्र का मात्र यही आग्रह है कि वे सांसारिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए स्वयं में आस्थापूर्वक आत्मानुभूति करें। मात्र इतनी जानकारी पर्याप्त नहीं है कि आत्मा में सर्वभूत विद्यमान हैं और सर्वभूतों से आत्मा विद्यमान है। यह ज्ञान तो युगों से जन–जन में प्रसारित है किंतु अभी तक किसी ने इस सत्य का साक्षात्कार नहीं किया। आत्मा **स्वयं** में ही वास करती है, जो **स्वयं** है, वह **आत्मा** का अभिन्न भाग है। आत्मा से स्वयं की अभिन्नता का बोध ही स्वयं में स्वयं के परमात्मा के दर्शन करता है। इस प्रकार स्वयं ही स्वयं का दृष्टा बन जाता है। किसी अन्य परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता स्वयं को कभी अनुभव नहीं होती। स्वयं में ममता–द्वेष की भावनाओं का लोप हो जाता है।

यह जो ममता–द्वेष की भावनाएं हैं, वही मानव को विचलित करती हैं और आत्मा से परिचित नहीं होतीं। इसी कारण अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'तुझे यह ज्ञान तो प्राप्त हो गया कि आत्मा में सर्वभूत होते हैं और सर्वभूतों में आत्मा। इस ज्ञान से सामान्यतः सर्वजन परिचित होते है।, यहां तक कि ज्ञानी, ध्यानी और बड़े–बड़े मुनि भी। किंतु मुझे आश्चर्य है कि इस ज्ञान से

कोई लाभ नहीं उठाता, कोई आस्थापूर्वक आत्मा को स्वयं अनुभूत नहीं कर पाता। मुनि तक ममताग्रस्त होकर तुच्छता को प्राप्त होते हैं, फिर तू तो सामान्य संसारी है। तुझे आत्मा की प्रतीति हो गई और तूने स्वयं में स्वयं का परमात्मा पा लिया, यह मुझे संदिग्ध प्रतीत होता है। कहां मुनि और महापुरुष और कहां तू? घर-गृहस्थी को त्याग कर मुनि ममता का परित्याग नहीं कर पाते, तू तो सदैव धन, ऐश्वर्य, संपन्नता तथा रमणियों से घिरा रहता है, मैं कैसे विश्वास कर लूं कि उनके मध्य जाते ही तू पुनः ममताग्रस्त नहीं होगा। यह ममता शनैः-शनैः तेरी आत्मानुभूति का भ्रम भंग कर देगी और अंततः तुझे यह तो स्मरण रहेगा कि आत्मा सर्वव्याप्त है, किंतु वह तुझमें है और तू उसमें है—यह अद्वैत धारणा विलुप्त हो जाएगी। संभवतः तू अभी मेरे उपदेशों से अनुप्राणित है, अभिभूत है। निकट भविष्य तुझ में पुनः तामसिक प्रवृत्तियों का उदय होगा और तू भी मोक्ष की कामना, तप और साधनाओं का आश्रय लेगा।

राजन! स्वयं का दृष्टा होना मुनि तक के लिए संभव नहीं तो तुझे इतनी शीघ्र आत्मबोध कैसे हो सकता है?

अस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्य कामवशगोविकलः केलिशिक्षया॥६॥

भावार्थः आश्चर्य की बात है कि परम अद्वैत में स्थित तथा मोक्ष के लिए आतुर होते हुए भी मानव काम के वश में सदैव केलि-क्रीड़ा से विकल रहता है।

विवेचनाः यह सिद्ध है कि जीव-जगत व आत्मा द्वैत में विभक्त नहीं। मानव परम अद्वैत में स्थित है। वह मोक्ष पाना चाहता है और मोक्ष की कामना से आतुर भी है, किंतु मोक्ष के मार्ग से अनभिज्ञ है। सर्वप्रथम तो उसे यही नहीं पता कि वह अद्वैत में स्थित है। चतुर्दिक उसे द्वैत ही दृष्टिगोचर होता है। वह जीव-जगत तथा आत्मा को खंड-खंड में देखने का आदी है। **आत्मा** का अस्तित्व उसे स्वीकार है, किंतु वह यह मानने को तैयार नहीं कि उसमें आत्मा व्याप्त है। वह यह भी मानता है कि **परमात्मा** का अस्तित्व है, किंतु उसे यह विश्वास नहीं कि वह **स्वयं** परमात्मा है। वह सोचता है कि परमात्मा कण-कण में व्याप्त है और उसका स्थायी वास कहीं अंबर में है। वही सबका नियंता और दृष्टा हैं, उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। मोक्ष के लिए मानव इसी काल्पनिक परमात्मा की शरण में जाता है।

अष्टावक्र का आश्चर्य तो यह है कि मानव को अपनी ही ऊर्जा व शक्ति की अनुभूति नहीं। वह दीन-हीन-सा सदैव परमात्मा की कृपा के सहारे जीता

है। काल्पनिक परमात्मा के सम्मुख दीन-हीन बनता है और दूसरे लोगों के सम्मुख अभिमान और अहंकार से इतराता है। मानव का यह दोहरा व्यक्तित्व उसे तुच्छ और भ्रष्ट बनाता है। इसका एकमात्र यही कारण है कि उसे स्वयं पर विश्वास नहीं, अपनी आंतरिक शक्ति और ऊर्जा से वह सर्वथा अपरिचित है।

यदि वह स्वयं पर विश्वास रखे तो उसे अनुभव होगा कि वह परम अद्वैत में स्थित है, वह सबसे अलग अकेला नहीं, वह जीव-जगत की सामूहिकता का अविभाज्य भाग है, क्यों वह स्वयं और संपूर्ण जीव-जगत एक ही आत्मा से उत्पन्न हैं। जब **सबका** अस्तित्व एक ही **आत्मा** से है तो कोई एक **अकेला** और सबसे **अलग** कैसे हो सकता है। मानव को जब अनुभव होगा कि वह व्यष्टि नहीं समष्टि है तो उसे पता चलेगा कि वह स्वयं आत्मा है और संपूर्ण सृष्टि से संबद्ध है। आत्मा होने की यह प्रतीति उसे स्वयं के परमात्मा होने का अनुभव कराएगी, वह अपनी आंतरिक शक्ति व ऊर्जा से परिचित होगा। उसे किसी अन्य परमात्मा की अनुकंपा की अपेक्षा नहीं होगी। **स्वयं** की प्रबलता उसके व्यक्तित्व को नई प्रखरता और ओज प्रदान करेगी। उसका अभिमान और अहंकार विलुप्त हो जाएगा। वह निज के प्रकाश से सबकुछ स्पष्ट देख पाने में समर्थ होगा। आत्मावत उसे भी स्वयं के निरपेक्ष और निरंजन होने की अनुभूति होगी। यही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है, जिस पर वह बिना वैराग्य धारण किए अथवा बिना कर्त्तव्य विमुख हुए आगे बढ़ सकता है। किंतु मानव मोक्ष के लिए आतुर होते हुए भी उसके सही मार्ग का चुनाव करने में असमर्थ है।

इसी को ध्यान में रखकर अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'मानव अद्वैत में स्थित है, किंतु इसकी प्रतीति नहीं करता और द्वैत का भ्रम पालता है। इस पर भी वह मोक्ष के लिए आतुर है। ऐसे विरोधाभास में वह मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है? द्वैत के भ्रम से ही उसे अन्य लोगों से पृथक होने का भ्रम होता है और वह कामनाओं के अरण्य में भटकने लगता है। काम के वशीभूत होकर सतत् केलि-क्रीड़ा से विकल रहता है। राजन! तेरे पास अनेक अधिकार हैं, अधिकारों से युक्त मानव अत्यंत अहंकारी होता है। तेरे सम्मुख लोग नित्य नमन करते हैं, तुझे अनुभव करते हैं कि तू सबसे श्रेष्ठ है, सबसे अलग है। तूने द्वैत के ही दर्शन किए हैं। अब अचानक कहता है कि तू परम अद्वैत में स्थित है। यह तो चमत्कार प्रतीत होता है, किंतु मुझे विश्वास नहीं होता। मुनि भी जानता है कि वह अद्वैत में स्थित है, इस पर भी वह ममता-मोह का त्याग कर पाने में असमर्थ है–तो तू कैसे स्वयं को अद्वैत में स्थित पाता है? एक प्रश्न यह

भी है कि स्वयं को अद्वैत में स्थित पाकर भी क्या तू ममता-मोह के मायाजाल से निकल सका है? स्वयं में आत्मा की प्रतीति और सर्वदा केलि-क्रीड़ा की विकलता, यह दोनों बातें एक साथ संभव नहीं।'

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकांक्षेत्कालमंतमनुश्रितः।।७।।

भावार्थः उद्भूत (संचित) ज्ञान का शत्रु काम है, किंतु आश्चर्य है कि अति दुर्बल व अंतकाल के निकट पहुंचा मानव भी इसकी आकांक्षा करता है।

विवेचनाः अष्टावक्र इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि काम में उद्दाम शक्ति होती है। कामवासना के प्रबल आकर्षण से बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तक विचलित हो जाते हैं। ऋषि-मुनि जानते हुए भी कि कामोद्रेक संचित ज्ञान का परम शत्रु है, इसे नियंत्रित नहीं कर सके। इस पर राजा जनक तो संसारी था, उसके चतुर्दिक कामासक्ति के अनेक साधन व सुविधाएं उपलब्ध थीं। अतः अष्टावक्र को सहज विश्वास नहीं होता कि राजा जनक यहां से ज्ञानार्जन करने उपरांत काम-भावना से मुक्त हो सकेंगे। ज्ञानार्जन करना एक बात है और उसे आस्थापूर्वक हृदयंगम करना दूसरी। जब तक मानव कामवासनाओं का परित्याग नहीं करेगा, तब तक संचित ज्ञान को हृदयंगम नहीं कर सकेगा, क्योंकि काम संचित ज्ञान का परम शत्रु है।

अष्टावक्र के कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि सब कामरहित हो जाएं अथवा नर-नारी नित्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें। इससे तो सृष्टि का विकास ही अवरुद्ध हो जाएगा। कामभावना प्रकृति प्रदत्त है, इसकी अपनी उपयोगिता है। संतति प्रजनन इसी से संभव है और यहीं तक इसकी अनिवार्यता है। अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि प्रत्येक पल केलि-क्रीड़ा के लिए विकल होना निंदनीय है, इससे संचित ज्ञान से भी वंचित होना पड़ता है। किंतु यह सत्य भी असंदिग्ध है कि उद्दाम काम के आवेग के सम्मुख बड़े-बड़े महारथी भी धराशायी हो जाते हैं।

अष्टावक्र के मत के समर्थन में हमारे सम्मुख अनेक उद्धरण हैं। उनके विस्तार में गए बिना इस सत्य से कोई असहमत नहीं होगा कि काम में मतिभ्रष्ट करने की विकराल शक्ति है।

अष्टावक्र को आश्चर्य है कि अति दुर्बल और मरण द्वार पर पहुंचा मानव भी काम की आकांक्षा करता है। ऐसी स्थिति में क्या राजा जनक इंद्रियजित हो सकता है?

यही सोचकर अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'तू इस तथ्य से तो

भलीभांति अवगत होगा कि काम संचित ज्ञान का शत्रु है, कामाग्नि की भीषण ज्वाला में ज्ञान को राख का ढेर बनते तनिक भी विलंब नहीं होता। इस पर भी मानव कामवासना से दग्ध है। ऐसी स्थिति में ज्ञानार्जन का कोई लाभ नहीं। कामातुर मानव संचित ज्ञान को कभी भी हृदयंगम नहीं कर पाता, उसका ज्ञान अंततः नष्ट हो जाता है। राजन! तू अब स्वस्थ है, शीघ्र ही मृत्यु को भी प्राप्त नहीं होगा, अतः ज्ञानार्जन करके काम से नितांत मुक्ति प्राप्त करेगा, यह संदेहास्पद है, क्योंकि आश्चर्य तो यह है कि दुर्बल और अंत के निकट पहुंचा मानव भी काम की आकांक्षा से ग्रस्त होता है।

राजन! तू कहता है कि तूने आत्मा-परमात्मा का अंतर्मन से साक्षात्कार कर लिया है, किंतु यह इतना सहज नहीं है। बिना आस्था के आत्मा-परमात्मा की प्रतीति संभव नहीं। आत्मा-परमात्मा होने की घोषणा करना और इसे हृदयंगम करना, दोनों में अंतर है। घोषणा तो तात्कालिक प्रतिक्रिया है, जबकि हृदयंगम करने की अनुभूति आस्था से होती है। तूने आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया, अद्वैत-दर्शन से अवगत हो गया, किंतु यदि काम की भावना का परित्याग नहीं किया तो इस ज्ञान प्राप्ति का कोई अर्थ नहीं। यह ज्ञान एक दिन काम की प्रचंड ज्वाला में स्वाहा हो जाएगा। काम और ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। काम ज्ञान का शत्रु है और सात्विकता ज्ञान की चिरसखी। सात्विक वृत्ति से संचित ज्ञान की रक्षा की जा सकती है।'

इहामुत्रविरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेवबिभीषिका॥८॥

भावार्थः आश्चर्य! इहलोक और परलोक के भोग से विरक्त, नित्य-अनित्य का विवेक करनेवाला और मोक्ष का इच्छुक मानव मोक्ष से ही भयभीत होता है।

विवेचनाः अष्टावक्र मानवीय दुर्बलताओं से भलीभांति अवगत हैं। उन्होंने ऐसे अनेक आत्मज्ञानी और धीर महापुरुषों को देखा है, जो आत्मा की महिमा से अपरिचित नहीं, किंतु अर्थार्जन की लालसा से लिप्त होते हैं। ऐसे लोग सीपी को चांदी मानकर लोभग्रस्त हो जाते हैं। **मैं** का अहंकार उन्हें दीन-हीन बनाता है। इंद्रियों की विषय-वासना में आसक्त होते हैं। आत्मज्ञान का तत्त्व जानकर भी ममताग्रस्त होते हैं। अद्वैत स्थित और मोक्ष की कामना से आतुर हुए भी केलि-क्रीड़ा में उद्यत होते हैं। काम ज्ञान-विनाशक है, यह जानते हुए भी कामेच्छा से पीड़ित होते हैं।

मानव के ज्ञान और क्रिया में यह घनघोर विरोधाभास देखकर अष्टावक्र

आश्चर्यचकित हैं। ऐसे लोग ज्ञानार्जन तो करते हैं, किंतु उसके अनुसार आचरण नहीं करते, क्योंकि वे अर्जित ज्ञान को हृदयंगम कर पाने में असमर्थ होते हैं।

उन्हें आश्चर्य है कि जो मानव इस लोक के भोगों से विरक्त है, परलोक के स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं से मुक्त है, वह भी विरोधाभासी आचरण करता है। आत्मा नित्य है और जीव-जगत अनित्य, इस चिरसत्य से परिचित मानव भी अंतर्द्वंद्व में उलझा होता है। इसका अंतर्द्वंद्व और विरोधाभास क्या होता है? यह कि इसे **मोक्ष** की कामना तो होती है, किंतु वह **मोक्ष** से भयभीत भी होता है।

ऐसे ज्ञानी-ध्यानी लोग भी जब अधीर और अस्थिरमना हो सकते हैं तो राजा जनक उनकी तुलना में सामान्य ही थे, साथ ही यश, अधिकार, संपन्नता और वैभव के स्वामी भी थे। उनका स्थिरमना और धीर रह पाना अधिक विश्वसनीय नहीं लगता था। इस समय वह आत्मज्ञानी और धीर होने के प्रति आश्वस्त थे, किंतु यह आश्वस्ति अष्टावक्र को राजा जनक का भ्रम प्रतीत हो रही थी।

राजा जनक ने माना है कि वह आत्मामय हो गए हैं, उन्हें भोग-विलास की कामना नहीं रही, उनके निज के प्रकाश से तामसिक वृत्तियां तिरोहित हो गई हैं। मैं अपनी नियति का नियामक स्वयं हूं, मुझे किसी की कृपा नहीं चाहिए। मैं अनश्वर और नित्य हूं, शरीर रहे या न रहे, मैं आत्मा की भांति शाश्वत हूं। यही मेरा मोक्ष है।

किंतु मोक्ष की कामना करनेवाले आत्मज्ञानी भी मोक्ष से घबराते हैं, तो क्या राजा जनक मोक्ष के भय से मुक्त हैं। शंका के समाधान हेतु अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'जो मानव इहलोक के भोग से विरक्त हो जाता है, परलोक के भोग उसे नहीं सताते, नित्य-अनित्य का विवेक करने में वह सक्षम होता है और जो मोक्ष की इच्छा रखता है, वह मोक्ष से ही भयभीत होता है। तू भी कहता है कि मैं इहलोक-परलोक के भोग से विरक्त हो गया हूं, नित्य-अनित्य का मुझे विवेक है और मैं मोक्ष का इच्छुक हूं। मोक्ष से जो निर्भय होता है, वही वास्तविक आत्मज्ञानी होता है, वही आत्मज्ञान को आत्मसात करता है और मोक्ष का वरण करता है। मोक्ष से भयभीत होने का अर्थ है, तूने अभी आत्मज्ञान को आत्मसात नहीं किया, तुझमें अभी भोग-विलास की कामनाएं शेष हैं। कामनाओं से आबद्ध होकर तू सात्विक प्रवृत्तियों से दूर रहेगा, तामसिक लालसाएं तुझे लोभ, मोह और माया के चक्रव्यूह से कभी निकलने नहीं देंगी। अत: आत्मज्ञान की भ्रांति अपने मन से निकाल दे। मात्र आत्मज्ञान की अनुभूति

ही पर्याप्त नहीं। आत्मज्ञान को आत्मसात किए बिना मोक्ष के भय से छुटकारा नहीं मिल सकता। आत्मज्ञान तो कई ऋषि-मुनियों ने प्राप्त किया है, किंतु उसे आत्मसात न करने के कारण वे मोहग्रस्त हैं और मोक्ष की कामना करते हुए भी मोक्ष से भयभीत हैं।'

धीरस्तुभोज्यमानोऽपिपीड्यमानोऽपिसर्वदा।
आत्मानंकेवलंपश्यन्नतुष्यतिनकुप्यति॥९॥

भावार्थः धीर व ज्ञानी मानव भोगते व पीड़ित होते हुए भी सर्वदा केवल एक आत्मा को देखता है और न हर्षित होता है, न कुपित।

विवेचनाः आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी में क्या अंतर है? आत्म-अज्ञानी नित्य भोग-विलास में रत रहता है। वह निरंतर लालसाओं और अभिलाषाओं का पीछा करता है। उसके जीवन में एकमात्र लक्ष्य यही होता है कि वह कैसे अधिकाधिक मात्रा में यश, धन-संपदा और अधिकारों का स्वामी बने। उसका दंभ और गर्व उसे जीवन की वास्तविकताओं से परिचित ही नहीं होने देता। उसमें अनगिनत दुर्बलताएं होती हैं। ईर्ष्या, शंका, क्रोध व काम से उसका शरीर तनावग्रस्त होता है। वह सुख-लाभ से हर्षित होता है और छोटा-सा कष्ट पाकर ही पीड़ित हो जाता है।

अष्टावक्र की दृष्टि में आत्मज्ञानी वह है, जो धीर व स्थिरमना होता है। उसे सांसारिक आकर्षण कदापि विचलित नहीं करते। वह ईर्ष्या, शंका, क्रोध व काम जैसे मनोविकारों से सर्वथा अछूता होता है। वह शरीर से भले ही **दुर्बल** हो, किंतु मन, वचन व कर्म से **सबल** होता है। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है सदैव निरपेक्ष और निरंजन बने रहना, अर्थात न किसी की उपेक्षा करना और न कभी किसी दोष को अंगीकार करना। उसके चतुर्दिक भले ही घनघोर अंधकार व्याप्त हो, किंतु निज का प्रकाश उसका पथ आलोकित व प्रशस्त करता रहता है, जिस पर चलकर वह मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्ष के भय से वह कातर या अधीर नहीं, क्योंकि उसने आत्मज्ञान को आस्थापूर्वक आत्मसात किया है। वह आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मा उससे भिन्न नहीं। इस अभिन्नता की अनुभूति से उसकी दृष्टि व्यापक और असीम हो गई है और उसका व्यक्तित्व समुद्र की भांति ओर-छोर से विहीन।

ज्ञानी और अज्ञानी का यही अंतर समझते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'तू स्वयं को आत्मज्ञानी बताता है। मैं बताता हूं, ज्ञानी कैसा होता है। तू ध्यानपूर्वक श्रवण कर, तदुपरांत विचार कर कि तेरा आत्मज्ञान तेरा भ्रम है या तूने सचमुच आत्मज्ञान की प्रतीति कर ली है। वास्तविक ज्ञानी धीर-गंभीर

होता है। वह सांसारिक कार्य संपादित करता है, किंतु उनमें लिप्त नहीं होता। उसके चतुर्दिक मन को लुभाने वाले दृश्य होते हैं, वह उन्हें देखता है, किंतु उनके आकर्षण से मुक्त होता है। वह भोगता है, किंतु इससे उसे किसी प्रसन्नता या उल्लास का अनुभव नहीं होता। वह कभी-कभी पीड़ित भी होता है किंतु पीड़ा से न तो क्षुब्ध होता है और न क्रोधित या कुपित। प्रसन्नता अथवा क्षुब्धता से तटस्थ होना सहज नहीं, मानवीय दुर्बलताओं से वही विकाररहित हो सकता है, जो आत्मज्ञान प्राप्त कर धीर-गंभीर हो जाता है। उसे न यश की कामना होती है और न धन-संपदा की। वह आत्मलीन हो जाता है। उसके चक्षु जिधर उठते हैं, उधर ही वह आत्मा के दर्शन करता है। यही कारण है कि भोगते व पीड़ित होते हुए भी उसे नित्य एकमात्र आत्मा दृष्टिगोचर होती है और वह न हर्षित होता है न कुपित।

राजन! ऐसा होता है आत्मज्ञानी का विराट स्वरूप। तू मेरे प्रवचन सुनकर भाव-विभोर हो गया है और तुझे लगता है कि तूने आत्मा के दर्शन कर लिए, तुझे सब में आत्मा के दर्शन होते हैं और तू आत्मा हो गया है। किंतु क्या तू इतना धीर-गंभीर हो गया है कि प्रासादों में जाकर तू पुनः भोग-विलास और यश-संपदा की कामना नहीं करेगा? मानवीय दुर्बलताओं से मुक्त हो पाना अत्यंत दुष्कर है, राजन! लेकिन सांसारिक आकर्षणों के पाश का बंधन इतना पुष्ट होता है कि आजीवन मानव उससे मुक्त नहीं हो पाता। अतः राजन! तू अपने अंतर्मन में झांक, क्या तुझे सचमुच अभिलाषाओं का मोह नहीं रहा है, आत्मलीन होने की तेरी भावना वास्तविक है, भ्रांति नहीं।'

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवेचापिनिन्दायांकथंक्षुभ्येन्महाशयः॥१०॥

भावार्थः जिसे अपना क्रियाशील शरीर अन्य के शरीर की भांति दृष्टिगोचर होता है, ऐसा महाशय प्रशंसा और निंदा से कैसे क्षुब्ध हो सकता है।

विवेचनाः अष्टावक्र आत्मज्ञानी को धीर-गंभीर और दुख-सुख से तटस्थ बताने के बाद अब कहते हैं—'ज्ञानी का शरीर क्रियाशील होता है, वह सांसारिक कर्त्तव्यों की अवहेलना नहीं करता, किंतु विकारों से दूर रहता है। आत्मा की प्रतीति उसे दोषरहित कर देती है। उसका क्रियाशील शरीर केवल उसी तक सीमित नहीं रहता, वह जड़-चेतन से एकाकार होकर एकात्मा हो जाता है। उसे दूसरे का शरीर भी अपने क्रियाशील शरीर की भांति प्रतीत होता है।

आत्मज्ञानी क्रियाशील होते हुए **विरक्त** होता है, भोगते हुए भी **लिप्साहीन**

होता है, पीड़ित होते हुए भी **कुपित** नहीं होता, जबकि आत्म-अज्ञानी की क्रियाशीलता उसे **विरक्ति** का बोध नहीं होने देती। वह जितना भोगता है, उसकी लिप्सा उतनी ही बढ़ती जाती है, जरा-सी पीड़ा या कष्ट हुआ नहीं कि व्याकुलता से क्षुब्ध और कुपित हो जाता है। लाभ-हानि, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद तथा जन्म-मरण की क्षुद्र धारणाओं को ही वह शाश्वत सत्य मानता है।

आत्मज्ञानी की दृष्टि में शाश्वत सत्य मात्र एक ही है, और वह है आत्माबद्ध जीव-जड़, जिसका वह स्वयं अटूट अंश होता है। चूंकि वह आत्मा का चैतन्य स्वरूप होता है, अतः चेतना से उसका शरीर संचालित है, उसी से वह कर्म करता है, किंतु आत्मज्ञानी की स्थिति ऐसी हो जाती है कि लाभ-हानि, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, काम-क्रोध और जन्म-मरण की धारणाएं उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखतीं। इन्हें शाश्वत सत्य मानने वाले ऐसे लोग होते हैं, जो अपेक्षाएं रखते हैं, यश व संपदा का लोभ करते हैं और भोग-विलास की कामना करते हैं, जबकि अष्टावक्र आत्मज्ञानी को निरपेक्ष की संज्ञा से आवृत्त करते हैं। अर्थात निरपेक्ष आत्मज्ञानी किसी की अपेक्षा नहीं रखता, न उसे कोई लोभ सताता है और न ही कोई कामना।

अष्टावक्र राजा जनक से आत्मज्ञानी का मर्म समझते हुए कहते हैं—'आत्मा की प्रतीति होने का यह अर्थ नहीं है कि तू सांसारिक कर्त्तव्यों से मुंह फेर कर निष्क्रिय हो जा। संसार में रहते हुए सांसारिक कर्मों के निर्वहन की अनिवार्यता से मुक्त होना संभव नहीं, किंतु सांसारिक भोग-विलासों की लिप्सा सांसारिक कर्म का भाग नहीं, अतः इनसे दूरी बनाए रखना आवश्यक है। आत्मज्ञानी ऐसा ही करता है। उसका शरीर क्रियाशील है, किंतु कामनाशील नहीं। वह अपने क्रियाशील शरीर को अन्य के शरीर के समान देखता है, भिन्न नहीं। न आत्मा खंडित है और न आत्मा से निसृत जीव-जड़ खंडित है। आत्मज्ञानी ब्रह्मांड को खंड-खंड में नहीं देखता, अपितु एक ही ब्रह्म के अभिन्न स्वरूप में देखता है। अतः उसे अपने व अन्य के शरीर में भेद नहीं दीखता। राजन! वास्तविकता तो यह है कि ऐसा ही व्यक्ति क्षुद्रता से उठकर उत्कर्ष का स्पर्श करता है। उसे प्रशंसा या निंदा विचलित नहीं करती, वह दोनों स्थितियों में अडिग और अविचल होता है। आत्मज्ञानी के सम्मुख प्रशंसा व निंदा निष्प्रभावी, निष्प्रयोज्य और निरर्थक होती है। प्रशंसा व निंदा सुनकर भी वह निर्विकार होता है, उसके हावभाव से किसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रकट नहीं होती। न वह प्रसन्न होता है न क्षुब्ध।'

'राजन! क्या तू सचमुच आत्मावत हो गया है? क्या तुझे प्रशंसा व निंदा सुनकर हर्ष व विषाद की अनुभूति नहीं होती? तू अब तक ऐसे लोगों से घिरा हुआ है, जो सतत् तेरी प्रशंसा और जय-जयकार करते हैं। ऐसे लोग तुझे प्रिय और अपने प्रतीत होते हैं, उन्हें तू हर्षित होकर उपहार और अर्थलाभ प्रदान करता है और जो तेरी निंदा करते हैं, उनसे क्षुब्ध व कुपित होकर उन्हें दंडित करता है। मेरे प्रवचन सुनकर तू शीघ्र ही अपने आचरण को कैसे परिवर्तित कर सकता है? अभी तू मेरे प्रवचनों के प्रभाव में है। आत्ममंथन के उपरांत ही तू इसकी अनुभूति कर सकता है कि क्या तू अपने क्रियाशील शरीर को अन्य के शरीर की भांति मानता है? क्या तू प्रशंसा व निंदा सुनकर निर्विकार और अविचल रह पाता है?'

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यंविगतकौतुकः।
अपिसन्निहितेमृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥११॥

भावार्थः जिसका कौतुक भाव समाप्त हो चुका है, ऐसे धीर पुरुष को यह विश्व मात्र मायावत दृष्टिगोचर होता है। वह मृत्यु आने पर भयभीत कैसे हो सकता है।

विवेचनाः मृत्यु अवश्यंभावी है, जिसने जन्म लिया है, उसका मरण निश्चित है। जो संसार में आया है, उसका अपने कर्त्तव्यों को निभाकर पंच तत्त्वों में विलीन हो जाना शाश्वत सत्य है। आत्म-अज्ञानी भी मृत्यु को प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी भी। किंतु दोनों की मृत्यु से संबद्ध दो भिन्न धारणाएं हैं। आत्मज्ञानी के लिए मृत्यु मात्र **शरीर-त्याग** है और अब वह पुनः शरीर का रूप धारण कर नहीं जन्मेगा। वह निराकार होकर निराकार **आत्मा** हो जाएगा। वह जीवितावस्था में भी आत्मा था और उसका साकार रूप आत्मा का साक्षी था। मरणोपरांत भी वह आत्मा है और मोक्ष प्राप्त कर पुनः साकार रूप ग्रहण नहीं करेगा। इसके विपरीत आत्म-अज्ञानी मृत्यु से सदा **भयभीत** होता है, नरक-स्वर्ग की कल्पनाएं उसकी मृत्यु को अधिक **कष्टप्रद** बनाती है। आत्मा को वह शरीर के बाह्य मानता है, स्वयं को कभी **आत्मा** का स्वरूप मानने की समझ उसमें नहीं होती। अतः वह बार-बार जन्म लेने और मरने को बाध्य होता है।

यही नहीं, आत्म-अज्ञानी आजीवन जड़-जीव के नाना-स्वरूप देखकर चकित होता है। वह कभी हाथी के शरीर की विचित्र बनावट देखकर चकित होता है तो कभी जिराफ और ऊंट की ऊंचाई से अचंभित। उसे किसी अन्य व्यक्ति का मोटापा देखकर हंसी आती है तो किसी का लंबा कद देखकर

कौतूहल होता है। सबकुछ उसके लिए कौतुक का विषय होता है। विशेषकर किसी भी जीव-जड़ को पहली बार देखकर वह विस्मय से अभिभूत हो जाता है। सोचता है, 'अरे! ऐसा भी होता है। यह विश्व तो चमत्कारों से परिपूर्ण है।'

इसके विपरीत आत्मज्ञानी का कौतुक निःशेष हो चुका होता है। वह जड़-जीव में से किसी को स्वयं से भिन्न नहीं मानता। स्वयं सहित उसे सभी में आत्मा दीखती है। जब सबकुछ आत्मा है तो किसके प्रति चकित हुआ जाए। कौतुक का भाव उसमें होता है, जो शरीर व आत्मा को भिन्न मानता है, द्वैत मानता है। आत्मा दोषरहित है, उसके साक्षीस्वरूप भी दोषरहित हैं, अतः उनसे चकित होने की क्या आवश्यकता? ऐसा उदात्त होता है आत्मज्ञानी। उसकी दृष्टि में कोई विद्रूप नहीं होता, कोई ऊंचा, लंबा, मोटा या अनगढ़ नहीं होता।

अष्टावक्र राजा जनक को बताते हैं कि यह विश्व मायामात्र है। आत्मज्ञानी इस सत्य से अवगत हो जाता है और कभी मायाजाल में फंसने की भूल नहीं करता। माया में अत्यंत उद्दाम आकर्षण होता है, बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी तक मायाजाल में फंसकर अपना विनाश कर डालते हैं तो सामान्यजन की स्थिति की सहज ही कल्पना की जा सकती है। किंतु आत्मज्ञानी के लिए विश्व माया से अधिक कुछ नहीं, अतएव वह मायावी शक्तियों से प्रभावित नहीं होता, मायावी शक्तियां उसमें कौतुकता उत्पन्न नहीं करतीं। उसका चकित होने का भाव समाप्त हो जाता है। जिसे कौतुक न हो, जो विश्व को माया जान ले, वह मृत्यु की वास्तविकता से परिचित हो जाता है। उसे मृत्यु से डर नहीं लगता। आत्मस्वरूप होकर मृत्यु से भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं। पंच तत्त्वों से निर्मित उसका साकार रूप आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, मृत्यु से यह साकार रूप पंच तत्त्वों को समर्पित हो जाएगा और निराकार आत्मा का अटूट अंग बना रहेगा।

राजन! तू आत्मावत हो गया है तो तेरा मृत्यु से भय भी निःशेष हो जाना चाहिए। किंतु क्या तेरा मृत्यु से भय समाप्त हो चुका है? क्या तुझे अपना शरीर दूसरे के शरीर की भांति दिखता है। क्या तू दूसरे के शरीर की विचित्र से चकित होता है? क्या यह विश्व तेरी दृष्टि में मात्रा मायावत का रूप धारण कर चुका है? क्या तुझे मायावी शक्तियां देखकर कौतुक होता है? फिर कैसे कहता है कि तुझे आत्मा का रहस्य समझ में आ गया है? पहले कौतुक त्याग, विश्व को माया जान, तदुपरांत मृत्यु के भय से मुक्ति का अनुभव कर, तब तुझे आत्मा का रहस्य समझ में आएगा।'

निस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्यतुलनाकेनजायते॥१२॥

भावार्थः जिसकी मानसिकता मोक्ष की कामना से भी निस्पृह होती है, ऐसे आत्मज्ञान से तृप्त महात्मन की तुलना किससे की जा सकती है?

विवेचनाः आत्मज्ञान से तृप्त महात्मा का मन निस्पृह होता है, उसे किसी की कामना नहीं होती। वस्तुतः कामना तो आत्म-अज्ञानी का अवगुण होती है, आत्मज्ञानी का उससे क्या संबंध? यह तो आत्म-अज्ञानी है, जो विश्व के मायाजाल में बहुत अंदर तक फंस चुका है। उसे लगता है कि मायाजाल में फंसना ही सांसारिक कर्मों का पर्याय है। यही जीवन जीने का एकमात्र ढंग है। माया की निरर्थकता को सार्थकता समझने वाला आजीवन संभ्रमों में जीता है। मायावी शक्तियों के उद्दाम आकर्षण से वशीभूत होकर वह निरंतर नई-नई आकांक्षाएं पालता है।

जबकि आत्मज्ञानी आकांक्षाओं से विहीन होता है, क्योंकि वह निरपेक्ष हो चुका होता है। वह जानता है कि माया की मृगतृष्णा का ओर-छोर अनंत और असीम है। उसका पीछा करना व्यर्थ है, क्योंकि उसका जितना पीछा किया जाए, उसका विस्तार उतना ही बढ़ता जाता है।

आत्म-अज्ञानी को भी अंत में पता चल जाता है कि माया और कुछ नहीं मात्र महाठगनी है और वह उससे सदैव ठगा ही गया है। इस सत्य से परिचित होते हुए भी वह भ्रामक जीवन ही जीता है। अब भी वह आत्मा-परमात्मा की स्वयं में प्रतीति करने में असमर्थ होता है, स्वयं को अन्य जीव-जड़ से नितांत भिन्न मानता है। उसे मृत्यु का भय सताता है तो परमात्मा की स्तुति करता है। तदंतर मोक्ष की कामना से विकल होता है। यह मोक्ष की कामना क्या है? यह भी आत्म-अज्ञानी की अभिलाषा है, वासना है। वह सदैव मात्र लोभ करता है, कुछ पाने के लालच में तड़पता रहता है। उसकी **मोक्ष** की कामना भी उसके **लालच** को दर्शाती है। मोक्ष की प्रत्याशा में बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर दुरुह रास्तों पर चलने को भी प्रस्तुत हो जाता है।

जबकि आत्मज्ञानी को किसी प्रकार का लालच नहीं सताता। उसे **मोक्ष** से भी कोई **मोह** नहीं। जब आत्मज्ञानी को लोभ, मोह, काम, क्रोध की प्रतीति नहीं होती तो उसका मोक्ष के प्रति आकर्षण कैसा? वह मोक्ष की इच्छा से रहित स्वयं ही आत्मा-परमात्मा है, आत्मा-परमात्मा को भला मोक्ष से मोह कैसा?

अष्टावक्र का कथन है कि ऐसे आत्मज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती, वह अतुलनीय और अनुपम है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! तू मोक्ष पाने की लालसा से मेरे पास आया है। उसे पाने की लालसा का अर्थ है, अभी तक तेरी अभिलाषाओं की तृष्णा पूर्ण नहीं हुई। सामान्य व्यक्ति ही अभिलाषाओं का दास होता है। उसका हर चरण कुछ पाने की इच्छा से उठता है, उसके प्रत्येक कर्म का प्रेरणा स्रोत कोई-न-कोई इच्छा ही होती है। उसकी इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं। इच्छाओं के अनंत सागर में आजीवन तैरकर जब वह अंतकाल को पहुंचता है तब भी वह इच्छाओं से परिपूर्ण होता है। उस समय भी वह यह नहीं सोचता कि उसने जो कुछ पाया है, मरने के बाद सब यहीं रह जाएगा, अपने साथ वह कुछ नहीं ले जा सकेगा।

इस सत्य से अवगत होते हुए भी आत्म-अज्ञानी का मोह व इच्छा से नाता नहीं टूटता, वरन् प्रत्येक नए दिन के साथ यह नाता अधिक अटूट और अविछिन्न होता जाता है।

राजन! तू इस सत्य को हृदयंगम कर कि जो आत्मज्ञानी होता है, जिसे स्वयं के आत्मा व परमात्मा होने का भान होता है, उसकी मानसिकता निस्पृह हो जाती है। आशा-निराशा के भावों से वह विमुक्त होता है। वह जानता है, आशा-निराशा क्षणिक है, इनका कोई स्थायी महत्त्व नहीं। राजन! आत्मज्ञानी को मोक्ष की इच्छा भी नहीं होती। आत्मज्ञानी आत्मलीन हो जाता है, उसे कोई सुध-बुध नहीं होती। जिसे सुध-बुध ही नहीं, उसे इच्छाओं की अनुभूति कैसे हो सकती है? वह तो स्वयं मोक्षावस्था में है, उसे मोक्ष का मोह क्यों होगा? राजन! ऐसा आत्मज्ञानी महान है, उत्कृष्ट है, अनुपम और अतुलनीय है। वह किसी से तुलना करने योग्य नहीं है। क्या इस आत्मज्ञानी महात्मा की भांति तेरी मानसिकता भी इच्छाओं से मुक्त है? क्या तूने सुध-बुध खोकर मोक्षावस्था का अनुभव किया अथवा मोक्ष की कामना से तेरा सर्वांग अब तक आकुल-विकल हो रहा है?

स्वभावादेव जानाति दृश्यमेतन्नकिंचन।
इदंग्राह्यमिदंत्याज्यंसकिं पश्यतिधीरधीः॥१३॥

भावार्थः जो धीर-गंभीर जानता है कि यह दृश्य स्वभावतः कुछ भी नहीं, वह ज्ञानी किस प्रकार देख सकता है कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है?

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि जो हमें खुली आंखों से दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः वही नहीं होता है, जो दिखता है। विश्व है, किंतु जैसा वह है, वही उसका वास्तविक स्वरूप नहीं होता। सामान्य व्यक्ति को विश्व

का मायाजाल सांसारिक कर्मों का पर्याय प्रतीत होता है, जबकि आत्मज्ञानी को विश्व की माया मात्र माया ही नजर आती है और विश्व मात्र आत्मा से निसृत आत्मा का स्वरूप। इसी प्रकार जिसे सीपी का ज्ञान नहीं होता, वह सीपी को चांदी समझता है, क्योंकि वह सामान्य व्यक्ति होता है और लोभ व मोह से ग्रस्त। जो रस्सी से अपरिचित होता है, उसकी दृष्टि में रस्सी भी सांप की भांति कौंधती है। किंतु ज्ञानी जानता है कि सामने जो दृश्य वह देख रहा है, स्वभावत: वह कुछ नहीं, उसका आकार-प्रकार मिथ्या है, नश्वर है। सत्य और अनश्वर है तो मात्र आत्मा, जो निराकार और निरंतर है। यह समस्त दृश्य आत्मा के अभिन्न भाग हैं। **मैं** कुछ नहीं, **तुम** कुछ नहीं, **वह** कुछ नहीं, **आत्मा** ही सबकुछ और सर्वस्व है। आत्म-अज्ञानी ही **मैं, तुम** और **वह** को पृथक-पृथक देखता है और विश्व के मायाजाल में ही उसे वास्तविक जीवन का भान होता है।

सच तो यह है कि जो ज्ञानी इस तथ्य से सुपरिचित हो जाता है कि दृश्य वस्तुत: दृश्य नहीं, बल्कि दृश्य की भ्रांति है, वह लेन-देन, प्राप्ति-मुक्ति और ग्रहण-त्याग की सांसारिक प्रवृत्तियों के अनर्गल प्रपंच से मुंह मोड़ लेता है। वह जानता है कि जो दिख रहा है, वह कुछ भी नहीं है। तो वह क्या ग्रहण करे और किसका त्याग करे? अर्थात जब सबकुछ आत्मा है, वह स्वयं आत्मावत है तो फिर ग्रहण करने और त्यागने का अर्थ ही कहां उठता है? संसार में लोग जो कुछ ग्रहण करते हैं अथवा त्यागते हैं, वह वस्तुत: उनकी भ्रांति है कि वे कुछ ग्रहण कर रहे हैं या त्याग रहे हैं। ग्रहण किया हुआ और त्यागा हुआ अंतत: यहीं रह जाता है, काया की तरह नश्वर और नष्टवान। मात्र एक ही सत्य का अस्तित्व रह जाता है, और वह है **आत्मा**।

इसी का ज्ञान देते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! सामान्यजन भ्रांतियों का पुतला है। वह वस्तुओं और दृश्यों को उसी रूप में देखता है, जिस रूप में वे दिखाई देती हैं। उसे कुछ ग्रहण करने योग्य लगता है तो कुछ त्यागने योग्य। वह कल्पना ही नहीं कर पाता है कि वह सब मिथ्या व कल्पित है। द्वैतदर्शन के कारण ही दृश्यों का अस्तित्व है, इनका अस्तित्व सामान्यजन के चक्षुओं का भ्रम है। वस्तुत: यह संपूर्ण जगत ही मिथ्या है, असत्य है। आत्मज्ञानी को जब इसका अनुभव हो जाता है तब उसकी समस्त भ्रांतियों और समस्याओं का निराकरण हो जाता है और वह निर्द्वंद्व और निश्शंक हो जाता है। वह मन, वचन व कर्म से निस्पृह हो जाता है। जगत में उसे कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, मात्र आत्मा के साकार रूप में जो प्रतीत होता है, उसकी निरर्थकता का

उसे भलीभांति भान होता है। अतः वह क्या ग्रहण करे अथवा क्या त्याग दे, इस मिथ्या प्रपंच से मुक्त होता है। उसे इस सत्य की प्रतीति हो जाती है कि ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे ग्रहण किया जा सके अथवा त्यागा जा सके। आत्मज्ञानी की दृष्टि में ऐसा कुछ नहीं जो ग्रहण योग्य या त्जात्य हो।

राजन! तू जब तक दिखाई दे रहे स्वरूप को ही सत्य मानेगा, तब तक इसी भ्रांति में पड़ा रहेगा कि यह ग्रहण योग्य है अथवा त्याग करने योग्य। कोई वस्तु या दृश्य योग्य अथवा त्याज्य तभी होता है, जब सचमुच उसका कोई अस्तित्व होता है, जबकि यह दिखाई दे रहे दृश्य वस्तुतः कुछ भी नहीं और इसका अनुभव ज्ञानी महात्मा और सिद्धपुरुष को तत्काल हो जाता है। यदि तुझे आत्मज्ञान हुआ है तो तुझे दृश्यों को महत्त्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, अन्यथा ग्रहण और त्याग की मिथ्या भावना तुझे कभी भी आत्मज्ञान की प्रतीति नहीं होने देगी।'

अंतस्त्यक्तकषायस्यनिर्द्वन्द्वस्यनिराशिषः।
यदृच्छायागतोभोगोनदुःखाय न तुष्टये॥१४॥

भावार्थः जो अंतःकरण में समाई वासना के मैल को त्याग कर निर्द्वंद्व और आशारहित होता है, उसे दैव-इच्छा से प्राप्त भोग से न दुख होता है और न तुष्टि।

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि वास्तविक आत्मज्ञानी वही है, जो सात्विक प्रवृत्तियों से युक्त है। जिसके अंतर्मन में कलुष भरा हुआ है, जो लिप्साओं व वासनाओं से घिरा हुआ है, वह आत्मा की अनुभूति करने में सर्वथा असमर्थ होता है। उसका तन-मन कामनाओं की मृगमरीचिका में उलझ जाता है। वह मात्र स्वयं व स्वयं के तन को महत्त्वपूर्ण मानता है। अपनी सुख-सुविधाओं के साधन जुटाने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं सूझता। इस प्रकार वह परम स्वार्थी हो जाता है। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के निमित्त उसे किसी को हानि पहुंचाने में भी संकोच नहीं होता। इससे वह क्रूर और हिंसक हो जाता है। नम्रता और सहिष्णुता जैसे महती गुणों से उसका सदैव के लिए संबंध विच्छेद हो जाता है।

नम्रता और सहिष्णुता के गुणों से संपृक्त हुए बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। आत्मज्ञानी किसी अन्य के प्रति क्रूर और हिंसक हो ही नहीं सकता। उसे सब में **स्वयं** की प्रतीति होती है। वह **स्वयं** को किसी से पृथक नहीं मानता, अतः उसे किसी से ईर्ष्या नहीं, वह किसी को हानि पहुंचाने की कल्पना ही नहीं कर सकता। हानि किसे पहुंचाए? वही **पर में है—पर ही उसमें** है। स्वयं द्वारा स्वयं को हानि

कौन पहुंचाता है? ऐसा तो केवल मूढ़ ही कर सकता है, और मूढ़ कभी आत्मज्ञानी नहीं हो सकता। मूढ़ को विश्व की विशालता देखकर अचंभा होता है। विश्व की माया ही उसे सत्य प्रतीत होती है, माया का बंधन उसे बंधन नहीं प्रतीत होता, वरन् उसी में उसे परमानंद व तृप्ति का अनुभव होता है। स्पष्ट है कि मूढ़ के अंत:करण में वासना का मैल समाया होता है, भोग-विलास के अतिरिक्त उसे कुछ और रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

आत्मज्ञानी भी भोगता है, पर भोग-विलास में लिप्त नहीं होता। वह जीने के लिए भोगता है, भोग-विलास के लिए नहीं जीता। भोग में उसे कष्ट मिले या सुख, वह न शोकग्रस्त होता है, न हर्षित।

अष्टावक्र सच्चे आत्मज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं—'राजन! यदि तू निर्द्वंद्व रहना चाहता है, मस्तिष्क को मोहमाया से मुक्त रखना चाहता है तो आशा का परित्याग कर। किसी से किसी प्रकार की आशा मत रख, आशारहित होते ही तेरी चंचलता शांत हो जाएगी। आशाओं-लिप्साओं का घटाटोप तभी घनीभूत होता है, जब मानव का अंत:करण वासनाओं से कलुषित हो जाता है। यदि तू अपने अंत:करण के कषाय का त्याग नहीं कर सकेगा तो सर्वदा अंतर्द्वंद्व से पीड़ित रहेगा, आशा-निराशा का हर्ष-विषाद तुझे जीवन की सार्थकता से परिचित नहीं होने देगा। भोग-विलास ही तेरे जीवन का पर्याय बन जाएगा।

राजन! इस सत्य को कभी विस्मृत मत कर कि भोग-विलास की अभिलाषा ही मानव को अन्य दुर्गुणों से जोड़ती है। भोग-विलास ही अन्य कुप्रवत्तियों को आमंत्रित करता है। भोग-विलास ही समस्त दुराचारों और व्यभिचारों का स्रोत है। भोग-विलास ही सत्य का नाश और मिथ्या का पोषण करता है। जो आत्मज्ञानी होता है, वह दैव-इच्छा से प्राप्त भोग का उपभोग बिना किसी प्रतिक्रिया को प्रकट किए करता है। जीवन-यात्रा के दौरान उसे कैसा भी भोगना पड़े, उसे वह दैवयोग मानकर शिरोधार्य करता है। न दुखी होता है और न तुष्टि का अनुभव करता है। आत्मज्ञानी तुष्टि, सुख और दुख की मनोभावनाओं से मुक्त होता है।

राजन! इस सूत्र को तू हृदयंगम कर ले, जो मानव अंत:करण में समाई वासना की मैल को त्याग देता है, वह निर्द्वंद्व और आशारहित हो जाता है। इस प्रकार आत्मज्ञान का साक्षात्कार होते ही वह दैव-इच्छा से प्राप्त प्रत्येक भोग को चुपचाप भोगता है, कष्ट भोगते समय न उसे दुख होता है और न सुख भोगते समय तुष्टि। इस प्रकार तू समस्त मानवीय दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने में सफल होगा।

□□

अष्टावक्र का संशय देखकर राजा जनक को यह समझते तनिक भी विलंब नहीं होता कि उन्होंने स्वयं में आत्मा की प्रतीति करने के पश्चात अपनी जिस मानसिकता का उल्लेख किया था, उससे अष्टावक्र संतुष्ट नहीं हैं। राजा जनक को निस्संदेह स्वयं के आत्मावत होने की सशक्त अनुभूति हुई है, अतः वे अष्टावक्र की शंकाओं का समाधान करते हुए उत्तर देते हैं:

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
नहि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता॥१॥

भावार्थ: निस्संदेह भोग-लीला से खेलते हुए आत्मज्ञानी व धीर-गंभीर की समानता सांसारिक लिप्साओं में लीन मूढ़ के साथ कदापि नहीं की जा सकती।

विवेचना: राजा जनक अष्टावक्र को बताते हैं–'आपके प्रवचनों से मुझे आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी का अंतर समझ में आ गया है। आत्म-अज्ञानी की सांसारिक लिप्साओं से निवृत्ति नहीं हो पाती तो उसे आत्ममंथन का समय भला कैसे मिलेगा? **आत्ममंथन** के बिना **आत्मज्ञान** संभव नहीं।

विश्व में चतुर्दिक मन को मोहने वाले दृश्य व वस्तुएं हैं, जिनके प्रति सामान्यतः जन-जन आकृष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति का प्रयास होता है कि अधिक-से-अधिक दृश्यों व वस्तुओं को भोगे। यहीं से अभिलाषाओं के पीछे भागने की प्रवृत्ति का जन्म होता है। मानव के सारे कर्म अभिलाषाओं को केंद्र में रखकर संपन्न होते हैं। वह अभिलाषाओं को मूर्त रूप देने के लिए आजीवन छटपटाता है। इस छटपटाहट में वह न पापकर्म करने से झिझकता है, न झूठ बोलने से चूकता है। अभिलाषा-सिद्धि में कोई बाधा बनने की चेष्टा करे तो उसके प्राण हरने में भी उसे संकोच नहीं होता। वह विवेकशून्य हो जाता है,

उसे सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं होता। स्वयं को श्रेष्ठ मानने की आकांक्षा से अन्य सबको तुच्छ व हेय समझता है। किसी भी भांति धन संचय करना उसका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। सामाजिकता और सामुदायिकता की भावना का उसमें सर्वथा अभाव होता है। इस प्रकार चतुर्दिक शत्रुता का वातावरण पनपता है, जन-जन में एकता, बंधुत्व व सद्भाव जैसे सद्गुण विनष्ट हो जाते हैं। यह द्वैत दर्शन की परकाष्ठा है, जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ती नहीं, पृथक करती है। पृथकता की घातक मनोवृत्ति व्यक्ति को आंतरिक शक्तियों से परिचित नहीं होने देती। वह अपनी ऊर्जाओं का सदुपयोग नहीं कर पाता, उसे स्वयं में आत्मा-परमात्मा की अनुभूति नहीं हो पाती। वह शारीरिक बल को ही आंतरिक शक्ति समझने की भूल करता है। उसे लगता है दूसरे को मारना, लूटना तथा प्रताड़ित करना ही वास्तविक शक्ति है। वह सदैव अंधकार में रहता है और काले कर्म (दुष्कर्म) करता है। उसे उजाले व सत्य से डर लगता है।

आत्मज्ञानी के चतुर्दिक चाहे कितना भी घनघोर अंधकार क्यों न व्याप्त हो, उसकी दृष्टि तीक्ष्ण होती है, उसे सबकुछ स्पष्ट दिखाई देता है, क्योंकि आत्मज्ञान निज के प्रकाश से ही आलोकित होता है। वह भी कर्म करता और भोगता है, किंतु भोग व कर्मों में लोभवश लिप्त नहीं होता। उसके कर्म उसकी अभिलाषाओं को मूर्तरूप देने तक ही केंद्रित नहीं होते। उसका ध्येय केंद्रित नहीं होता, अभिलाषा सिद्धि के लिए वह छटपटता नहीं। केवल जो करणीय कर्म हैं, वह करता है, भोग को दैव इच्छा मानकर चुपचाप भोगता है। वह किसी को तुच्छ या हेय नहीं मानता, उसे स्वयं में और सभी में उत्कृष्टता ही दिखाई देती है। आत्मा से निसृत सृष्टि हेय या तुच्छ कैसे हो सकती है? अद्वैत-दर्शन उसे उदात्त और विस्तारित बनाता है। किसी को स्वयं से पृथक मानने की वह कल्पना तक नहीं कर सकता। उसमें सामाजिकता व सामुदायिकता की विस्मयकारी भावना होती है। इस प्रकार जन-जन में एकता, बंधुत्व व सद्भाव जैसे सद्गुण विकसित होते हैं। विनम्रता और सौम्यता से आत्मज्ञानी आभामय हो उठता है। आत्मज्ञानी इच्छारहित और संतृप्ति की अनुभूति से निरपेक्ष और निरंजन हो जाता है।

हे गुरुदेव! आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी में क्या अंतर है, आपकी कृपा से मैं इससे भलीभांति परिचित हो गया हूं। इन दोनों में रंचमात्र भी समानता नहीं। आत्मज्ञानी को विदित है कि विश्व मात्र लीला है, अतएव वह सांसारिक भोग लीला से खेलता है, किंतु उससे संयुक्त नहीं होता, आत्मज्ञान उसे धीरता और गंभीरता प्रदान करता है। उसकी समानता ऐसे व्यक्ति से नहीं की जा सकती, जो विश्व की लीलाओं को लीला न मानकर जीवन का पर्याय मान

लेता है और सांसारिक लिप्साओं में लीन होता है। ऐसे मूढ़ की ज्ञानी से समानता हो ही नहीं सकती।'

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति।।२।।

भावार्थः जिस पद को पाने की इच्छा से इंद्रादि सर्वदेवता भी दीन होते हैं, आश्चर्य है कि उस पद पर स्थित होकर भी योगी हर्ष को प्राप्त नहीं होता।

विवेचनाः राजा जनक आत्मज्ञानी की अनुपमता का बखान करते हुए आगे कहते हैं–'आत्मज्ञानी मानवीय दुर्बलताओं से सर्वथा मुक्त होता है। हर्ष-विषाद की सीमाओं से ऊपर उठकर योगी हो जाता है। उसे किसी प्रकार की लालसा नहीं सताती। वह मोहमाया से सर्वथा मुक्त होता है।

हर्ष-विषाद, लालसाएं तथा मोहमाया आदि मानवीय दुर्बलताएं तो आत्म-अज्ञानी के दुर्गुण हैं। वह भी दीन-हीन होकर कामनाओं की प्राप्ति के लालच में चतुर्दिक भटकता है। उसे लगता है, उसका जन्म इसीलिए हुआ है कि वह अधिक-से-अधिक प्राप्त करे। सोचता है कि उसके जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह यश और संपदा का स्वामी बने। शारीरिक सुख पाने के लिए वह भोगी बन जाता है।

योगी निर्लिप्त होता है और **भोगी संलिप्त**। योगी भोगते हुए भी विलासी नहीं होता और भोगी मात्र भोग-विलासी होता है। भोगी विश्व को **माया** मानकर **माया** से खेलता है, माया का भाग नहीं बनता, भोगी विश्व की **माया** को **जीवन** मानता है और उसी का भाग बनता है। योगी संतृप्त होता है और भोगी की तृष्णा बढ़ती जाती है। योगी स्वयं आत्मा-परमात्मा की प्रतीति करके अपना दृष्टा आप बन जाता है। भोगी आत्मा-परमात्मा की स्वयं प्रतीति करने में असमर्थ होता है और अपना दृष्टा किसी काल्पनिक परमात्मा को मानता है। योगी को यश नहीं चाहिए, कीर्ति नहीं चाहिए, जबकि भोगी आजीवन यश और कीर्ति का इच्छुक होता है। भोगी की अनंत इच्छाएं होती हैं, योगी इच्छारहित होता है। योगी कभी भोगी नहीं हो सकता और भोगी कभी योगी नहीं हो सकता। दोनों की दृष्टि अलग-अलग कोणों से विश्व का अवलोकन करती हैं। विश्व के प्रति दोनों की धारणाएं व भावनाएं भिन्न हैं। योगी धनविहीन होकर भी संपन्न होता है और भोगी संपन्न होकर भी विपन्न और दीन-हीन होता है। योगी उदात्त होता है और भोगी क्रूर व अहंकारी। योगी **विकीर्ण** होता है और भोगी **संकीर्ण**।

योगी बनने के लिए किसी योग-साधना या तप-त्याग की आवश्यकता नहीं, मात्र स्वयं में आत्मा की आस्थापूर्वक प्रतीति ही उसे आत्मज्ञानी और

योगी बना देती है। वह मोक्ष की कामना भी नहीं करता, उसका मोक्ष अपने आप हो जाता है। इसके विपरीत भोगी मोक्ष की कामना करता है और इसके लिए योग-साधना व तप-त्याग करता है, किंतु इस पर भी उसका मोक्ष नहीं हो पाता।

जो मोक्ष तक की कामना न करे, वह अनमोल-से-अनमोल निधियों की कामना भी नहीं करेगा। हे गुरुदेव! ऐसा आत्मज्ञानी योगी अतुलनीय और अनुपम है। वह किसी पद की आकांक्षा से भी विदग्ध नहीं। हे गुरुदेव! आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिस पद को पाने के लिए इंद्रादि देवता भी व्याकुल और दीन-हीन हो जाते हैं, और पद पाते ही आह्लादित हो जाते हैं, उस पद पर आसीन होने के लिए आत्मज्ञानी योगी को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, वह स्वतः ही उस पद पर स्थित होता है, किंतु इससे वह किंचित भी हर्ष अथवा आह्लाद की अनुभूति नहीं करता। इस प्रकार योगी देवताओं से भी ऊपर उठ जाता है। देवता भी पाने की इच्छा से विह्वल होते हैं और खोने के भय से आक्रांत, किंतु योगी पाने और खोने की भावनाओं से मुक्त होकर आत्मामय हो जाता है। हे गुरुदेव! योगी की माया अपरंपार है। उसे पद की इच्छा नहीं होती, किंतु पद पर स्थित होता है, पाने की इच्छा नहीं होते हुए भी उसे सबकुछ उपलब्ध है। उसे खोने का भय नहीं, क्योंकि उसके पास खोने योग्य कुछ है ही नहीं।'

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शोह्यंतर्नजायते।
नह्याकाशस्य धूमेन द्रश्यमानापि संगतिः॥३॥

भावार्थः तत्त्व ज्ञान से अवगत होने वाले योगी के अंतःकरण का स्पर्श पुण्य-पाप से नहीं होता, क्योंकि आकाश में उठता हुआ धुआं दृश्यमान होते हुए भी आकाश से संबंधित नहीं होता।

विवेचनाः हे गुरुदेव! जो योगी आत्म-भाव हो जाता है, वह आत्मा को स्वयं में आत्मसात कर लेता है। आत्म-पद पर आसीन योगी निस्संग हो जाता है, उसका सांसारिक अवधारणाओं से संबंध नहीं रह जाता, वह स्वर्ग-नरक की काल्पनिक चिंताओं से मुक्त होता है।

आत्म-अज्ञानी ही स्वर्ग-नरक और पाप-पुण्य की संकुचित परिधियों में विचरण करता है। वह स्वार्थ सिद्धि के निमित्त कोई भी पाप कर्म करने से हिचकता नहीं। सोचता है, पुण्य करके वह पाप का प्रायश्चित कर लेगा। वह मुक्त भाव से अकरणीय कर्म संपादित करता है और अंत में गंगा में डुबकी लगाकर, दान-दक्षिणा देकर अथवा तीर्थस्थलों का भ्रमण कर अपने हृदय को आश्वस्त करता है कि उसने पुण्य लाभ कर लिया। इस प्रकार वह आजीवन

स्वयं से ही छल-प्रपंच करता है, स्वयं को धोखा देता है। उसकी अंतिम बेला निकट आती है तो उसे पुनः स्वर्ग-नरक की चिंता आ घेरती है। वह जानता है, जीवन का प्रत्येक पल पाप कर्मों के संपादन में ही व्यतीत हुआ है, अतः नरक में जा पड़ना निश्चित है। नरक की विभीषिकाओं की कल्पना करके वह सिहर उठता है। नरक में कौन जाना चाहता है, सब चाहते हैं कि स्वर्ग को ही प्राप्त हों। किंतु पापों से संलिप्ति उसे स्वर्ग-लाभ कैसे करने देगी? उसने इहलोक का तो विनाश कर लिया, अब परलोक संवारने की इच्छा से उसका रोम-रोम प्रयासरत हो जाता है। वह यज्ञ आयोजित करता है, तप-तपस्या करता है और योग-साधनाओं में लीन होता है। अंततोगत्वा नरक-स्वर्ग की चिंता में ही घुल-घुलकर मर जाता है।

आत्मज्ञानी जानता है कि स्वर्ग-नरक की अवधारणाएं **काल्पनिक** हैं। वस्तुतः स्वर्ग भी इसी **धरा** पर है, नरक भी **यहीं** है। मानव की जीवनशैली उसे यहीं पर स्वर्ग अथवा नरक की अनुभूति करा देती है। आत्मज्ञानी आत्मा को आत्मसात कर स्वर्ग-नरक की परिकल्पनाओं से मुक्त होता है। उसे सात्विक-तामसिक विचार भी विचलित नहीं करते। पाप-पुण्य की चिंताओं से वह विचलित नहीं होता। वस्तुतः आत्मा की प्रतीति होने के बाद वह निर्द्वंद्व और निश्चिंत हो जाता है। आत्मा की भांति आभामय, आत्मा की भांति इच्छारहित और आत्मा की भांति दोषविहीन होने की अनुभूति उसे शरीर-धर्म से पृथक कर देती है। शरीर उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं होता क्योंकि उसे बोध हो चुका है, शरीर मात्र आत्मा का साक्षीस्वरूप है।

हे गुरुदेव! इस तत्त्व ज्ञान से अवगत होते ही उसे अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं-ही-स्वयं का ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता होता है। उसके अंतःकरण का पाप-पुण्य से संबंध नहीं रह जाता। जो दोषरहित हो, उसे पाप-पुण्य की कैसी चिंता? निर्द्वंद्व, निरंजन व निरपेक्ष को पाप-पुण्य का बोध स्पर्श तक नहीं कर पाता।'

राजा जनक अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए उद्धरण देते हैं—'हे गुरुदेव! जिस प्रकार आकाश की ओर उठते हुए धुएं का दृश्य देखकर ऐसा भान होता है कि आकाश और धुएं का आपस में संबंध है, किंतु यह मात्र देखने वाले की भ्रांति होती है—वस्तुतः धुएं का आकाश से कोई संबंध नहीं होता। दोनों का अलग-अलग अस्तित्व होता है। उसी प्रकार तत्त्व ज्ञान से अवगत होते ही उसका अंतःकरण पाप-पुण्य से अस्पृश्य हो जाता है।

हे गुरुदेव! अंतःकरण ही मानव का मूल होता है। अंतःकरण की प्रेरणाशक्ति

से मानव भिन्न-भिन्न कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है। अच्छे-बुरे भावों का मूल स्रोत अंत:करण ही है। सच और झूठ बोलने का निर्णय अंत:करण ही करता है। अंत:करण की स्थिति के अनुसार ही मानव निर्द्वंद्व अथवा अंतर्द्वंद्व होता है। अंत:करण से ही पाप-पुण्य की चिंता निसृत होती है। आत्मज्ञानी का अंत:करण पर नियंत्रण हो जाता है और वह पाप-पुण्यों के भावों से ही नहीं, अन्य भ्रांतियों से भी मुक्ति पा लेता है।'

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत क:।।४।।

भावार्थ: जिस महात्मा को ज्ञान हो गया कि यह समस्त जगत आत्मा है, उसे स्वेच्छा से आचरण करने से रोकने की क्षमता वर्तमान में किसे है?

विवेचना: राजा जनक को अष्टावक्र की प्रेरणा से यह ज्ञात हो चुका है कि दृश्यमान जगत वैसा नहीं है, जैसा दृष्टिगोचर होता है। जगत के समस्त दृश्य एक-दूसरे में अंतर्निहित होकर एकात्म हैं, इनका अलग-अलग स्वरूप भ्रांति है।

अलगाव के भाव से स्वतंत्र होते ही आत्मज्ञानी को स्वयं की ऊर्जाओं का आभास होता है। उसका मैं **व्यष्टि** से **समष्टि** में परिवर्तित हो जाता है। वह व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता न होकर सामूहिकता में समा जाता है। जनसमूह उसे अलग-अलग दृष्टिगोचर नहीं होता, जनसमूह उसकी दृष्टि में एक ही आत्मपुंज का रूप धारण कर लेता है। जब सामने कोई अन्य जन है ही नहीं, कोई प्रतियोगी नहीं तो वह किससे प्रतियोगिता करे? किससे आगे बढ़ जाने का रक्तरंजित संघर्ष करे? किससे स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का हठीला प्रयास करे? इस भावना से वह उदात्त हो जाता है। अत:करण में न ईर्ष्या होती है, न द्वेष। चेहरे से न क्रूरता टपकती है और न आंखों से अहंकार। ऐसी स्थिति में उसके पाप-पुण्य के भाव स्वत: ही तिरोहित हो जाते हैं।

राजा जनक को भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका अंत:करण उदात्त भावों से ओतप्रोत हो गया है। उसमें ईर्ष्या, द्वेष और हठ के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं, क्योंकि उन्हें स्वयं के आत्मा होने की प्रतीति हो चुकी है। शरीर के प्रति उनका मोह नष्ट हो चुका है, अत: सुख, भोग और लालसा से उनका नाता टूट चुका है।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं-'हे गुरुदेव! जगत मात्र आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं। जिसने यह रहस्य जान लिया वह निज प्रकाश से आलोकित होकर चतुर्दिक विराट आत्मा के दर्शन करता है। वह स्वयं आत्मा की भांति ओर-छोर विहीन असीम और निस्सीम में विलीन हो जाता

है। वह स्वेच्छा से कर्म करता है, स्वेच्छा से भोगता है, किंतु उसे न कर्मों से फल की आशा होती है और न वह भोगों में लिप्त होता है। दैवयोग से जिस भोग को पाता है, उसे बिना हर्ष अथवा विषाद के भोगता है। इस पर भी वह न **कर्ता** होता है और न **भोक्ता**। प्रारब्ध पर उसकी निर्भरता समाप्त हो जाती है, अपना प्रारब्ध वह आप बन जाता है।

राजा जनक अष्टावक्र को अपनी मन:स्थिति से अवगत कराते हुए कहते हैं–'हे गुरुदेव! मुझे जगत के दृश्य की वास्तविकता का ज्ञान हो गया है, अंत:करण से समस्त इच्छाएं तिरोहित हो गई हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि आपकी कृपा से मैंने दृश्यमान जगत व स्वयं को आत्मावत जान लिया है।

हे गुरुदेव! जिसे यह ज्ञान हो जाए कि समस्त जगत और कुछ नहीं, मात्र आत्मा है, वह महात्मन हो जाता है। महात्मन आत्मलीन होता है और आत्मलीन को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का भान नहीं होता। एक आत्मा और आत्मा में समाहित विश्व और विश्व का जड़-चेतन, यह प्रतीति उसे बताती है कि तुम अपने परमात्मा आप हो, अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार का आचरण करने को स्वतंत्र हो। आत्मज्ञानी महात्मा स्वेच्छा से आचरण करता है, किंतु वह स्वेच्छाचारी और निरकुंश नहीं होता। उसे कोई कामना ही नहीं होती तो किसके प्रति निरकुंशता का व्यवहार करे या स्वेच्छाचारी बने। आत्मज्ञान का बोध होने के बाद तो उसे मोक्ष की आकांक्षा भी नहीं होती, जबकि वह मोक्ष को प्राप्त होता है। वह किसी पद के पीछे नहीं भागता, जबकि वह प्रत्येक पद पर आसीन होता है।

हे गुरुदेव! सच तो यह है कि जिस महात्मा को समस्त विश्व के आत्मा होने का ज्ञान प्राप्त हो जाए, उसे स्वेच्छा से आचरण करने से रोकने की क्षमता वर्तमान काल में किसी में नहीं। जैसे आत्मा का विरोध संभव नहीं अथवा आत्मा को कहीं भी निरुद्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार महात्मा का विरोध या निषेध भी संभव नहीं।'

आब्रह्मस्तंबपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैवहिसामर्थ्यमिच्छानिच्छाविसर्जने।।५।।

भावार्थ: ब्रह्मा से तृण पर्यंत चार प्राणियों से परिपूर्ण सृष्टि में ज्ञानी ही इच्छा और अनिच्छा को रोक पाने में समर्थ है।

विवेचना: आत्म-अज्ञानी अपनी इच्छाओं और अनिच्छाओं के वशीभूत होकर जीता है, वह कामनाओं का पुतला होता है। कामनाएं उसे लोभ, मोह और माया से ग्रस्त करती हैं। वह जीवन के आदर्शों व मूल्यों से च्युत हो जाता है, किंतु उसे नहीं लगता कि वह अपना जीवन व्यर्थ गंवा रहा है। आजीवन वह शरीर को

सुख पहुंचाने वाले साधनों का संग्रह करता है। संग्रह की प्रवृत्ति से उसकी लालच की मात्रा में वृद्धि होती है। वह सदैव लाभ की इच्छा करता है और हानि की अनिच्छा। उसका जीवन मात्र इच्छा और अनिच्छा से संचालित होता है।

यह **इच्छा** और **अनिच्छा** ही समस्त भ्रांतियों और भ्रमों का मूल है। सबकी अलग-अलग इच्छाएं और अनिच्छाएं होती हैं। इच्छाओं और अनिच्छाओं का आपस में टकराव भी होता है। विचारों की विभिन्नता सबको एक-दूसरे से दूर कर देती है। सब स्वयं को अपनी-अपनी आत्मा का स्वामी मानते हैं, एक ही आत्मा का अंश नहीं। आत्मा से यह पृथकता उनकी दृष्टि को संकीर्ण बनाती है और व्यक्तित्व को दीन। जब तक भोग-विलास की क्षमता होती है, वह भोग-विलास में संलिप्त रहता है। जब उसका शरीर अक्षम और जर्जर हो जाता है तो परलोक को संवारने की सुध लेता है। किंतु आंख बंद होने तक उसकी इच्छा-अनिच्छा से निवृत्ति नहीं हो पाती।

सच तो यह है कि इच्छा-अनिच्छा के मोह से हर प्राणी ग्रस्त है। इच्छा-अनिच्छा के बंधन से मुक्त होने की कोई कल्पना भी नहीं करता। इन आत्म-अज्ञानियों का विचार है कि मानव इच्छा-अनिच्छा न करे तो विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा, उसकी प्रगति को विराम लग जाएगा। कोई यह समझने को तत्पर नहीं कि जिसे वह विकास और प्रगति समझता है, उसका कोई स्थायित्व नहीं। विकास और प्रगति की यह चकाचौंध उसके अंत:करण को अंधकारमय कर देती है। वह बाह्य प्रकाश पर निर्भर रहता है और उस प्रकाश में जो दृश्य उसे जैसा नजर आता है, वैसा ही देखता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी बाह्य प्रकाश पर निर्भर नहीं रहता, उसका अंत:करण आत्म-प्रकाश से जगमगाता है, जो दृष्ट है, उसे उसी रूप में नहीं देखता, बल्कि वह उसे आत्मा का अभिन्न अंग मानता है। आत्मा के साक्षात्कार से वह इच्छा-अनिच्छा से रहित हो जाता है। इच्छा-अनिच्छा पर अंकुश लगाने की क्षमता सिर्फ आत्मज्ञानी में ही होती है।

राजा जनक को आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी का यह अंतर भलीभांति समझ में आ गया है। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'सृष्टि में ब्रह्म से लेकर तृण तक इच्छा-अनिच्छा से संचालित होते हैं। यह सृष्टि ब्रह्मा से लेकर तृण तक चार प्राणियों से परिपूर्ण है, किंतु कोई भी इच्छा-अनिच्छा को त्याग पाने में समर्थ नहीं। इच्छा-अनिच्छा का चक्रव्यूह जटिल होता है, उसमें जाने के अनेक मार्ग होते हैं लेकिन बाहर निकलने का मार्ग नहीं होता। इस पर भी सब उसमें प्रविष्ट होने को आतुर होते हैं और जीवन के अंतिम श्वास तक उसी में सब अपनी-अपनी

इच्छाओं-अनिच्छाओं को मूर्त रूप देने के लिए एक-दूसरे से 'महाभारत' करते हैं। कौरव-पांडवों की इच्छाओं-अनिच्छाओं का 'महाभारत' तो मात्र 18 दिन चला था, किंतु इच्छाओं-अनिच्छाओं का यह महाभारत सृष्टि के आरंभ से अब तक निरंतर अबाध रूप से चल रहा है। इसकी निरंतरता को भविष्य में कभी विराम लगेगा, इसकी संभावना अत्यंत धूमिल है।

हे गुरुदेव! आश्चर्य तो यह है कि इस सृष्टि का रचयिता भी इच्छा-अनिच्छा से रहित नहीं। वह भी अपनी इच्छा-अनिच्छा के अनुसार सृष्टि को स्वरूप प्रदान करता है। जब ब्रह्मा भी इच्छा-अनिच्छा से परिचालित होता है तो तृण व अन्य चार प्रकार के जीव इच्छा-अनिच्छा से कैसे मुक्त हो सकते हैं। किंतु हे गुरुदेव! जो ज्ञानी है, उसे इच्छा-अनिच्छा स्पर्श तक नहीं कर पाती। उसके अंत:करण में इच्छाओं-अनिच्छाओं का प्रस्फुटन नहीं हो पाता। एकमात्र ज्ञानी ही ऐसा होता है, जो इच्छाओं-अनिच्छाओं का निषेध कर पाने में समर्थ होता है।'

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥६॥

भावार्थ: कोई ज्ञानी ही जीव व जगदीश्वर को अद्वैत रूप में देख पाता है, ऐसे ज्ञानी को योग्य कर्म करते हुए भय की प्रतीति नहीं होती।

विवेचना: विश्व में सारी भ्रांतियों का प्रादुर्भाव एकमात्र इस कारण होता है कि लोग द्वैत-दर्शन से दिग्भ्रमित हैं।

द्वैत-दर्शन का सर्वाधिक हानिकारक पक्ष यह है कि यह जन को जन से विभाजित करता है। अनेकता में एकता के महान सूत्र को खंडित करता है। समाज में एक साथ रहते हुए भी सब एक-दूसरे से विभक्त हैं, शंकित और कुपित हैं। एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचना और क्रूर आचरण करना उनका सहज स्वभाव बन जाता है। मैं के मद से वे आजीवन विक्षिप्त से रहते हैं। इस विक्षिप्तावस्था में उन्हें भले-बुरे का विवेक नहीं रहता। वे केवल अपने सुख और हित के बारे में सोचते हैं, इसके लिए चाहे दूसरे को दुख देना पड़े या अहित भी करना पड़े तो उन्हें चिंता नहीं होती।

द्वैत-दर्शन कभी भी किसी को स्वयं की आंतरिक शक्तियों से परिचित नहीं होने देता। ऐसे में वह मात्र अस्त्र-शस्त्र तथा धन का संचय करता है। सोचता है, उसके पास अस्त्र-शस्त्र तथा धन का जितना विशाल भंडार होगा, उतना ही अधिक वह शक्तिशाली होगा। अपनी इस कृत्रिम बलवीरता पर उसे अभिमान भी होता है। किंतु यह शक्ति और अभिमान उसके किसी काम नहीं आते। वह रोग, शोक और चिंताओं में घुलता हुआ एक दिन इस निस्सार संसार

से कूच कर जाता है। ऐसा उसके साथ केवल एक जन्म में नहीं होता, वह बार-बार योनियां बदलता हुआ जन्म लेता है और मरता है। वह किसी भी जन्म में मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता।

अज्ञानी की सद्गति नहीं होती, चाहते हुए भी वह दुर्गति से छुटकारा पाने में असमर्थ होता है। इसके विपरीत ज्ञानी न तो सद्गति की कामना करता है और न मोक्ष की, इस पर भी उसकी सद्गति होती है और वह मोक्ष को प्राप्त होता है। वह रोग-शोक से प्रभावित नहीं होता, उसे प्रारब्ध से प्राप्त भोग मानकर अविचलित रहता है और मृत्यु से भयभीत नहीं होता। उसके लिए **मृत्यु** का अर्थ है, सदैव के लिए **अयोनिज** होना। उसकी इस वैचारिक परिपक्वता कारण है—अद्वैत-दर्शन। वह जन को जन से विभक्त नहीं मानता। अनेकता में एकता के महान सूत्र पर उसकी अगाध आस्था होती है। वह किसी से शंकित-कुपित नहीं होता, अतएव उसे किसी के विरुद्ध षड्यंत्र रचने अथवा क्रूर आचरण करने की आवश्यकता का अनुभव भी नहीं होता। वह किसी को दुख पहुंचाने या अहित करने की कल्पना तक नहीं करता। वह किसे दुख पहुंचाए अथवा किसका अहित करे? अद्वैत-दर्शन ने उसे ऐसी दिव्य दृष्टि प्रदान की है कि वह किसी को स्वयं से पृथक मानने की भ्रांत धारणा से ही मुक्त हो चुका है। सारी सृष्टि और सृष्टि का समस्त जड़-चेतन एकात्म में पिरोए हुए है तो कौन किससे बैर या मैत्री करे?

यह ज्ञान राजा जनक को भी हो चुका है, क्योंकि उन्हें स्वयं के आत्मा होने पर पूरी आस्था है। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'गुरुदेव! यह सत्य है कि मानव का आत्मा से उद्भव हुआ है और आत्मांश के अतिरिक्त वह कुछ नहीं, किंतु इसकी प्रतीति कम ही लोग कर पाते हैं, इसलिए संसार में इतना शोक और क्लेश व्याप्त है। मानव जीव और जगदीश्वर में भेद न करे तो उसे अपना परमात्मा आप होने में तनिक भी विलंब नहीं होगा। वह संसार के करणीय कर्म संपादित करता और भयभीत नहीं होता। भय का अनुभव वही करता है जो पाप कर्म करता है। हे गुरुदेव! मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूं कि बड़ी कठिनाई से कोई एक ज्ञानी ही जीव व जगदीश्वर का अद्वैत रूप देख पाने में समर्थ होता है और उसके सारे द्वंद्व तिरोहित हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी सदैव योग्य कर्म ही करता है और योग्य कर्म करने में भला कैसा भय? ज्ञानी सदैव निर्भय होता है। वह कर्म करे अथवा न करे, वह इहलोक तथा परलोक की दुश्चिंता व भय से मुक्त होता है।'

□□

राजा जनक का उत्तर सुनकर अष्टावक्र का संदेह मिट जाता है। उन्हें स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजा जनक आत्मसाक्षात्कार से देदीप्यमान हैं। वह अब व्यष्टि नहीं रहे, समष्टि के सीमाहीन विराट को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसा ज्ञानाप्लावित शिष्य पाकर अष्टावक्र अत्यंत प्रसन्न होते हैं। वह राजा जनक से आगे कहते हैं:

न ते संगोऽस्तिकेनापि किंशुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज॥१॥

भावार्थः तेरा संग किसी से भी नहीं, तू शुद्ध है, अतः तेरी किसे त्यागने की इच्छा है? तू देह का मोह त्याग और लय (मोक्ष) प्राप्त कर।

विवेचनाः अष्टावक्र इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि प्रत्येक प्राणी ग्रहण करने की अभिलाषा रखता है, तदुपरांत वैराग्य उत्पन्न हुआ तो त्यागने की इच्छा जन्म लेती है। ग्रहण और त्याग की भावना से वह सदैव उद्विग्न रहता है। मूढ़ मानव इतना भी नहीं सोचता कि वह जिसे ग्रहण करता है अथवा जिसका त्याग करता है, वह मिथ्या है, नश्वर है, अपदार्थ है।

त्याग और **ग्रहण** की इस भ्रांति का कारण यह है कि मानव **शरीर** को महत्त्व देता है। शरीर के मोह से ग्रहण करता है, शरीर के मोह से त्याग करता है। उसकी दृष्टि में शरीर की तुष्टि ही परमावश्यक है। सारे आयोजन वह शारीरिक सुख की कामना में करता है। देह के प्रति मोह से मानव अन्य मोहों से ग्रस्त होता है। उसमें **मैं** का अहं जाग्रत होता है, **मेरा-तेरा** के स्वार्थों में टक्कर होती है। **स्वार्थ** ही उसे ग्रहण करने की प्रेरणा देता है और **स्वार्थ** ही उसे त्याग करने की प्रेरणा देता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! तू निस्संग है, तेरा कोई साथी-संगी नहीं। यह सत्य है कि तेरे संबंधी हैं, पत्नी है, संतान है, प्रजा है,

इस पर भी तेरा कोई नहीं। तू आत्मावत शुद्ध है, तेरा किसी से संग नहीं, न तेरा कुछ है, ऐसी स्थिति में क्या त्यागना चाहता है? तेरा कुछ भी नहीं, अतः तेरी त्याग की इच्छा भी व्यर्थ है। कुछ त्यागना ही है तो देह से अपना मोह त्याग दे, क्योंकि देह का मोह ही भ्रांतियों को जन्म देता है, शुद्ध को अशुद्ध करता है। आत्मा की प्रतीति करने के बाद तू शुद्धता को प्राप्त हो चुका है, अतः दैहिक आकांक्षाओं से मुक्त होकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।'

अष्टावक्र के कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा की अनुभूति होने पर आत्मज्ञानी मोक्ष को तभी प्राप्त होगा जब वह देह-बोध से मुक्त होगा; और देह-बोध की मुक्ति तभी संभव है, जब वह ग्रहण-त्याग की भावना से रहित, शुद्ध हो जाएगा। यह शुद्धि देह-मोह के त्याग से संभव है। शुद्धि का अर्थ ही है मोक्षोपलब्धि।

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज॥२॥

भावार्थः तुझसे विश्व उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार समुद्र से बुलबुले। अतः एक आत्मा का भान कर लय (मोक्ष) को प्राप्त कर।

विवेचनाः अष्टावक्र पहले भी राजा जनक को यह ज्ञान दे चुके हैं कि तू और विश्व अलग-अलग नहीं हैं, तुझे अलग-अलग होने का भान अवश्य होता है, जो मिथ्या है। इसीलिए राजा जनक को अष्टावक्र ने बार-बार स्मरण करवाया है कि विश्व के दृश्य जिस रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें उसी रूप में मत देख। ये संपूर्ण दृश्य एक आत्मा के विभिन्न रूप हैं, अतः एक सूत्र में पिरोए एकात्म हैं। उनका दृश्य स्वरूप और कुछ नहीं, आत्मा का साक्ष्य स्वरूप है।

यदि कोई समुद्र के तट पर खड़ा होकर समुद्र की विशाल जलराशि देखे तो उसकी गगनचुंबी उत्ताल तरंगों पर दृष्टि पड़ते ही उसे भान होगा कि समुद्र और उत्ताल तरंगें अलग-अलग हैं, जबकि वास्तविकता यह होती है कि तरंगें भी समुद्र का ही अभिन्न अंग होती हैं, समुद्र से उठती हैं और समुद्र में ही समा जाती हैं।

उसी प्रकार आत्मा उद्भूत सृष्टि आत्मा का चैतन्य स्वरूप है और उसका आत्मा में ही विलय हो जाना है। **आत्मा** और **सृष्टि** को अलग-अलग मानना ही समस्त भ्रांतियों की जड़ है।

यहां अष्टावक्र एक बार पुनः राजा जनक से कहते हैं—'राजन! तू विश्व से है, विश्व तुझसे है, तू और विश्व आत्मा से है, आत्मा तुझसे और विश्व से

है। यही अद्वैत की उदात्त धारणा है। तूने स्वयं को आत्मा मान लिया है तो इस सत्य को हृदयंगम कर ले कि यह संसार तुझसे उसी प्रकार उत्पन्न हुआ है, जिस प्रकार समुद्र से बुलबुले पैदा होते हैं। जिस प्रकार बुलबुलों का समुद्र में ही विलय हो जाता है, उसी प्रकार **तेरा विलय** भी **आत्मा** में हो जाएगा। इस विलय को ही तू **मोक्ष** मान ले।'

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज॥३॥

भावार्थ: दृश्यमान विश्व प्रत्यक्ष होते हुए भी वस्तुत: तुझ शुद्ध के लिए कुछ नहीं, उसका रस्सी-सांप की भांति भी अस्तित्व नहीं। अत: तू लय (मोक्ष) को प्राप्त कर।

विवेचना: राजा जनक को आत्मबोध होते हुए यह विदित हो चुका है कि दृश्यमान विश्व प्रत्यक्ष में जैसा दृष्टिगोचर होता है, वैसा है नहीं। जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान न होने के कारण अज्ञानी रस्सी को ही सर्प मानने की भूल करता है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान के अभाव में अज्ञानी दृश्यमान विश्व को प्रत्यक्ष देखकर उसे ही वास्तविक मान लेता है, जबकि आत्मा के अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं। राजा जनक **आत्मा** और **विश्व** के इस रहस्य से परिचित हो चुके हैं।

अत: अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'तू आत्मावत शुद्धता को प्राप्त कर चुका है। तू जानता है कि विश्व और आत्मा का भेद क्या है? तू यह भी जानता है कि रस्सी क्या होती है और सांप क्या होता है। तुझे रस्सी देखकर सांप का भान नहीं होगा। दृश्यमान विश्व को सब लोग प्रत्यक्षत: देखते हैं। विश्व के दृश्यों से लुब्ध होकर सब उसकी ओर भागते हैं, ऐसे ही लोगों को रस्सी में सांप की भ्रांति होती है।

किंतु राजन! तुझे आत्मा की प्रतीति हो चुकी है, तू आत्मा की भांति शुद्ध और निर्मल है, अत: दृश्यमान विश्व की प्रत्यक्षता तेरी दृष्टि में रस्सी-सांप की तरह कृत्रिम है, तेरे लिए उसका कोई अस्तित्व नहीं। आत्मा के अतिरिक्त तू किसी और को सत्य मत जान, इस सत्य में स्वयं को विलय करके मोक्ष को प्राप्त कर।'

समदु:खसुख: पूर्ण आशानैराश्ययो: सम:।
समजीवितमृत्यु: सन्नेवमेव लयं व्रज॥४॥

भावार्थ: जिसके लिए सुख-दुख और आशा-निराशा एक समान हैं, जो पूर्ण है और जीवन-मरण को समतुल्य मानता है, ऐसी अनुभूति करता हुआ तू लय (मोक्ष) को प्राप्त कर।

विवेचना: अष्टावक्र ने बार-बार इस तथ्य को रेखांकित किया है कि जो मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त होता है, वह कभी आत्मज्ञान का वरण नहीं कर पाता। ऐसा मानव आजीवन केवल सुख-दुख और आशा-निराशा के भंवरजाल में डूबता-उतराता है। सुख के साधन जुटाना ही उसका एकमात्र सीमित लक्ष्य होता है। जरा-सा दुख भोगते ही वह असहनीय पीड़ा से कातर व क्लांत हो जाता है। उसकी आशाएं फलीभूत होती हैं तो चेहरे पर लाली और आंखों में चमक कौंधती है, तदुपरांत जब उसे निराशा आ घेरती है तो उसे लगता है, जैसे उसके जीवन की सार्थकता नष्ट हो गई। जबकि वास्तविकता यह होती है कि सुख-दुख और आशा-निराशा की भूल-भुलैया में भटककर उसने जीवन की सार्थकता पहले ही गंवा दी है।

आत्मज्ञानी सुख-दुख, आशा-निराशा तथा जीवन-मरण की भ्रांतियों से स्वतंत्र होता है। आत्मज्ञानी निस्संग होता है, उसे **देह** के प्रति **मोह** नहीं होता, अत: वह शुद्धता को प्राप्त है, और उसकी दृष्टि में सुख-दुख, आशा-निराशा और जीवन-मरण जैसी मानवीय दुर्बलताओं का कोई महत्त्व नहीं होता।

अष्टावक्र को आभास हो चुका है कि राजा जनक आत्मामय और शुद्ध हैं, अत: वह उनसे कहते हैं—'राजन! तू सुख-दुख और आशा-निराशा से कभी ग्रस्त व त्रस्त मत हो। जीवन-मरण में भी कोई भेदभाव मत कर। सच तो यह है कि जिस आत्मज्ञानी की दृष्टि में सुख-दुख एक समान हैं, जो आशा-निराशा से अविचलित रहता है, वह पूर्णता को प्राप्त होता है। उसे जीवन-मरण में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे आत्मा के लिए जीवन-मरण का कोई अस्तित्व नहीं, वैसे ही आत्मा की प्रतीति से आत्मज्ञानी को जीवन-मरण से मुक्ति मिल जाती है।

❑❑

राजा जनक के ज्ञान का और अधिक विस्तार होता है। उनके ज्ञान-चक्षु और अधिक विस्तीर्ण होते हैं। वह स्वयं में अतिरिक्त शक्तियों का अनुभव करते हैं। आंतरिक ऊर्जाओं की आभा से वह महिमामंडित हो जाते हैं।

आकाशवदनंतोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत्।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥१॥

भावार्थ: मैं आकाशवत अनंत हूं, जगत घट की भांति प्राकृतिक है। अतः मुझे ज्ञान है कि इसका न त्याग है, न ग्रहण और न ही विलय।

विवेचना: जब ज्ञानी को स्वयं के आत्मा होने का भान होता है, तो वह अपनी प्रकृति में चमत्कारिक परिवर्तन अनुभव करता है। वह साकार होते हुए भी अपने आकार से विस्मृत हो जाता है। शरीर के होते हुए भी उसे शरीर का भान नहीं होता। इंद्रियां होते हुए भी वह इंद्रियों से परिचालित नहीं होता। अपनी उपस्थिति उसके लिए गौण हो जाती है। यह शून्यावस्था उसे समाधिस्थ कर देती है।

समाधि की स्थिति में राजा जनक की चेतना तीक्ष्ण हो जाती है। चेतनामय ब्रह्मांड से उनकी चेतना भिन्न नहीं, वह ब्रह्म से भी भिन्न नहीं, अपितु ब्रह्मलीन होकर स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। यह अनुभव उन्हें शारीरिक और इंद्रिय व्यामोह से मुक्त करता है।

वस्तुतः शारीरिक और इंद्रिय व्यामोह ही मानव को **ग्रहण** व **त्याग** की प्रेरणा देता है, जिससे उसका **सत्य** से कभी साक्षात्कार नहीं होता और वह भ्रांतियों का शिकार बनता है। उसकी जीवनशैली, उसके लक्ष्य व उद्देश्य सीमित होते हैं और दृष्टि व विचार संकुचित। वह त्याग और ग्रहण के मायाजाल से कभी मुक्त नहीं हो पाता।

जबकि आत्मज्ञानी की समस्त भ्रांतियों का क्षय हो जाता है। आत्मज्ञान के बाद उसका न कोई लक्ष्य रह जाता है और न कोई उद्देश्य। सीमित परिधि से

निकलकर वह सीमाहीन हो जाता है, आत्मा की भांति असीम हो जाता है। उसकी दृष्टि विस्तृत हो जाती है और वह अनंत तक देखने की योग्यता सिद्ध कर लेता है। उसे प्रतीत होता है, वह अनंत में व्याप्त है।

राजा जनक अपनी स्थिति के बारे में अष्टावक्र को बताते हैं—'आत्मा की प्रतीति होते ही मेरा संकुचित दृष्टिकोण तिरोहित हो गया है। जहां तक मेरी दृष्टि जाती है, वहां मुझे स्वयं की प्रतीति होती है। आत्मा आकाश की भांति अनंत है, मैं भी संपूर्ण आकाश में व्याप्त हूं। यह जगत घड़े की भांति प्राकृतिक है और उसमें आत्मा व्याप्त है। जिस प्रकार आकाश आत्मा है और जगत घड़ा, उसी प्रकार **शरीर साकार** है और उसमें व्याप्त है **निराकार आत्मा**। आत्मा न ग्रहण करता है, न त्याग और न ही उसका विलय होता है।'

महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसन्निभः।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥२॥

भावार्थः मैं महासागर के समान हूं, सांसारिक प्रपंच तरंगों के समान हैं, अतः न इसका त्याग है, न ग्रहण और न लय—इसका मुझे ज्ञान है।

विवेचनाः अष्टावक्र राजा जनक को बता चुके हैं कि आत्मा समुद्र की भांति ओर-छोर विहीन है और सृष्टि का चैतन्य स्वरूप तरंगों के समान है।

राजा जनक आत्मज्ञान से संपृक्त होते ही स्वयं को आत्मावत देखने में सक्षम हो जाते हैं। उनकी काया तत्काल ही शारीरिक सीमाओं को तोड़, सर्वत्र फैल जाती है। वह इस ज्ञान से परिचित होते हैं कि आत्मा का ओर-छोर उसी प्रकार विस्तीर्ण है, जिस प्रकार समुद्र का ओर-छोर। यह सांसारिक गतिविधियां और प्रपंच कुछ नहीं। जिस प्रकार समुद्र से लहरें निसृत होती हैं, उसी प्रकार यह **जगत** और उसके प्रपंच **आत्मा** से निसृत हैं।

स्वयं को आत्मा मान लेने के बाद राजा जनक को जैसा प्रतीत होता है, उसका बखान वह अष्टावक्र से इस प्रकार करते हैं—'हे गुरुदेव! मैं आत्मा की भांति स्वयं को महासागर के समान सर्वत्र व्याप्त पाता हूं। सांसारिक प्रपंच मुझसे उसी प्रकार निसृत होते हैं, जिस प्रकार समुद्र से तरंगें निसृत होती हैं। आत्मा की भांति मैं लालसाहीन हो गया हूं, अतः आत्मा का न त्याग है, न ग्रहण और न विलय।'

अहं स शुक्तिसंकाशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥३॥

भावार्थः मैं सीपी की भांति हूं और इस विश्व की कल्पना चांदी के समान है। अतः मुझे ज्ञान है कि इसका न त्याग है, न ग्रहण और न विलय।

विवेचनाः अष्टावक्र पूर्व में राजा जनक को बता चुके हैं कि अज्ञानतावश

लोग रस्सी को सांप समझ लेते हैं और सीपी को चांदी। ऐसे लोग नित्य भ्रांतियों में जीते हैं और चांदी के लोभ से ग्रस्त होते हैं।

आत्मज्ञान राजा जनक को नई ऊंचाइयां प्रदान करता है। उन्हें स्पष्ट प्रतीत होता है कि **विश्व मिथ्या** है और **आत्मा एकमात्र सत्य**। विश्व की नश्वरता असंदिग्ध है, जबकि आत्मा की शाश्वता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्व चांदी के पीछे भागता है, लोभ में पड़कर नई-नई अभिलाषाओं का पीछा करता है, क्योंकि विश्व सीपी को सीपी के रूप में न देखकर चांदी के रूप में देखता है। राजा जनक सीपी को वास्तविक रूप में देख पाने में सक्षम हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि विश्व चांदी के समान काल्पनिक और मिथ्या है, जबकि आत्मा सीपी के समान यथार्थ।

राजा जनक कहते हैं–'हे गुरुदेव! मुझे ज्ञान है कि मैं आत्मा हूं और आत्मा होने के नाते स्वयं को सीपी की भांति सत्य मानता हूं, जबकि इस विश्व की कल्पना मुझे चांदी प्रतीत होती है। आत्मा अपने आप में संपूर्ण है, सत्य है और अकाल है, अतः इसका न त्याग है, न ग्रहण और न ही विलय।'

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥४॥

भावार्थः निस्संदेह मैं सर्वस्व में निहित हूं और सर्वस्व मुझमें निहित है, अतः मुझे ज्ञान है कि इसका न त्याग है, न ग्रहण और न विलय।

विवेचनाः राजा जनक आत्मज्ञान से संपन्न हुए तो उन्हें द्वैत की निरर्थकता का भान हो गया, उन्हें चतुर्दिक अद्वैत ही दृष्टिगोचर होने लगा। इस सत्य से वह भलीभांति परिचित होते हैं कि आत्मा एक है और सृष्टि का जड़-चेतन आत्मा से निसृत जीव-पदार्थ है। जीव-पदार्थों का अपना कोई अस्तित्व नहीं, वे निराकार आत्मा का साकार स्वरूप हैं, जो चैतन्यरूप में आत्मा के अभिन्न अंग हैं, अचैतन्य रूप में भी आत्मा के ही अभिन्न अंग रहेंगे। अतः **स्वयं की साकार सत्ता** पर अभिमान करना व्यर्थ है, **स्वयं को आत्मा** मानना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि आत्मा होने की प्रतीति से मानव सर्वस्व से जुड़ता है और सर्वस्व उससे जुड़ता है।

इस ज्ञान का वर्णन राजा जनक अष्टावक्र से इस प्रकार करते हैं–'हे गुरुदेव! आत्मानुभूति ने निस्संदेह मुझे विराट स्वरूप प्रदान किया है, मेरी दृष्टि विस्तृत हो गई है। मैं स्वयं को चतुर्दिक पाता हूं, सर्वभूतों में अपनी उपस्थिति अनुभव करता हूं। मुझे प्रतीत होता है कि मैं सर्वस्व में व्याप्त हूं और सर्वस्व मुझमें व्याप्त है। आत्मा होने का अर्थ है, मेरा ग्रहण, त्याग और विलय संभव नहीं।'

□□

मय्यनंतमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।
भ्रमति स्वांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता।।१।।

भावार्थः मुझ अनंत महासागर में विश्व-पोत मन की वायु से इधर-उधर भ्रमण करता है। मुझमें असहिष्णुता नहीं है।

विवेचनाः राजा जनक आत्मावत होकर ग्रहण, त्याग और मोक्ष की कामना से मुक्ति पा गए हैं। उन्हें अपनी विशालता का बोध होता है। वह **सर्वस्व** की **स्वयं** में और **स्वयं** की **सर्वस्व** में अनुभूति करते हैं। विश्व उन्हीं से है, वह विश्व से हैं, किंतु विश्व से संलिप्त नहीं हैं, विश्व की मोहमाया उन्हें आकृष्ट नहीं करती।

राजा जनक को प्रतीत होता है कि उनका आत्मस्वरूप महासागर की भांति अंतहीन है। जैसे महासागर में लहरें जन्म लेती हैं, उसी प्रकार आत्मा से उनका प्रादुर्भाव हुआ है। आत्मा महासागर की भांति अनंत है, राजा जनक भी स्वयं को महासागर की भांति अनंत मानते हैं।

सृष्टि की स्वतंत्र सत्ता नहीं, सृष्टि आत्मा से जन्मती है और आत्मा का ही स्वरूप है। राजा जनक कहते हैं—'हे गुरुदेव! जैसे आत्मा अनंत महासागर है, वैसे ही मैं भी अनंत महासागर हूं। यह विश्वरूपी पोत मुझ अनंत महासागर में मन की वायु से इधर-उधर भ्रमण करता है अर्थात मन से जीवन संचालित अवश्य है, किंतु मन जीवनेच्छाओं से लिप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा की भांति मैं इच्छारहित हूं। विश्वरूपी पोत के विचरण से मेरा मन विचलित नहीं होता। अतः मैं अविचलित और असहिष्णु हूं।

हे गुरुदेव! आत्मा की प्रतीति ने मेरे मन के स्वभाव को परिवर्तित कर दिया है। मन रूपी वायु से मेरा जीव चल तो रहा है, किंतु **मैं** मन से संचालित नहीं,

मन मुझसे संचालित है। इस मन में मोक्ष की इच्छा भी नहीं उठती, आत्मा को मोक्ष की आवश्यकता क्यों है? आत्मा तो स्वयं मोक्ष है।'

मय्यनंतमहाम्भोधौ जगद्वीचि: स्वभावत:।
उदेतु वास्तमायातु नमे वृद्धिर्नच क्षति:॥२॥

भावार्थ: मुझ अनंत महासागर में जगत-तरंगें स्वभावत: उदित होती हैं, भले ही उनका अस्त हो जाए, मेरी न तो वृद्धि होती है और न ही क्षति।

विवेचना: राजा जनक को आत्मा की अनंतता का भलीभांति बोध हो चुका है। आत्मावत राजा जनक का अपने मन पर अंकुश है। उनका मन चलायमान नहीं, स्थिर है। मन रूपी वायु स्वभावत: जीवन को गति प्रदान करती है, किंतु संयम का साथ नहीं छोड़ती।

राजा जनक को यह भी भान होता है कि आत्मा से स्वभावत: सांसारिक जड़-चेतन की उत्पत्ति होती है, जो अंतत: नश्वरता को प्राप्त होते हैं, किंतु आत्मा का अस्तित्व सदैव बना रहता है। जड़-पदार्थ क्षत-विक्षत हो सकते हैं, किंतु आत्मा की क्षति संभव नहीं।

राजा जनक आत्मा होकर स्वयं को चैतन्यरूपी अनंत महासागर के रूप में देखते हैं। वह अष्टावक्र से कहते हैं-'हे गुरुदेव! मुझ अनंत महासागर में जगत-तरंगें स्वभावत: उदित होती हैं, अर्थात जीव-पदार्थों की सृष्टि का क्रम अबाधरूप से चलता रहता है। उनका अंत भी स्वाभाविक है। सृष्टि का उदय हो या अस्त, इससे अनंत महासागर में किसी प्रकार का अंतर या व्यतिक्रम उत्पन्न नहीं होता। हे गुरुदेव! सृष्टि के उदय से न अनंत महासागर की वृद्धि होती है और न सृष्टि के अस्त होने से उसकी क्षति होती है। अर्थात आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, वह सांसारिक गतिविधियों से स्वतंत्र और निष्प्रभावी होती है।

अत: हे गुरुदेव! मुझ आत्मस्वरूप की जीव-पदार्थों के होने या न होने से वृद्धि होती है और न तो क्षति। मैं लाभ-हानि और वृद्धि-क्षति से स्वतंत्र, **निरपेक्ष** और **निरंजन** हूं।'

मय्यनंतमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशांतो निराकार एतदेवाहमास्थित:॥३॥

भावार्थ: मुझ अनंत महासागर में निस्संदेह यह विश्व मात्र कल्पना है। मैं पूर्णतया शांत, निराकार तथा इसी के आश्रित हूं।

विवेचना: राजा जनक को विश्व की निरर्थकता का भान हो चुका है। उन्हें विश्व के जीव-पदार्थों से न तो मोह है और न उनके अस्तित्व के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति। जो कुछ है, जैसा भी है, उसकी उपस्थिति से वह

तटस्थ और निरपेक्ष हैं। तटस्थता का यह बोध उन्हें आत्मा की अनुभूति से हुआ है। सब में आत्मा है, आत्मा चिरंतन है और जीव-पदार्थ विनाशशील।

अतः वे स्वयं में आत्मा का भान कर चिरंतन सत्य बन जाते हैं। विश्व उन्हें मिथ्या प्रतीत होता है। विश्व रहे या न रहे, उनका आत्मस्वरूप कभी विनष्ट नहीं होगा। वे परम शांति का अनुभव करते हैं क्योंकि उनके आत्मस्वरूप को न तो किसी पदार्थ की आवश्यकता है, न किसी भोग का प्रलोभन। वह मानो निराकार होकर आत्मा के आश्रित हो गए हैं।

राजा जनक अष्टावक्र को अपनी मनःस्थिति से अवगत कराते हुए कहते हैं—'हे गुरुदेव! यह जो विश्व मुझ अनंत महासागर में अवस्थित है, वह कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब विश्व की सत्ता ही मेरी दृष्टि से ओझल हो गई है तो विश्व के मोहक जीव-पदार्थ मुझे कैसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। जब विश्व और विश्व के जीव-पदार्थों का लोप हो गया तो कामनाओं और प्रलोभनों का घटाटोप भी विलीन हो गया। अतः अब मैं अत्यंत शांत और निश्चिंत हूं। अपने **शरीर** से निकलकर **निराकार** हो गया हूं, पूर्णतः **आत्मा** में आश्रित। हे गुरुदेव! यह विश्व कल्पना मात्र है और आत्मा एकमात्र यथार्थ।'

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानंते निरंजने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शांत एतदेवाहमास्थितः॥४॥

भावार्थः देहादि पदार्थों में आत्मा नहीं, देहादि पदार्थ उस अनंत व निरंजन (दोषरहित आत्मा) में नहीं, इस भांति मैं अनासक्त व स्पृहारहित होकर शांत और इसी के आश्रित हूं।

विवेचनाः आत्मज्ञानी राजा जनक को आभास हो गया है कि आत्मा यथार्थ है और विश्व कल्पना। काल्पनिक विश्व के जीव-पदार्थ भी काल्पनिक हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व बनता-बिगड़ता रहता है।

अब राजा जनक को यह भी भान होता है कि जीव व पदार्थों में आत्मा नहीं, आत्मा की सत्ता में किसी का हस्तक्षेप नहीं। वह निराकार है, अतः उसकी सत्ता किसी में हस्तक्षेप भी नहीं करती। इसी प्रकार उस अनंत और निरंजन में जीव-पदार्थों का होना भी मिथ्या है।

जीव व पदार्थ सत्य नहीं हैं, अतः वे आत्मा नहीं हैं, क्योंकि जीव-पदार्थों का उदय और अस्त होता रहता है, जबकि आत्मा अविचलित होती है। **उदय** से आत्मा की **वृद्धि** नहीं, **अस्त** से आत्मा की **क्षति** नहीं, इसलिए निस्संदेह नश्वर जीव-पदार्थों से आत्मा नहीं, आत्मा तो अनंत और निरंजन है।

इस भव्य भावानुभूति के पश्चात राजा जनक शांत और निर्द्वंद्व हो जाते हैं।

वह अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुदेव! आपके द्वारा प्रदत्त आत्मज्ञान से मुझे आत्मा की यथार्थता और विश्व की कल्पना का बोध हो चुका है। विश्व के जीव पदार्थ निरंतर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, अतः उनमें आत्मा नहीं, और न ही आत्मा से नश्वर जीव-पदार्थ। मैंने आत्मा की स्वतंत्र सत्ता की प्रतीति की है, अतः अनंतता और निरंजनता को प्राप्त हो गया हूं। इस प्रकार मुझमें अनासक्ति और स्पृहाहीनता का भाव घर कर गया है, क्योंकि आत्मा को न आसक्ति होती है और न स्पृहा। अब मैं शांत और निर्द्वंद्व होकर आत्मा में आश्रित हूं।'

अहोचिंमात्रमेवाहमिंद्रजालोपमं जगत्।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥५॥

भावार्थः अहो! मैं चैतन्य मात्र हूं। यह जगत इंद्रजाल के समान है। अतः मेरी हेय-उपादेय की कल्पना कैसे और किसमें हो।

विवेचनाः जब राजा जनक को आत्मज्ञान के बाद सृष्टि तथा सृष्टि के चराचर की वास्तविकता का भलीभांति भान होता है तो वह आत्मा की अनंतता और निरंजनता की स्वयं में अनुभूति करते हैं। उनके सामने यह सत्य साक्षात उपस्थित होता है कि संपूर्ण जगत **इंद्रजाल** के समान है, जिसमें आत्म-अज्ञानी फंसते हैं और जीवों व पदार्थों के प्रति लालायित होते हैं। इस लालसा में उन्हें **काल्पनिक** विश्व **यथार्थ** प्रतीत होता है और उसका इंद्रजाल जीवन की अनिवार्यता। उसे लगता है, इंद्रजाल न हो तो जीवन ही निरर्थक है, इंद्रजाल है, तभी तो कुछ ग्रहण करने व त्यागने की इच्छा जन्म लेती है। इच्छाएं न हों तो जीवन का विकास कैसे होगा, उपलब्धियां कैसे सिद्ध होंगी?

आत्म-अज्ञानी सोच भी नहीं पाता कि जिस विकास और उपलब्धि की वह कल्पना करता है, उसका कोई अस्तित्व नहीं, उसका बार-बार नष्ट होना और नया आकार ग्रहण करना असंदिग्ध है। **निराकार** व **अनष्ट** कुछ है तो मात्र **आत्मा**।

राजा जनक को आत्मानुभूति के बाद इस सत्य के दर्शन होते हैं कि वह आत्मा का मात्र चैतन्यस्वरूप हैं। वह अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुदेव! मुझे बोध हो गया है कि यह जगत इंद्रजाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जब जगत ही मिथ्या है तो इसके जीव-पदार्थों का भी क्या महत्त्व, जो नष्ट होते हैं और उत्पन्न होते हैं। जीव-पदार्थों की मेरी दृष्टि में महत्ता ही नहीं तो मैं ग्रहण करने या त्यागने अथवा हेय-उपादेय की कल्पना कैसे और किसमें करूं?'

❑❑

तदा बंधो यदा चित्तं किंचिद्वाञ्छति शोचति।
किंचिंमुंचति गृह्णाति किंचिद्धृष्यति कुप्यति॥१॥

भावार्थ: जब चित्त कुछ वांछना या शोक करता है, त्याग या ग्रहण करता है, हर्षित या कुपित होता है, तब वह बंधनग्रस्त होता है।

विवेचना: वांछना करना ही समस्त व्याधियों की जड़ है। वांछना का अर्थ है, कुछ पाने की इच्छा। पाने की इच्छा ही मानव को दुर्बल और दीन-हीन बनाती है। वांछनाओं की पूर्ति के लिए वह कुछ भी करने को आतुर होता है। उसकी एक वांछना पूरी होती है तो अन्य कई वांछनाएं उत्पन्न होती हैं। भोग-विलास की वांछना, धन-संपन्नता की वांछना, यश की वांछना, अधिकारों की वांछना। यह क्रम अनवरत चलता रहता है और मानव का पूरा जीवन वांछनाओं के इस मोहजाल में व्यतीत हो जाता है।

वांछना पूरी न हो तो मानव शोक करता है, हानि और व्याधि में शोकाकुल होता है। वांछना पूरी हो तो हर्षित होता है, लाभ और आनंद की स्थिति में आह्लादित होता है। दूसरे की खुशियां देखकर ईर्ष्या करता है, कुपित होता है। त्याग और ग्रहण की भ्रांत धारणाओं से उद्वेलित होता है।

वस्तुत: ये मानवीय दुर्बलताएं हैं, जो उसे विकारग्रस्त करती हैं। किंतु वह दुर्बलताओं और विकारों को ही जीवन की अनिवार्यता मानता है। जबकि वास्तविकता यह है कि जीवन की भांति वांछना, शोक, त्याग, ग्रहण, हर्ष तथा कोप की मनोवृत्तियां मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किंतु इनके बिना मानव जीने की कल्पना भी नहीं कर पाता। विकृत मनोवृत्तियों के प्रति यह लगाव उसे शरीर और जीवन के प्रति मोहग्रस्त करता है। वह मनोवृत्तियों को बंधन नहीं मानता और जब अंतकाल आता है, तब उसे पता चलता है कि

उसका तो सर्वांग मनोवृत्तियों के पाश से जकड़ा हुआ है। वह मृत्यु से भयभीत होकर मोक्ष की कामना करता है।

अष्टावक्र का मानना है कि **चित्त** की **चंचलता** ही **मानव** का **बंधन** है। वह जब तक इनसे छुटकारा नहीं पाता, तब तक स्वयं से, स्वयं की आत्मा से परिचित नहीं हो सकता। राजा जनक भी पहले मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त थे। अत: अष्टावक्र उन्हें बताते हैं–'चित्त में कामनाएं पैदा होती हैं, शोक और हर्ष के भाव उठते हैं, त्याग और ग्रहण की कल्पनाएं और कोप व ईर्ष्या की लहरें उठती हैं तो मानव का बंधनग्रस्त होना अवश्यंभावी है।'

अष्टावक्र राजा जनक को संबोधित करते हुए एक प्रकार से सबको चेतावनी देते हैं कि मानवीय दुर्बलताओं से बचो अन्यथा मोहमाया के बंधन से छुटकारा संभव नहीं। इस बंधन से मानव स्वयं का नाश करता है, स्वयं को दुख व कष्ट पहुंचाता है। मन के वशीभूत होकर वह कभी चैन से नहीं जी पाता। मन की वासनाएं उसे यह आभास नहीं होने देतीं कि सृष्टि के लुब्धकारी दृश्य उसकी दृष्टि का भ्रम हैं। जिन उपलब्धियों पर वह अभिमान करता है, वे मिथ्या और कृत्रिम हैं, उनमें स्थायित्व नहीं। जिस देह पर वह इतराता है, वह भी क्षणभंगुर है। चित्त का दासत्व उसे अपनी ही शक्तियों से परिचित नहीं होने देता।

ये उपलब्धियां, यह देह मरणोपरांत यहीं छूट जाती हैं। कोई इन्हें अपने साथ नहीं ले जाता। अत: अष्टावक्र कहते हैं–'**चित्त** में **आत्मा** की अनुभूति करो, **स्वयं** को **आत्मावत** मानो। तदुपरांत मानव की समस्त दुर्बलताएं तिरोहित हो जाती हैं। वस्तुत: स्वयं में आत्मा की प्रतीति करना ही परम उपलब्धि है। जिसे इसका आभास हो गया, वह किसी अन्य उपलब्धि की कामना नहीं करता। उसे उपलब्ध करने योग्य कुछ अन्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वह बंधनमुक्त होता है और सर्वत्र उसे आत्मा ही दिखती है। वह आत्मामय होकर आत्मा से जुड़ जाता है। उसकी दृष्टि किसी को स्वयं से पृथक नहीं पाती। सब एकात्म हैं। जिस प्रकार आत्मा को न इच्छा होती है और न शोक-हर्ष, इसी प्रकार आत्मा की प्रतीति करनेवाला भी दुर्बलताओं से ग्रस्त नहीं होता और आत्मा की तरह ही बंधनमुक्त होता है।

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति।
न मुंचति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति॥२॥

भावार्थ: मुक्ति तभी मिलती है, जब चित्त न वांछना करता है और न शोक, न त्याग व ग्रहण करता है, न हर्षित और न कुपित होता है।

विवेचना: समस्त वांछनाओं और वासनाओं का उत्स चित्त से होता है। चित्त ही मानव में लोभ, ईर्ष्या और सुख-दुख की भावनाएं जाग्रत करता है, उसकी क्रियाएं चित्त द्वारा संचालित होती हैं। चित्त की चंचलता से वह सदैव विचलित रहता है। आत्मज्ञानी चित्त को वश में कर लेता है और आत्म-अज्ञानी चित्त के वशीभूत होता है।

चित्त में शोक है तो सारा विश्व उसे शोकाकुल दिखेगा। चित्त में हर्ष है तो सारे विश्व में हर्षोल्लास की लहर दौड़ती दिखाई देगी। चित्त मानव को सदैव भोग-विलास की ओर आकृष्ट करवाता है। चित्तवृत्तियों के कारण वह मानवीय दुर्बलताओं का शिकार होता है। दुर्बलताएं उसके सोच को संकीर्ण और दृष्टि को संकुचित करती हैं। वह कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

मोक्ष के लिए सर्वप्रथम चित्त पर अंकुश लगाना आवश्यक है। इंद्रियजित हुए बिना मोक्ष के बारे में सोचना ही व्यर्थ है। जहां चित्त प्रबल होता है, वहां शरीर प्रमुख हो जाता है। शरीर की प्रमुखता से इच्छा, हर्ष-शोक और त्याग-ग्रहण की भावनाएं जन्म लेती हैं। अत: अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'मुक्ति तभी संभव है, जब चित्त वांछना, शोक, त्याग, ग्रहण, हर्ष व कोप से मुक्त होगा।'

यह मुक्ति उसे आत्मा की अनुभूति होने से आत्मा की भांति आभामय करती है। शुभ और दोषरहित चित्त में किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलताओं के लिए स्थान नहीं होता। यहां तक कि वह मोक्ष की आकांक्षा भी नहीं करता, तथापि बिना आकांक्षा के ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

आत्मा आकांक्षा, शोक, त्याग, ग्रहण, हर्ष व क्रोध से मुक्त होती है और जिसे स्वयं में आत्मा की अनुभूति होती है, वह भी इन प्रवृत्तियों से मुक्त और निर्द्वंद्व हो जाता है।

किंतु आत्मा की प्रतीति कोई विरला ज्ञानी ही कर पाता है, वरन् सामान्यत: लोग चित्त की इच्छाओं के अनुसार ही सांसारिक कार्यों का निर्वहन करते हैं। वे अपना संबंध आत्मा-परमात्मा से नहीं जोड़ पाते। आत्मा-परमात्मा उन्हें स्वयं के शरीर से भिन्न प्रतीत होते हैं। उनकी कल्पना में भी यह बात नहीं आ सकती कि यदि स्वयं में आत्मा-परमात्मा की आस्थापूर्वक प्रतीति की जाए तो वे संपूर्ण हो जाते हैं, एकमात्र हो जाते हैं, अपनी शक्ति आप, अपना दृष्टा आप हो जाते हैं। उन्हें किसी जड़-पदार्थ की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। वे आत्मा के साक्ष्यस्वरूप होते हैं। सांसारिक कार्यों का संपादन करते हैं, किंतु उसमें लिप्त नहीं होते। जो सुख-दुख उन्हें मिलता है, उसे अपना प्रारब्ध

मानकर भोगते हैं, किंतु उससे विचलित नहीं होते। जीवन को निस्पृह और निरंजन होकर व्यतीत करते हैं।

राजा जनक भी आत्मस्वरूप होकर निस्पृह और निरंजन बन जाते हैं। उनके चित्त की दुर्बलताओं का नाश होता है।

इसीलिए अष्टावक्र बार-बार दुर्बलताओं से मुक्त होने का आग्रह करते हैं। चित्त की दुर्बलताएं मानव को अकिंचन और लघु बना देती हैं। लोभ, काम, मोह, माया व क्रोध के वशीभूत वह सदैव विक्षिप्त होता है। कोई किसी पर विश्वास नहीं करता। ईर्ष्या, शत्रुता, प्रतिद्वंद्विता व संघर्ष का चतुर्दिक बोलबाला होता है। हर कोई यह सोच पाने में असमर्थ होता है कि मानवीय दुर्बलता से उसकी ही हानि होती है, किसी अन्य की नहीं। वह बड़ी एकमात्र उपलब्धि से वंचित हो जाता है, क्योंकि उसे छोटी-छोटी भौतिक उपलब्धियों को जुटाने में सुख का अनुभव होता है, ऐसे सुख का, जो मिथ्या और अर्थहीन है।

राजा जनक **आत्मावत** होकर **मिथ्या** और **अर्थहीन** सुख से मुक्त हो गए हैं, अब उन्हें सुख-दुख का अनुभव तक नहीं होता। ईर्ष्या, शत्रुता, प्रतिद्वंद्विता व संघर्ष के प्रपंचों की निरर्थकता से वह परिचित हो चुके हैं। विश्वास-अविश्वास से उठकर चतुर्दिक उसकी व्याप्ति हो जाती है।

अष्टावक्र बताते हैं कि चित्त की शुद्धता से स्वयं में आत्मा को आहूत किया जा सकता है, अतः चित्त में दुर्बलताओं का प्रवेश न होने दें।

तदा बंधो यदा चित्तं सक्तं कास्वपिदृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु॥३॥

भावार्थः जब चित्त किसी भी दृश्य (भौतिक पदार्थ) से आसक्त है तो बंधनग्रस्त है। जब चित्त सब दृश्यों से अनासक्त है तो मोक्ष है।

विवेचनाः यहां भी अष्टावक्र पुनः चित्त की शुद्धता तथा दोषहीनता पर बल देते हैं। वस्तुतः वह मानते हैं कि चित्त की वृत्तियों से ही मानव का स्वभाव बनता अथवा बिगड़ता है। यदि चित्त में लोभ और वासना है तो मानव अन्य कुत्सित आचरणों का भी दास बनता है। वह लोभ और वासना की पूर्ति के निमित्त चोरी, झूठ, छल-प्रपंच का आश्रय लेता है। उसकी संपूर्ण जीवनशैली क्रूरता और व्यभिचार का पर्याय बन जाती है। वह केवल सुख, लाभ, आनंद और भोग-विलास की इच्छा से ही छटपटाता है। इनकी अनुपलब्धता उसके लिए असहनीय होती है, अतएव इनकी उपलब्धि के लिए कोई भी अपकर्म करने से कदापि नहीं चूकता।

अष्टावक्र ने ऐसा कहीं भी आग्रह नहीं किया है कि चित्त की शुद्धता व

दोषहीनता के लिए मानव घर-गृहस्थी का परित्याग करे, वन या पर्वत पर जाकर एकांत वास करे अथवा वैराग्य धारण कर साधना या परमात्मा की स्तुति करे। अष्टावक्र कहते हैं कि मानव अपने सांसारिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए चित्त को शुद्ध व दोषरहित बना सकता है, इसके लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि वह मानवीय दुर्बलताओं को चित्त पर हावी न होने दें।

चित्त की दुर्बलता मानव पर अत्यंत वीभत्स प्रभाव डालती है। उसमें नकारात्मक और ध्वंसात्मक विचार उठते हैं, वह सदैव अपने हित संधान की जोड़-तोड़ में लगा रहता है। परहित की मानवीय और उदार प्रवृत्ति से वह सर्वथा अपरिचित और अनभिज्ञ होता है। आपसी स्वार्थों और हितों की टकराहट से आदर्शों और मूल्यों की अवनति होती है। यह चारित्रिक पतन मानव के लिए आत्मघाती होता है और अपने विनाश का उत्तरदायी स्वयं होता है।

अत: अष्टावक्र परामर्श देते हैं कि नैतिकता का वरण करना ही अभीष्ट है। जब मानव विवेक-अविवेक का उपयोग करने में समर्थ होता है तो आदर्शों और मूल्यों के प्रति उसमें निष्ठा जाग्रत होती है।

आदर्शों और मूल्यों के प्रति निष्ठा मानव को कभी भी कुप्रवृत्तियों का दास बनने की अनुमति नहीं देगी। उसका चित्त निष्कलंक व पावन हो जाएगा। उसे न लोभ रुचिकर प्रतीत होगा और न काम या क्रोध। जब तक चित्त शांत, अविकल और अविचलित नहीं होगा, तब तक मानव को **स्व-बोध** नहीं हो सकेगा। **स्व-बोध** उसे स्वार्थ और निजहित की घातक मनोवृत्तियों से छुटकारा दिलाता है। **स्व-बोध** ही आत्मा का स्वयं में आह्वान करता है। तब मानव आत्मावत हो जाता है और स्वशक्तियों का स्वामी बन जाता है।

इसी कारण अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! इसे तू हृदयंगम कर ले कि यदि किसी चित्त में भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति है तो वह सतत् बंधनग्रस्त रहेगा। ये बंधन उसे सांसारिक मोहमाया के प्रपंचों से कभी मुक्त नहीं होने देंगे। वह इन्हीं के सान्निध्य में रहेगा और मिथ्या सुखों को ही सच्चा सुख समझने की भूल करेगा। इसके विपरीत, जब मनोवृत्तियां समस्त भौतिक उपादानों के प्रति अनासक्त रहेंगी, उनकी व्यर्थता का बोध करेंगी और उनकी ओर से उदासीन रहेंगी तो निस्संदेह चित्त सारे बंधनों से छुटकारा पा लेता है और मानव मोक्ष को प्राप्त होता है।

राजा जनक का चित्त इस सत्य से आलोकित हो चुका था। वे विषय-वासनाओं से अनासक्त थे, अत: उनके सारे माया-पाश भंग हो चुके थे। उनमें किसी के

प्रति इच्छा-अनिच्छा का भाव नहीं था, यहां तक कि मोक्ष की इच्छा से भी रहित थे, क्योंकि वह मोक्ष को सिद्ध कर चुके थे।

अष्टावक्र का कहना है, कि जो मोक्ष की चाह में भटकते हैं, उन्हें मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। मोक्ष सिद्धि के लिए चित्त की शुभ्रता तथा निर्मलता अभीष्ट है।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचिन्मा गृहाण विमुंचमा।।४।।

भावार्थः जब **मैं** नहीं है, तब मोक्ष है, जब **मैं** है, तब बंधन है, ऐसा मानकर किंचित भी ग्रहण करने या त्यागने की इच्छा से मुक्त हो।

विवेचनाः सारे उत्पातों के मूल में वस्तुतः यही **मैं** का बोध प्रेरकशक्ति है। **मैं** की भावना से मानव में तीव्र अहंकार उदित होता है। इस अहंकार के कारण उसकी सोच-विचार की क्षमता समाप्त हो जाती है। वह स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानता है। 'जगत के समस्त भौतिक उपादान मेरे हैं, मैं इन्हें उपलब्ध करके दम लूंगा'—इस आकांक्षा से उसका एक पल भी चैन से व्यतीत नहीं होता। उसे अपनी आकांक्षा की पूर्ति के मार्ग में दूसरे लोग बाधक प्रतीत होते हैं। वह सबको शत्रु के रूप में देखता है। उसे लगता है कि सब उसके विरुद्ध षडयंत्र रच रहे हैं, सब उसकी उपलब्धियों को हड़पने की दुरभि संधि में लिप्त हैं। कोई भी उसकी प्रसन्नता का साथी नहीं, सब उससे ईर्ष्या करते हैं, उसकी बुराई करते हैं।

इस विचार से उसका अहंकार और अधिक दग्ध होता है। वह सबको 'देख लेने' का प्रण लेता है। वह स्वार्थ-पूर्ति के अपने अभियान में किसी को आड़े आने की अनुमति नहीं देता। उसके आड़े कोई आए या न आए, यदि उसे किसी पर संदेह होता है तो वह उसका सर्वनाश करने में जरा भी नहीं झिझकता है।

वह चाहे कितनी भी उपलब्धियों का स्वामी हो जाए, उसे संतुष्टि का अनुभव कभी नहीं होता। **मैं** के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई नहीं देता, **मेरा है** की भावना उसके लोभ की अभिवृद्धि करती है।

मैं का अहंकार उसे माया-मोह के बंधन में जकड़ देता है। वह सोच नहीं पाता कि प्रपंचक बनकर वह स्वयं को ही हानि पहुंचा रहा है, अपना ही नाश कर रहा है। यह इच्छाएं, यह अतृप्ति उसे मृत्यु से भयभीत कराती है। मृत्यु के समय वह जीने की कामना से विषादग्रस्त होता है।

आजीवन उपलब्धियों के पीछे भागना, सदैव शंकित और क्षुब्ध होना,

क्रूरता और निरंकुशता से स्वयं को ही दग्ध करना और अंतकाल में भय से घुटघुट मरना, निस्संदेह यह सुखद जीवनशैली नहीं है। किंतु वह मरणकाल में भी सत्य से परिचित नहीं हो पाता, क्योंकि उस समय भी वह बंधनों से जकड़ा हुआ होता है।

अष्टावक्र का स्पष्ट कथन है कि सुखद और वास्तविक जीवनशैली अपनाना चाहते हैं तो **मैं** के बोध से छुटकारा पाना आवश्यक है, क्योंकि जहां **मैं** है, वहां बंधन है और जहां **मैं** का बोध नहीं है वहां मुक्ति और मोक्ष है।

राजा जनक का **मैं** को बोध तिरोहित हो चुका है। आत्मा **मैं, तुम** या **वह** नहीं होती, आत्मा **सर्वस्व** होती है। राजा जनक **सर्वस्व** हो चुके थे, वह **मैं** के अकेले भाव से ग्रस्त नहीं थे, वह समष्टि को प्राप्त हो गए थे। शत्रुता-मित्रता, ईर्ष्या-द्वेष, इच्छा-अनिच्छा और अहंकार-विनम्रता के सांसारिक भेदों का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रह गया था।

यह है आत्मानुभूति का सुफल, जबकि आत्मा की प्रतीति करनेवाले को किसी फल-सुफल की आकांक्षा नहीं होती।

अष्टावक्र इस सूत्र के माध्यम से राजा जनक को स्मरण कराते हैं-'जब तक **मैं** का बोध होता है, तब तक मानव बंधनयुक्त होता है और आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता, जब मानव **मैं** के बोध से मुक्त होता है तो वह बंधनमुक्त होता है। अतः राजन! तू **मैं** होने की व्यर्थता को हृदयंगम कर तथा ग्रहण करने अथवा त्यागने की इच्छा से मुक्त हो।'

सच तो यह है कि जो मानव अहंकारी **मैं** के बोध से छूटता है उसकी त्यागने और ग्रहण करने की मनोवृत्ति स्वतः विलीन हो जाती है, क्योंकि तब वह आत्मा की भांति निरपेक्ष होता है।

❑❑

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शांतानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भवत्यागपरोऽव्रती॥१॥

भावार्थः कृत-अकृत द्वंद्व कब और किसके शांत हुए हैं। अत: इस सत्य को जानकर इहलोक से विरक्त और अव्रती होकर त्यागपरायण बन।

विवेचना: अष्टावक्र का कथन है कि संसार में कोई ऐसा नहीं है, जो यह कह सके कि उसकी सारी कामनाएं पूर्ण हो चुकी हैं और अब उसे कुछ नहीं चाहिए। वास्तविकता यह है कि सब आजीवन अधूरी कामनाओं से पीड़ित होते हैं। यही कारण है कि मरते समय भी उन्हें शांति नहीं मिलती।

अष्टावक्र बताते हैं कि मानव कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर पाता, सदैव ग्रहण-त्याग के व्यामोह से आकुल-व्याकुल रहता है। कुछ काम कर पाता है, कुछ नहीं कर पाता और कुछ अधूरे रह जाते हैं, वह इसी कृत-अकृत के चक्कर में उलझा रहता है। उसके द्वंद्व भी कभी समाप्त नहीं होते, दुख-सुख से भी कभी निवृत्ति नहीं होती। इसी कारण अशांति और क्लांति से विक्षुब्ध और विक्षिप्त हो जाता है। न रात को सो पाता है और न दिन में चैन की सांस ले पाता है। इस पर भी द्वंद्वों से मुक्त होने का प्रयास नहीं करता।

द्वंद्वों से मुक्त होना स्वयं को ही विनष्ट होने से बचाना है। इसलिए अष्टावक्र मानव मात्र को यह संदेश देते हैं कि कृत-अकृत का सोच व दुख-सुख के अंतर्द्वंद्व तो निरंतर चलने वाली क्रियाएं हैं, और इनसे कभी कोई उबर कर शांति नहीं प्राप्त कर सका है। यह ऐसा सत्य है, जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। चतुर्दिक जिसे देखो वही अशांत और हताश है, किंतु सुख-दुख आदि को जीवन की अनिवार्यता मानने की भूल करता हुआ कोई भी यह नहीं मानना चाहता कि **सुख-दुख** कुछ और नहीं **इच्छा-अनिच्छा** की परिणति है।

अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि इच्छाएं-अनिच्छाएं मिथ्या जगत की भ्रामक अवधारणाएं हैं, जिनका यथार्थ से कोई संबंध नहीं। यथार्थ है तो मात्र एक आत्मा, जिसने इस यथार्थ को पा लिया, वह स्वयं यथार्थ हो जाता है, मिथ्या जगत की भ्रामक अवधारणाओं से उसका संबंध विच्छेद हो जाता है।

मिथ्या जगत और उसकी भ्रामक अवधारणाओं से राजा जनक का संबंध विच्छेद हो गया है। उन्होंने यथार्थ का दर्शन कर लिया है, क्योंकि आत्मा की विराटता से उनका एकात्म हो गया है। राजा जनक के आत्मस्वरूप को देखते हुए अष्टावक्र के मत की विलक्षणता स्वत: ही सिद्ध हो जाती है। अष्टावक्र का विचार है कि राजा जनक के समान अलौकिक पद की प्राप्ति वही कर सकता है, जो चित्त से लालसाओं का बहिष्कार कर दे व निष्ठापूर्वक आत्मा की प्रतीति करे। यह सरल नहीं है, इसके लिए अभ्यास व कड़े अनुशासन की आवश्यकता है, जिसका सामान्यत: लोगों में अभाव ही होता है।

अभाव न होता तो लोगों की ऐसी दयनीय स्थिति न होती, लोग इस प्रकार लालसाओं के अधीन अधीर व व्याकुल न होते, सदैव कृत-अकृत की उलझन में पड़कर द्वंद्वग्रस्त और विकल न होते।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'राजन! कृत-अकृत और द्वंद्व से कभी कोई शांत नहीं हो सका है, इसे सत्य जान, यही वास्तविकता है। अत: इन विकारों से तू मुंह मोड़ ले, ये विकृतियां आत्मघाती हैं। आत्मा का साक्षात्कार करने में बाधक हैं। श्रेयस्कर यही है कि तू जगत की भ्रांतियों से विरक्त और अव्रती हो जा। इसे ही वैराग्य मान। यही वास्तविक वैराग्य है, घर-संसार त्याग कर पर्वत या वन में जाना कृत्रिम वैराग्य है। जगत के भौतिक पदार्थों के प्रति तेरी अनासक्ति तुझे संन्यस्त करेगी, तदंतर तू त्यागपरायण बन। अर्थात इच्छाओं, भोग-विलास, काम-क्रोध व मोहमाया का त्याग तुझे कृत-अकृत और द्वंद्व से विमुक्ति प्रदान कर देगा।'

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता:॥२॥

भावार्थ: हे तात! लोक-व्यवहार और लोक की उत्पत्ति व विनाश देखकर किसी धन्य पुरुष की ही जीने, भोगने और ज्ञान की इच्छा शांत होती है।

विवेचना: विश्व की भौतिकता से कौन आकृष्ट नहीं होता। सब इसकी लुब्धता से मुग्ध होते हैं। चतुर्दिक भोग्य पदार्थों की प्रचुरता है, रम्य दृश्यावलियां हैं और हृदय को सम्मोहित करनेवाला सौंदर्य है, जिनके मोहपाश से कोई धन्य-पुरुष ही पृथक रह सकता है, अन्यथा जिसे देखो, इनमें रमने को आतुर है।

यही आतुरता मानव को जीने-भोगने की अदम्य लालसा के भंवर में चक्कर काटने को विवश कर देती है। जीने-भोगने को जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानकर वह जीवन के वास्तविक लक्ष्यों और सुखों से दूर हो जाता है।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि यह सब कहते हैं–'जीवन में कुछ नहीं रखा, जीवन निरर्थक है, कोई अपने साथ कुछ नहीं ले जाता, सबकुछ इसी लोक में रह जाना है। यह लोक मिथ्या है, जड़-चेतन सब मिथ्या है–पर जीने और भोगने की उद्दाम इच्छा से सभी छटपटाते हैं।

जीवन की निस्सारता का भान होते हुए जीने की कामना द्वैत-दृष्टि का परिणाम है। द्वैत की विचारधारा ही मानव को दोहरे मानदंड अपनाने को बाध्य करती है और मानव स्वयं को आत्मा से पृथक कर लेता है। आत्मा से पृथकता उसे समस्त जड़-चेतन से जुड़ने नहीं देती। वह लोक-व्यवहार और लोक की उत्पत्ति और विनाश देखकर भी इन सचाइयों से आंख मूंद लेता है और जीने-भोगने की कृत्रिमता में संलिप्त रहता है।

आत्मा से अभिन्नता ही मानव को अलौकिक शक्तियों का स्वामी बना देती है। अद्वैत विचारधारा से उसे सचाइयों का ज्ञान होता है। वह लोक-व्यवहार और लोक की उत्पत्ति और विनाश के अनवरत चक्र से परिचित होता है, उसे जीवन की निस्सारता का ज्ञान हो जाता है। जब वह **आत्मा** को आत्मसात कर लेता है तो उसे न **जीने** की इच्छा होती है और न **भोगने** की। इसका अर्थ यह नहीं कि वह आत्महत्या कर लेता है या खाना-पीना त्याग देता है। अष्टावक्र का कथन है कि आत्मज्ञानी सामान्य नहीं होता, उसे प्रारब्ध से जो आयु मिली है, उसे निर्लिप्त होकर जीता है, प्रारब्ध से प्राप्त भोग भी चुपचाप भोगता है। वह अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होता और न ही भोग-विलास की लालसा से तड़पता है। आत्मा की प्रतीति उसे आत्मा की भांति शुद्ध और निर्मल करती है।

राजा जनक शुद्ध व निर्मल हो गए हैं। उन्हें स्वयं में अलौकिक शक्तियों का बोध होता है। उनके जीने और भोगने की शैली परिवर्तित हो गई है। इसलिए अष्टावक्र उनसे कहते हैं–'हे तात! तेरा परिवर्तन श्लाघनीय है, तेरी दृष्टि को अद्वैत के दर्शन हो गए, अतः तू धन्य है, क्योंकि इस जगत में कोई विरला और धन्य पुरुष ही आत्मदर्शन कर पाने में सक्षम होता है, सामान्यजन को न तो लोक व्यवहार से अधमता का ज्ञान होता है और न सृष्टि की उत्पत्ति और न विनाश से निस्सारता का बोध होता है। राजन! तू धन्य पुरुषों में से है जो सांसारिक अधमता और सृष्टि की निस्सारता का ज्ञानार्जन करते हैं। ऐसे

धन्य पुरुष की लालसाओं के प्रति अभिरुचि नष्ट हो जाती है। आत्मावत पुरुष का भला लालसा से क्या संबंध।'

आत्मज्ञानी को किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं होती। तभी तो अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'जो **लोक-रहस्य** को जान गया उसकी जीने, भोगने और ज्ञान की इच्छा शांत पड़ जाती है।'

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्।
असारं निंदितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति॥३॥

भावार्थः सारी सृष्टि अनित्य है, तीनों तापों से दूषित है, असार, निदंनीय और हेय है, जिसे इसका निश्चय हो जाता है, उसकी निवृत्ति होती है।

विवेचनाः यह सृष्टि नाशवान है, इसका अस्तित्व नित्य रहने वाला नहीं। इस पर भी लोग जीने और भोगने को ही महत्त्व देते हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि सृष्टि तीनों तापों से विकारग्रस्त हो चुकी है। ये तीन ताप हैं—दैहिक, दैविक और भौतिक। **देह** व्याधियों का घर है, जर्जर होकर मृत्यु को प्राप्त होती है, इस पर भी भोग-विलास से मुंह नहीं मोड़ते। सृष्टि में **दैवीय** विपत्तियों से अनेक विनाशलीलाओं का प्रादुर्भाव होता है, किंतु लोगों की जीने-भोगने की आकांक्षा में किंचित भी कमी नहीं आती, वे **भौतिक** उपादानों के प्रति सतत् मोहग्रस्त होते हैं।

अष्टावक्र का मानना है कि सृष्टि सारहीन है, निंदायोग्य और हीन है, फिर भी लोग इसके प्रति लुब्ध हैं, आकृष्ट हैं। ऐसे जीने और भोगने का क्या सार है, क्या सुख है? ऐसे जीवन में लोग दुख, कष्ट, पीड़ा, द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता के अतिरिक्त क्या प्राप्त करते हैं? असार जीवन की भूल-भुलैया में भटककर अंततोगत्वा मृत्यु को प्राप्त होते हैं और योनि को प्राप्त होकर कष्ट भोगने के लिए पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

आत्मज्ञानी सृष्टि की वास्तविकता से सुविज्ञ है। सृष्टि की नश्वरता से वह अनभिज्ञ नहीं होता। सृष्टि की असारता उसकी दृष्टि को साररूप का दर्शन कराती है। वह सर्वत्र आत्मा का अनंत फैलाव देख पाने में सक्षम होता है, इसके साथ ही वह भी आत्मा की भांति चतुर्दिक अपने को सर्वत्र पाता है। इस प्रकार उस पर तीनों तापों के प्रदूषण का दुष्प्रभाव नष्ट हो जाता है। दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से उसका नाता टूट जाता है। देह के स्वाभाविक भोगों से वह विचलित नहीं होता, दैवीय लीलाएं उसे भयभीत नहीं करतीं और भौतिक आडंबरों से वह विचलित नहीं होता।

अष्टावक्र राजा जनक के नाशस्वरूप का इस प्रकार परिचय देते हैं—'राजन!

तू प्रत्यक्ष देख रहा है कि यह सभी दृश्य जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनका अस्तित्व स्थायी नहीं। इस जड़-चेतन का उद्‌भव ही इसलिए होता है कि उनका एक दिन विनाश होना है। जो नाशवान है, उससे मोह कैसा? जिसका अस्तित्व कल नष्ट होगा, उससे प्रीति का कोई अर्थ नहीं। अनित्य सृष्टि के प्रति निरपेक्ष रहना ही श्रेयस्कर है। जो आत्मज्ञान की उपलब्धि करते हैं, उन्हें सृष्टि की नश्वरता का भान होता है, अतः वे सृष्टि के अस्तित्व से तटस्थ हो जाते हैं और आत्मस्वरूप में लीन।

राजन! आत्मज्ञानी से अधिक ज्ञानी कोई नहीं। आत्मज्ञान के पश्चात उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह सृष्टि की अनित्यता से परिचित हो जाता है, तब उसे यह समझते तनिक भी विलंब नहीं होता कि सृष्टि तीन तापों से प्रदूषित है। दैहिक मोह, दैविक विपत्तियों के भय तथा भौतिक आकर्षण के प्रदूषण से जन-जन विभ्रांत और आक्रांत है, इस पर भी इनसे मुक्त होने की कामना कोई नहीं करता।

राजन! ये जो सारे अनित्य और प्रदूषित दृष्टा हैं, वस्तुतः उनका कोई सार नहीं, ये निदंनीय और हेय हैं। यह जानकर भी जो इनसे संयुक्त होता है, वह मूढ़ होता है। आत्मज्ञानी सृष्टि की निस्सारता और हेयता से परिचित होता है और इस प्रकार उसके चित्त की उद्विग्नता और चंचलता शांत हो जाती है।'

कोऽसौ कालौ वयःकिंवा यत्रद्वंद्वानिनोनृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥४॥

भावार्थः वह कौन-सा काल है और कौन-सी अवस्था है, जहां व्यक्ति को द्वंद्व न हो। इसे उपेक्ष्य मानकर जो यथा प्राप्त भोग को शिरोधार्य करता है, वह सिद्धि को प्राप्त होता है।

विवेचनाः जीवन है तो द्वंद्व भी हैं। इसीलिए जीवन को द्वंद्वों का पर्याय माना गया है। द्वंद्व का प्रादुर्भाव लालसाओं से होता है। सुख, लाभ, हर्ष, यश व भोग-विलास की लालसाएं व्यक्ति को सदैव उद्विग्न करती हैं। दुख, हानि, विषाद, अपकीर्ति और अनुपब्धियों से वह हर पल चिंताग्रस्त होता है। यही द्वंद्व हैं, जिनसे व्यक्ति सतत् उलझता रहता है।

अष्टावक्र का मत है कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो द्वंद्वग्रस्त न हो। ऐसा कोई समय नहीं, जो द्वंद्व से रहित हो। व्यक्ति हर स्थिति में द्वंद्वों का सामना करता है। ये द्वंद्व वह स्वयं रचता है। चित्त की चंचलता द्वंद्वों को आमंत्रित करती है। तदुपरांत अंतर्द्वंद्वों का झंझावात उठता है, जिसमें व्यक्ति का सारा सुख-चैन जाता रहता है। इस स्थिति में भी व्यक्ति द्वंद्वमुक्त होने की नहीं

सोचता, उसे प्रतीत होता है कि द्वंद्वों का दूसरा नाम जीवन है, इनसे तभी छुटकारा मिलता है, जब जीवन से मुक्ति मिलती है।

व्यक्ति की यह भ्रांत धारणा है कि मरणोपरांत ही द्वंद्वों से निवृत्त हुआ जा सकता है। अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि व्यक्ति की जीवनशैली ही उसे द्वंद्वग्रस्त अथवा द्वंद्वमुक्त करती है। वह चाहे तो जीवितावस्था में भी द्वंद्वों से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकता है।

हमारे सामने राजा जनक का उदाहरण है। वह द्वंद्वमुक्त हो चुके हैं। उनमें कोई अंतर्द्वंद्व शेष नहीं रहा है। यह तभी संभव हो सका, जब वह सुख-दुख, लाभ-हानि और हर्ष-विषाद की तुच्छ भावनाओं से ऊपर उठ गए। स्वयं में आत्मा की अनुभूति राजा जनक को अलौकिक बना देती है। वह आत्मावत हैं, अत: कामनारहित हैं। जब कामनाएं ही नहीं तो द्वंद्वों के होने का प्रश्न ही कहां उठता है।

अत: व्यक्ति का ऐसा सोचना नितांत भ्रामक है कि जीवन का दूसरा नाम द्वंद्व है, और मरणोपरांत ही द्वंद्वों से मुक्ति संभव है। आवश्यक यह है कि व्यक्ति द्वंद्वों की उपेक्षा करे, सुख-दुख-लाभ-हानि और हर्ष-विषाद की भावनाओं को स्वयं पर हावी न होने दे। इन भावनाओं का कोई अस्तित्व नहीं, वस्तुत: ये चित्त की कल्पनाएं हैं। चित्त पर अंकुश लगाया जाए तो कल्पनाओं पर स्वत: विराम लग जाता है।

अष्टावक्र राजा जनक को इस सूत्र के माध्यम से बताते हैं कि इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि ऐसा कोई काल अथवा अवस्था नहीं है, जब व्यक्ति द्वंद्व से पीड़ित न हो। द्वंद्व अतीत में भी थे, वर्तमान में भी हैं और आने वाला कल भी द्वंद्वमुक्त नहीं होगा। सुख-दुख, लाभ-हानि और हर्ष-विषाद की परिकल्पनाएं हर युग में हर व्यक्ति करता है। किंतु आत्मज्ञानी को चाहिए कि वह इन भ्रांत परिकल्पनाओं को चित्त में प्रश्रय न दे, इनको उपेक्ष्य और महत्त्वहीन मानना ही श्रेयस्कर है। वह अपनी ओर से सुखों-दुखों का आयोजन न करे, लाभ-हानि अथवा हर्ष-विषाद पाने का प्रयास न करे। इसके विपरीत वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करे तथा प्रारब्ध की ओर से जिस प्रकार के भोग मिलें, उन्हीं पर संतोष करे। इस प्रकार उसंके समस्त द्वंद्व समाप्त हो जाएंगे।

सच तो यह है कि व्यक्ति प्रयास करता है, तभी द्वंद्वों का चक्र चल पड़ता है। वह सुख पाने का प्रयास करता है—**सुख** मिलता है तो **हर्ष** से खिल उठता है और **दुख** मिलता है तो **विषाद** से निढाल पड़ जाता है। इसी प्रकार लाभ प्राप्ति के आयोजन करता है—यदि **लाभ** प्राप्ति हुई तो **सुख** से अभिभूत होता

है और **हानि** का सामना करना पड़ा तो **दुख** से आहत होता है। आशा-निराशा के घात-प्रतिघात से उसका चित्त सदैव क्षुब्ध होता है और द्वंद्वों की निरंतरता उसे विक्षिप्त कर देती है। इसीलिए अष्टावक्र परामर्श देते हैं कि चित्त को शांत रखना चाहते हो तो प्रारब्ध से यथा प्राप्त भोगों को चुपचाप शिरोधार्य करो, उन्हीं में संतुष्टि का अनुभव करो। इस प्रकार तुम सिद्धि को प्राप्त होगे, अर्थात तुम्हारा मोक्ष अवश्यंभावी है।

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्टवा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥५॥

भावार्थः महर्षियों, साधुओं तथा योगियों के विभिन्न मत हैं। ऐसी स्थिति में विरक्त को प्राप्त कौन-सा व्यक्ति है, जो शांत नहीं होता।

विवेचनाः जितने व्यक्ति हैं, सबके अलग-अलग विचार हैं। सब सत्य को अपने-अपने ढंग से विवेचित करते हैं। यहां तक कि महर्षि, साधु तथा योगी भी किसी एक मत पर सहमत नहीं। सबकी विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं हैं। कोई कहता है कि एक टांग पर खड़े होकर हठयोग करो तो मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो किसी का विचार है कि घर-बार त्याग कर अरण्यवास करने से तुम सिद्धि को प्राप्त होगे। संक्षेप में यह कि सब अपना-अपना राग अलापते हैं। कोई ईश्वर को निराकार बताता है तो मूर्तिपूजक उसे साकार मानते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति भ्रांतियों में जीवन व्यतीत करता है और तथाकथित महान विभूतियों के भिन्न-भिन्न मत उसे अधिक भ्रांतिग्रस्त करते हैं। उसे समझ में नहीं आता कि अंततः सत्य क्या है। शास्त्रों में सत्य की सबने विभिन्न प्रकार की व्याख्या की है। अपने **सत्य** की **सत्यता** स्थापित करने के लिए वे अपने-अपने **तर्क** प्रस्तुत करते हैं। सबका प्रयास होता है, एक-दूसरे के सत्य को **मिथ्या** सिद्ध करना। महर्षियों, साधुओं और योगियों की दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यही कर्त्तव्य होता है कि वे एक-दूसरे के विचारों को कैसे काटें। ऐसी स्थिति में सामान्य व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि कौन-सा **सत्य** वास्तव में सत्य है।

अनेक सत्यों के जमघट में लोग अपनी सुविधानुसार एक सत्य चुन लेते हैं। यही कारण है कि आज अनेक मतावलंबियों का अस्तित्व है। अनेक वैचारिक धाराएं समाज में प्रचलित हैं। लोग अपने-अपने चुने हुए सत्य के मार्ग पर चलते हैं।

अष्टावक्र का कथन है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों से आंखें फेर लो। सत्य मात्र एक है और वह है आत्मा। तुम और समस्त सृष्टि आत्मामय हो। यह

सत्य नहीं है कि तुम्हारा और आत्मा का अस्तित्व अलग-अलग है। यह भी सत्य नहीं है कि परमात्मा कहीं और बैठा हुआ तुम्हें अपने इशारों पर नचा रहा है। आत्मा और परमात्मा का कहीं अन्यत्र अस्तित्व नहीं, तुम स्वयं आत्मा और परमात्मा हो। तुम **अपना** संचालन **स्वयं** करते हो, कोई अन्य **परमात्मा** तुम्हें संचालित नहीं करता। स्वयं आत्मा-परमात्मा की प्रतीति करना चाहते हो तो चित्त को नियंत्रण में रखो और इच्छाओं का परित्याग करो।

राजा जनक भी कभी भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों से दिग्भ्रमित थे जब उन्हें अष्टावक्र से एकमात्र सत्य का ज्ञान प्राप्त हुआ तो सारे भ्रमों से मुक्ति मिल गई। वह आत्मस्वरूप हो गए। राजा जनक के सामने यह तथ्य प्रकट हो गया कि भिन्न मत व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ते नहीं, तोड़ते हैं।

अत: अष्टावक्र कहते हैं—'यह स्पष्ट दिख रहा है कि चतुर्दिक अनेक मत प्रचलित हैं। बड़े-बड़े महर्षियों, साधुओं और योगियों ने अपने-अपने सत्य गढ़ लिए हैं और उनका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। सबके पास शिष्यों का विशाल समूह है। सभी समूह अपने सत्य को सिद्ध सत्य मानते हैं और दूसरों को मनवाने के लिए रक्तपात करते हैं। एक सत्य को मानने वाला दूसरे सत्य को मानने वाले से घृणा करता है। इस प्रकार विभिन्न मत व्यक्ति को व्यक्ति से लड़ाते हैं। आत्मज्ञानी को ऐसे नाना-मतों से बचना चाहिए।

अष्टावक्र आत्मज्ञानी राजा जनक को शांति प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं—'राजन! समाज में प्रचारित विभिन्न मत व्यक्ति को केवल भ्रांत बनाते हैं। वह विभिन्न मतों में उलझकर रह जाता है। महर्षि, साधु तथा योगी अपने-अपने मतों को मनोहारी तर्कों से महिमामंडित करते हैं और वाक् चातुर्य से लोगों को अपने मत की ओर आकृष्ट करते हैं। विभिन्न मत व्यक्ति को कभी भी सत्य से परिचित होने का अवसर प्रदान नहीं करते। केवल आत्मज्ञानी ही एकमात्र सत्य को सिद्ध करता है। आत्मसत्य की सिद्धि होते ही अन्य मतों के सत्यों की स्वत: ही निरर्थकता प्रकट हो जाती है। अत: आत्मज्ञानी नाना-प्रकार के मतों की उपेक्षा करता है, क्योंकि सारे मत एक-दूसरे का प्रतिरोध और प्रतिवाद करते हैं। आत्मज्ञानी ऐसे विवादास्पद मतों से विरक्त होता है और उनकी उपेक्षा करता है। तब वह परम शांति का अनुभव करता है।'

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः॥६॥

भावार्थ: वैराग्य, समता तथा युक्ति से चैतन्य के मूर्ति ज्ञान को प्राप्त कर जो संसार से स्वयं को तार लेता है, क्या वह गुरु नहीं?

विवेचना: अनेक ज्ञानी व महात्मा गुरु के महत्त्व पर प्रकाश डाल चुके हैं। प्राय: कहा जाता है कि गुरु का स्थान सर्वोपरि है। गुरु बिन गति नहीं, अर्थात गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता। गुरु की महिमा का बखान करते हुए कबीर ने लिखा है:

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
गुरु बलिहारी आपकी, गोविंद दियो बताय॥

अर्थात आपके सामने यदि गुरु और भगवान दोनों खड़े हों तो आपको किसके चरण स्पर्श करने चाहिए? गुरु के, क्योंकि गुरु की कृपा से आपको पता चला है कि भगवान कौन और कैसा है।

निस्संदेह गुरु का महत्त्व है, किंतु अष्टावक्र को व्यक्ति की आंतरिक शक्तियों पर बहुत विश्वास है। यदि व्यक्ति आत्मज्ञान अर्जित कर ले तो वह अपना विधाता आप बन जाता है, उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार व्यक्ति अपना गुरु आप बन सकता है। जो आत्मज्ञानी निज के प्रकाश से आलोकित हो जाए, उसे किसी अन्य गुरु की शरण में जाने की क्या आवश्यकता। स्वयं अष्टावक्र कोई गुरु नहीं, वह स्व-ज्ञान से आभासित हैं। उनका ज्ञान स्वार्जित था। वह अपने गुरु स्वयं थे।

कोई भी मत व्यक्ति की निज शक्तियों पर विश्वास नहीं करता। अष्टावक्र बार-बार इस तथ्य को रेखांकित करते हैं, व्यक्ति स्वयं की शक्तियों का अनुभव कर सकता है, यदि वह स्वयं में आत्मा व परमात्मा की प्रतीति करे। अर्थात अष्टावक्र **व्यक्ति** को ही **स्वयं** के **परमात्मा** होने का स्मरण कराते हैं। व्यक्ति का यह आत्मज्ञान स्वार्जित है, अर्थात वही स्वयं का गुरु भी है।

जो आत्मज्ञानी प्रयासों का त्याग करता है, उसे कर्म से अर्जित फलों की प्रत्याशा नहीं, वह प्रारब्ध से प्राप्त भोगों से ही संतुष्ट है। उसका वैराग्य यही है कि वह विषयासक्त नहीं है। उसकी दृष्टि में समता का भाव आ जाता है, वह शत्रु व मित्र के भेद से मुक्त हो जाता है। वह युक्तियों का आश्रय लेता है और इस सत्य से अवगत हो जाता है कि उसका मूर्तिस्वरूप और कुछ नहीं, आत्मा का चैतन्य स्वरूप है। जो ऐसे आत्मज्ञान को प्राप्त कर ले, वह आत्मगुरु होता है। **स्वयं** द्वारा **स्वयं** को **ज्ञान** प्रदान करनेवाला **गुरु**।

अष्टावक्र राजा जनक को आत्मगुरु की महिमा से अवगत कराते हुए कहते हैं–'राजन! वैराग्य, समता और युक्ति से जिसे स्वार्जित ज्ञान मिलता है, उसे किसी अन्य गुरु के सान्निध्य में जाने की आवश्यकता नहीं। यहां वैराग्य का यह अर्थ नहीं कि गेरुआ वस्त्र धारण करके वन गमन करे, वरन् इसका

अर्थ यह है कि वह कामनाओं और विषय-वासनाओं के प्रति वैराग्य धारण करे। समता से तात्पर्य है, सबको आत्मस्वरूप और एकात्म मानना। इस प्रकार आत्मज्ञानी शत्रु-मित्र भाव से संलिप्त नहीं रह पाता। तदुपरांत युक्ति का आश्रय लेना चाहिए। अर्थात जो आत्मज्ञानी, युक्ति, समता तथा वैराग्य से स्वयं को आत्मा का चैतन्य स्वरूप जान लेता है, वह संसार से तर जाता है। क्या ऐसे आत्मज्ञानी को आत्मगुरु नहीं मानना चाहिए? निस्संदेह वह अपना ही गुरु होने का अधिकारी है।

इस सूत्र से अष्टावक्र राजा जनक को स्मरण कराते हैं-'तूने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, अतः तू भी अपना गुरु आप है।' यहां प्रश्न उठता है कि राजा जनक को ज्ञान तो अष्टावक्र ने दिया, ऐसी स्थिति में राजा जनक कैसे अपने ही गुरु आप हो सकते हैं। वस्तुतः यह शिष्य की योग्यता पर निर्भर करता है कि वह गुरु के उपदेशों को ग्रहण कर पाता है अथवा नहीं। कई शिष्य गुरु की बात एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं और कोरे-के-कोरे रहते हैं। राजा जनक ने अष्टावक्र के उपदेशों को मात्र सुना ही नहीं अपितु हृदयंगम व आत्मसात कर लिया। इसके पश्चात ही उन्हें आत्मज्ञान होता है कि वह आत्मा-परमात्मा से पृथक नहीं। उपदेश सुनकर कितने लोग हैं जो आत्मा-परमात्मा की स्वयं में प्रतीति करते हैं। राजा जनक इसमें समर्थ होते हैं। अतएव अष्टावक्र उन्हें बताते हैं कि तू स्वयं को गुरु कहलाने का अधिकारी है।

पश्यभूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद्बंधनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि॥७॥

भावार्थः भूत-विकारों को यथार्थतः भूतमात्र देखो, उसी क्षण तुम बंधनमुक्त होकर स्वरूप को प्राप्त होंगे।

विवेचनाः मानव मात्र में जितने भी विकार हैं, वे यथार्थ में मानवीय चित्त की दुर्बलताएं हैं, उनका आत्मा से कोई संबंध नहीं।

मानव **देहसुख** से लालायित है, **इंद्रियां आनंद** पाने के लिए मचलती हैं, **चित्त में कामनाओं** का ज्वार मचलता है, ये सब मानवीय विकार हैं।

यदि कोई स्वयं में आत्मा के चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहता है तो वह देह, चित्त तथा इंद्रियों आदि के विकारों को मानव के साकार स्वरूप का विकार जाने, न कि अपने आत्मस्वरूप का। यदि वह ऐसी अनुभूति करने में सक्षम है तो उसे तत्क्षण सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त हो जाएगी और वह आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकेगा।

वस्तुतः आत्मा का चैतन्य स्वरूप ही मानव की वास्तविकता है, किंतु इसकी प्रतीति कर पाने में वह समर्थ नहीं होता। यही असमर्थता उसे यह भान कराती है कि उसकी देह, चित्त व इंद्रियां ही मानवीय स्वरूप की वास्तविकता हैं। यह कृत्रिम वास्तविकता उसे सांसारिक बंधनों में जकड़ देती है। वह **देह** को सुख पहुंचाने के उद्योग करता है, **चित्त** की चंचलता उसे एक पल को भी सुख का सांस नहीं लेने देती, **इंद्रियों** के वशीभूत होकर वह विषय-वासनाओं में लिप्त हो जाता है। ऐसा मान वह कभी भी आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता।

उसे सृष्टि के दृश्य लुभाते हैं, वह सृष्टि की मोहमाया से मुग्ध होता है। इन्हीं में संलिप्ति को वह जीवन की सार्थकता समझता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी ऐसी भूल नहीं करता कि वह मानवीय विकारों को आत्मस्वरूप के विकार समझ ले। उसकी दृष्टि मानवीय विकारों को यथार्थतः मानव के विकार मानती है, इसलिए वह उनसे संलिप्त नहीं होता। हो भी कैसे सकता है, उसने आत्मस्वरूप जो पा लिया है, अतः वह आत्मा की भांति निर्दोष तथा निरंजन हो गया है, उसमें मानवीय दुर्बलताएं तथा विकारों का समावेश होना संभव ही नहीं।

यही समझाते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! इस वास्तविकता को हृदयंगम कर ले कि पंचभूतों से निर्मित यह सृष्टि विकारयुक्त है, जो मानव सृष्टि के विकारों से निष्प्रभावित होता है, वह सुपात्र चाहे तो स्वयं में आत्मा के चैतन्य स्वरूप का दर्शन कर पाने में समर्थ हो सकता है। जो मानव यह सोचता है कि उसका पंच तत्त्वों से निर्मित शरीर **सत्य** है, वही सृष्टि को भी **गलत** दृष्टिकोण से देखता है। वह भोग-विलास की कामना से भौतिक पदार्थों की ओर आकर्षित होता है। उसके सामने यह सत्य कभी प्रकट नहीं हो पाता कि उसका शरीर और यह सृष्टि असत्य है, नश्वर है—आज है, कल नहीं। इस तथ्य से अनभिज्ञ वह सांसारिक बंधनों में जकड़ा रहता है। इस जकड़न को वह जीवन की अनिवार्यता मान बैठता है, जबकि वास्तविकता यह है कि सांसारिक बंधनों से मानव अपना इहलोक और परलोक दोनों का नाश करता है। वस्तुतः अपनी अवनति का कारण वह स्वयं होता है, कोई और नहीं। मानव अपनी जीवनशैली से चाहे तो निज के प्रकाश से आलोकित होकर सारी भ्रांतियों से मुक्त हो सकता है।

अतः राजन! मानव के विकारों को मानव के विकार ही समझो, इन विकारों का आत्मा के चैतन्य स्वरूप से कोई संबंध नहीं। तुम्हारी आत्मा का

चैतन्यस्वरूप विकाररहित है, क्योंकि आत्मा भी विकाररहित है। आत्मज्ञान से जब दृष्टि स्पष्ट हो जाती है तो आत्मज्ञानी भूतविकारों को सचमुच भूतमात्र ही देखता है, इस सत्य का साक्षात्कार करते ही वह समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। सृष्टि के दृश्य भी उसकी दृष्टि में भूतमात्र हो जाते हैं। दृश्य और जड़-चेतन का आवागमन चलता रहता है, जबकि आत्मा चिरनवीन और चिरकालीन है। इस आत्मज्ञान से वह बंधनों से छूटकर आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

वासना एव संसार इति सर्वा विमुंच ताः।
तत्त्यागोवासनात्यागात्स्थितिरद्य यथातथा॥८॥

भावार्थः वासनाएं ही संसार हैं, अतः इन सबका त्याग करना ही संसार का त्याग है। तदुपरांत प्रारब्धानुसार स्थिति को प्राप्त कर।

विवेचनाः आत्मज्ञानी की सबसे बड़ी भूल यही होती है कि मानवीय विकारों को जीवन की अनिवार्यता मानकर उनको अंगीकार कर लेता है। इसी प्रकार वह वासनाओं को ही संसार समझता है। यही समझ उसे मायावी बंधनों में जकड़ लेती है।

आत्मज्ञानी इस भ्रांति का शिकार होता है कि वासनाएं और इच्छाएं न हों तो संसार का विकास ही अवरुद्ध हो जाएगा, सुविधा के नए-नए साधनों के आविष्कार की आवश्यकता ही नहीं रहेगी तथा संसार की समस्त गतिविधियां ठप्प पड़ जाएंगी। अतः उसकी दृष्टि में वासनाओं और इच्छाओं से ही प्राणिमात्र क्रियाशील होता है और भौतिक प्रगति के नए-नए सोपान चढ़ता है। समस्त उद्योगों और गतिविधियों के मूल में **वासनाएं** और **इच्छाएं** ही प्रेरक शक्ति की भूमिका निभाती हैं। इन वासनाओं और इच्छाओं के कारण वह भोग-विलास, यश-कीर्ति और धन-वैभव से संलिप्त होता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी यह मानकर चलता है कि संसार में वासनाओं का अनंत मायाजाल फैला हुआ है, किंतु वह उसमें फंसता नहीं। भौतिक अवदानों का ढेर लगाना अथवा यश-वैभव की लालसा करना ही विकास नहीं। वह भोग-विलासों का आकांक्षी नहीं होता, वह प्रारब्ध से प्राप्त भोगों पर ही निर्भर होता है।

आत्मज्ञानी प्रारब्ध पर विश्वास नहीं रखता, उसे अपनी शक्ति व बाहुबल पर अहंकार होता है। वह शारीरिक शक्ति के बल पर सारे संसार का धन और भोग-विलास प्राप्त करना चाहता है। वह इस सत्य से अनभिज्ञ होता है कि जिस बाहुबल और शारीरिक शक्ति पर इतरा रहा है, वह उसकी बाह्य शक्ति

है, आंतरिक नहीं। इसके अतिरिक्त यह शक्ति अस्थायी होती है, क्योंकि शरीर के रुग्ण, क्षीण व जर्जर होते ही वह निरूपाय और अस्थायी हो जाएगा। तो उसका बाह्य शक्तियों पर इतराना और अहंकार करना कहां तक उचित है? उचित यही है कि वह आंतरिक शक्तियों से परिचित होने का प्रयास करे, किंतु इस प्रयास में वह तब तक सफलता अर्जित नहीं कर सकता, जब तक वह सांसारिक वासनाओं का परित्याग नहीं करता।

आत्मज्ञानी आंतरिक शक्तियों से परिचित होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह बाहुबल और शारीरिक शक्ति का उपयोग नहीं करता। वह अपने समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन बाहुबल और शारीरिक शक्ति से करता है। राजा जनक को आत्मज्ञान उपलब्ध हो चुका है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वह कर्त्तव्य विमुख हो जाएंगे। भले ही वह किसी अन्य राष्ट्र पर आक्रमण न करें, किंतु उनके राष्ट्र पर बाहरी आक्रमण होता है तो वह स्वरक्षा हेतु हाथ में तलवार लेकर शत्रु का मुकाबला अवश्य करेंगे। आत्मज्ञानी सारे कर्म करता है, किंतु सांसारिक वासनाओं से लुब्ध नहीं होता।

इस सूत्र में अष्टावक्र राजा जनक से संसार की वास्तविकता का परिचय देते हुए कहते हैं—'राजन! संसार के समस्त प्राणी वासनाओं में आकंठ डूबे हुए हैं, वासनाओं को ही जीने की अनिवार्यता मान बैठे हैं। वासनाओं ने उन्हें बंधनग्रस्त कर दिया है।

अत: राजन! तू इसे निश्चित जान कि यह संसार वासनाओं का ही पर्याय है। **वासनाएं** ही **संसार** हैं। इन वासनाओं का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। तभी वास्तविक संसार के दर्शन होंगे, तभी यह संसार वासनाहीन आत्मा का साक्ष्य स्वरूप प्रतीत होगा। इसलिए आत्मज्ञानी के लिए वासनाओं से छुटकारा पाना आवश्यक है। वासनाएं सारहीन व निरर्थक हैं, उनसे लुब्ध मत हो। बस, प्रारब्ध तुझे जिस स्थिति में रखे, उसी स्थिति में रह। प्रारब्ध को सर्वोच्च मानकर तू आत्मस्वरूपी बना रह।'

❑❑

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥१॥

भावार्थ: वैररूपी काम का त्याग कर, अनर्थकारी अर्थ का त्याग कर। काम और अर्थ के हेतु तू जो उद्योग (धर्म) करता है, उनका भी त्याग कर। तदुपरांत सर्वत्र का अनादर कर।

विवेचना: आज धर्म जिस अर्थ में प्रचलित है, आरंभिक नीतिशास्त्री उस अर्थ में धर्म का उल्लेख नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ था आचरण, जीवनशैली और करणीय कर्म। जैसे धर्म है कि प्रात:काल यथाशीघ्र जागो अथवा यह भी धर्म है कि किशोरावस्था में मन लगाकर अध्ययन करो।

अष्टावक्र ने इस सूत्र के माध्यम से यह बताया है कि आत्मज्ञानी ऐसे धर्म (उद्योग, आचरण) न करे, जिससे काम व अर्थ की आत्मघाती लालसा जाग्रत हो।

यह मानवीय दुर्बलता है कि उसे काम व अर्थ सर्वाधिक आकृष्ट करते हैं। जितना वह अर्थ संग्रह करता है, उतना ही अर्थ संग्रह के प्रति उसके मोह में वृद्धि होती जाती है। अर्थाधिक्य सदैव भोग-विलास और काम की आकांक्षा को बढ़ाता है। काम और अर्थ के व्यामोह में वह भूल जाता है कि यह शरीर का क्षय करते हैं और इनका आनंद क्षणभंगुर है।

यही कारण है कि आत्मज्ञानी काम तथा अर्थ के प्रति लुब्ध नहीं होता। काम और अर्थ का जितना भोग प्रारब्ध ने उसे प्रदान किया है, उसे वह कर्त्तव्य मानकर भोगता है, उसमें लिप्त होने का प्रयास नहीं करता, बल्कि प्रयास की उसे इच्छा ही नहीं होती। **आयास** से जो प्राप्य है, उसके लिए **प्रयास** की क्या आवश्यकता।

वास्तविकता यह है कि काम ज्ञान का शत्रु है। कामातुर व्यक्ति शुभ-अशुभ अथवा ख्याति-कुख्याति की किंचित मात्र भी चिंता नहीं करता। उसके लिए देह-सुख ही सबकुछ व सर्वोपरि है। कामोद्रेक कभी भी व्यक्ति को ज्ञान, सत्य व विवेक का साक्षात्कार नहीं करने देता। उसकी समस्त चेतना काम-केंद्रित होती है। इसी प्रकार अर्थ का लोभ भी उसके विवेक को नष्ट कर देता है। अर्थाजन के लिए वह कोई भी कुकर्म, धोखा व प्रपंच करने को सहज ही प्रस्तुत हो जाता है।

काम और अर्थ की यह विनाशकारी लीला देखते हुए अष्टावक्र इन्हें सर्वथा त्याज्य व निंदनीय कर्म मानते हैं और सतर्क करते हैं कि ऐसा कोई आचरण नहीं करना चाहिए कि काम व अर्थ का मोह व्यक्ति को विचलित कर दे। वह पहले ही बता चुके हैं कि वासनाएं ही संसार हैं, इसलिए वासनाओं का त्याग आवश्यक है, क्योंकि तभी सांसारिक बंधनों से मुक्ति संभव है। वस्तुत: वासनाओं में लिप्त चित्त को ही काम व अर्थ का मोह सताता है। जहां वासना होगी, वहां अर्थ व काम से दग्ध व्यक्ति के होने की कल्पना सहज ही की जा सकती है। कामी और अर्थाकांक्षी व्यक्ति परम स्वार्थी होता है। वह दूसरों को तो हानि पहुंचाता ही है, स्वयं भी हानि को प्राप्त होता है। वह अपना सारा जीवन काम व मोह की मृगतृष्णा में गंवा देता है।

अत: अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! तू काम को वैरी समझ और अर्थ के प्रति लोलुपता को अनर्थकारी। इन दोनों दुर्गुणों में लिप्ति का अर्थ है, अभी तक व्यक्ति ने वासनाओं का त्याग नहीं किया, अभी तक वह बंधनग्रस्त है। बंधनग्रस्त व्यक्ति भोगी और विलासी होता है। **कामातुर** और **अर्थातुर** व्यक्ति कभी **ज्ञान** और **विवेक** का वरण नहीं कर पाता।

अत: राजन! तू **काम** को **शत्रु** और **अर्थ** को **अनर्थ** जान। इनकी आकांक्षा कभी मत कर। काम और अर्थ का मोह बड़े-बड़े महारथियों तथा ऋषि-मुनियों को अकिंचन, याचक व दयनीय बना देता है। तू अपने आत्मज्ञान को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है तो काम और अर्थ की प्रवंचना से बच। तेरे लिए श्रेयस्कर यही है कि विवेक शत्रु काम और अनर्थकारी अर्थ का परित्याग कर, इनके बार में सोचना ही अनिष्टकर है। कोई ऐसा धर्म मत कर जिससे काम और अर्थ का मोह तेरे चित्त में जाग्रत हो। तुझ आत्मज्ञानी के लिए सर्वथा अभीष्ट यही है कि न केवल निष्काम और निस्वार्थ रह, बल्कि उस धर्म का परित्याग कर जो तुझे कामातुर व अर्थातुर करते हैं। ऐसे धर्म, काम और अर्थ का अनादर करके ही तुझे मुक्ति का मार्ग मिलेगा।

स्वप्नेंद्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा।
मित्रक्षत्रधनागारदारदायादि सम्पदः॥२॥

भावार्थः मित्र, क्षेत्र, धन, घर, पत्नी और भाई आदि संपदा स्वप्न व इंद्रजाल के समान है, जो तीन या पांच दिन तक रहते हैं।

विवेचनाः जन-जन में मोह व्याप्त है। कोई **धन** से मोहित है तो कोई **काम** से। किसी को **यश** का मोह चैन से बैठने नहीं देता तो किसी को **भोग-विलास** का मोह। सभी किसी-न-किसी मोह से लिप्त हैं।

यह मोहमाया ही सांसारिक बंधन है। इन सबमें जीने का मोह सर्वाधिक घातक है। यह निश्चित है कि जिसने जन्म लिया है, वह मरण को अवश्य ही प्राप्त होगा। किंतु जीने की अदम्य उत्कंठा से व्यक्ति मृत्यु से सदा भयभीत होता है। अंत में मृत्यु का यह भय उसके अंतिम काल को यातनामय बना देता है। सच तो यह है कि किसी भी प्रकार का मोह कष्टदायक होता है। इसी मोह के कारण जब व्यक्ति के किसी सगे-संबंधी, मित्र या संपदा की हानि होती है तो वह घोर मानसिक पीड़ा का शिकार होता है।

यह मोहमाया का ही प्रभाव है कि वह इस तथ्य का बोध ही नहीं कर पाता कि नाते-रिश्ते व धन-संपदा सदा रहनेवाले नहीं होते, ये आज साथ में हैं तो कल इनका साथ छूटना अवश्यंभावी है। मानवीय दुर्बलता यह है कि व्यक्ति जितना उपलब्ध करता है, उपलब्धियों के प्रति उसका मोह उतना ही बढ़ता जाता है। मोह की वृद्धि से भय और यातना की वृद्धि होती है और उपलब्धियों से नाता टूटने का भय और यातना। स्वयं की तथा सगे-संबंधियों की मृत्यु का भय और यातना। इस पर भी वह मोह से मुक्ति की कामना नहीं करता।

अष्टावक्र की दृष्टि में धन-संपदा तथा रिश्तों व मित्रों का कोई महत्त्व नहीं। यह मृगतृष्णा के समान व्यक्ति को दिग्भ्रमित करते हैं और सदैव भटकाते व उलझाते रहते हैं।

आत्मज्ञानी सांसारिक बंधनों से मुक्त होता है तो उसकी वासनाएं और काम व अर्थ की कामनाएं स्वतः विलुप्त हो जाती हैं। इस स्थिति में उसे धन-संपदा तथा नाते-रिश्तों की निरर्थकता का सहज बोध होता है। स्वयं में आत्मा की प्रतीति से उसके सामने यह सत्य प्रकट हो जाता है कि सब आत्मा के चैतन्यस्वरूप हैं और **आत्मा** से पैदा होकर **आत्मा** में ही समा जाते हैं। आत्मा सदैव रहती है, चैतन्यरूप न भी रहा तो आत्मा की हानि नहीं होती। आत्मा सर्वत्र व्याप्त होती है, अतः आत्मावत ज्ञानी सर्वत्र होता है। आत्मा

निरपेक्ष होती है, अतः आत्मज्ञानी निरपेक्ष और तटस्थ होता है, उसकी दृष्टि में रिश्ते-नाते व धन-संपदा का महत्त्व समाप्त हो जाता है।

मोहमाया की व्यर्थता समझाते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'राजन! मोहमाया को चित्त में स्थान मत दे। मोहमाया से वेदना, भय और कष्ट ही मिलता है। अतः मित्र, क्षेत्र, धन, घर, पत्नी और भाई आदि संपदा से मोहित होना तुझे भरमाएगा। इन्हें तू मृगतृष्णा ही समझ, इनका कोई महत्त्व नहीं। नाते-रिश्ते तथा धन-संपदा को स्वप्नवत जान, जैसे सोते समय स्वप्नों के दृश्य आंखों के सम्मुख झिलमिलाते हैं और जागते समय सारे दृश्य ओझल हो जाते हैं, वैसे ही नाते-रिश्तों और धन-संपदा का कोई अर्थ नहीं। इंद्रजाल की भांति नाते-रिश्ते व धन-संपदा भी आंखों को धोखा देते हैं और भरमाते हैं। मित्र, क्षेत्र, धन, घर, पत्नी और भाई आदि संपदा की आयु ही कितनी है। ये तीन या अधिक-अधिक पांच दिन तक साथ निभाते हैं, तदंतर नाश को प्राप्त होते हैं। जो क्षणभंगुर हैं, उनसे कैसी मोहमाया?

यत्रयत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव॥३॥

भावार्थः जहां-जहां तृष्णा और इच्छा है, वहीं संसार का अस्तित्व है, ऐसा जानकर प्रौढ़ (परिपक्व) वैराग्य का आश्रय लेकर तृष्णा का त्याग कर और सुखी हो।

विवेचनाः यहां अष्टावक्र वैराग्य का आश्रय लेने का परामर्श देते हैं। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, वैराग्य से उनका तात्पर्य यह नहीं है कि घर-बार छोड़कर व्यक्ति वनवास करे या पर्वतों की चोटी पर बैठ जाए। अष्टावक्र ने ऐसा कहीं भी उपदेश नहीं दिया है कि व्यक्ति कर्त्तव्य से विमुख होकर एकांत में जाए या तप-साधना करे।

अष्टावक्र जब वैराग्य की बात करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए व्यक्ति प्रलोभनों में न फंसे, अर्थात भोग-विलास, धन-संपदा और काम-क्रोध से विमुक्त रहे।

आत्मज्ञानी परिपक्व वैरागी होता है, उसे किसी प्रकार के मोहमाया की आकांक्षा विचलित नहीं करती। उसका आत्मस्वरूप निरपेक्ष और निरंजन होता है। वह दोषरहित और कामनारहित होकर **आत्मा** में समाहित हो जाता है और आत्मा **उसमें** समाहित हो जाती है। अष्टावक्र की दृष्टि में यह आत्मज्ञानी का प्रौढ़ (परिपक्व) वैराग्य है। इसके विपरीत आत्म-अज्ञानी से ऐसे वैराग्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वह तो वैराग्य का वास्तविक अर्थ भी नहीं

समझता। उसकी दृष्टि में तो वैराग्य का अर्थ है वन-प्रांतरों में जाकर तपस्या करना या पर्वतों की चोटियों पर योग-साधनाएं करना। वह ऐसा करता भी है। जब आत्म-अज्ञानी भोग-विलास का जीवन व्यतीत करता हुआ अंतकाल के निकट पहुंचता है तो उसे लगता है कि अब परलोक संवारने का समय आ गया है, बहुत पाप कर लिए, अब पुण्य कमाना चाहिए। इस इच्छा से वह घर-बार, सगे संबंधी और कर्त्तव्यों से विमुख होकर मोक्ष की इच्छा से वनों, कंदराओं और पहाड़ों की ओर जाता है। वहां तप व साधना में लीन होकर भी मोहमाया से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष नहीं मिल पाता।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! तू आत्मा की प्रतीति कर चुका है, अतएव तुझे समस्त अभिलाषाओं, प्रलोभनों तथा मोहमाया से मुक्ति मिल चुकी है। तू प्रौढ़ वैरागी हो गया है।

इसी प्रौढ़ (परिपक्व) वैराग्य का आश्रय ले। इस प्रकार कभी भी तुझे सांसारिक तृष्णाएं नहीं भरमाएंगी। यह संसार क्या है? वासनाओं, तृष्णाओं और इच्छाओं का अभेद्य दुर्ग है। यह केवल आत्म-अज्ञानियों के लिए अभेद्य है। आत्मज्ञानी के लिए वह सहज ही प्राप्य है। राजन! तू इसे निश्चित जान कि जंहां-जहां तृष्णा और इच्छा होती है, वहीं संसार होता है। संसार की कल्पना तृष्णा और इच्छा के अभाव के बिना नहीं की जा सकती। तृष्णा और इच्छा का ही दूसरा नाम है संसार। इस ज्ञान से अवगत होकर तू परिपक्व वैराग्य का आश्रय ले। यही आश्रम तुझे तृष्णा रहित करेगा, और तू सदा सुखी रहेगा।'

तृष्णामात्रात्मको बंधस्तन्नाशोमोक्षउच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥४॥

भावार्थः तृष्णा मात्र ही आत्मा का बंधन है, उसके नाश को ही मोक्ष की संज्ञा दी गई है। संसार से अनासक्ति से ही सतत् आत्मा की प्रतीति और संतुष्टि होती है।

विवेचनाः यदि आत्मज्ञानी का वैराग्य परिपक्वता को प्राप्त नहीं होता तो वह अपने आत्मस्वरूप से विस्मृत होकर पुनः सांसारिक मोहमाया से ग्रस्त हो सकता है। अतएव अष्टावक्र राजा जनक को बार-बार संसार से अनासक्त होने का आग्रह करते हैं।

अष्टावक्र बता चुके हैं कि संसार क्या है? अर्थात जहां-जहां तृष्णा है, वहीं संसार है, वहीं लालसाएं और वासनाएं हैं। यह वासनाएं और लालसाएं इतनी मोहक व लुभावनी होती हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों का चित्त तक डोल जाता है, सामान्यजन के बारे में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानी का ज्ञान भी किसी काम न आए तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

इसलिए अष्टावक्र आत्मज्ञान से संपृक्त राजा जनक को बार-बार सतर्क व सावधान करते हैं। वह इस सूत्र में राजा जनक को बताते हैं कि स्वयं में आत्मा की सतत् अनुभूति का क्या रहस्य है?

वह कहते हैं-'राजन! **तृष्णा** का आकर्षण अत्यंत **मोहक** है, किंतु **घातक** भी! एक बार तृष्णा का स्वाद रसना को भा जाए तो सदैव उसकी चाह सताती है। इसे निश्चित जान कि रसना की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है। इसे तू मृगतृष्णा के समान जान। मृग को सामने की झिलमिलाहट सरोवर की भांति दृष्टिगोचर होती है। मृग जितना आगे बढ़ता है, कल्पित सरोवर की झिलमिलाहट उतनी ही दूर होती जाती है। अतः श्रेयस्कर यही है कि तृष्णा के सम्मोहन से नितांत मुक्त हुआ जाए।

राजन! सच तो यह है कि **तृष्णा का सम्मोहन** ही **आत्मा का बंधन** है, यही आत्मा की प्रतीति से आत्मज्ञानी को विस्मृत करा देती है। अतः तू तृष्णा का सदैव के लिए नाश कर, क्योंकि तृष्णा के नाश को ही मोक्ष की संज्ञा दी गई है। तू संसार से अनासक्त रहेगा तो तृष्णा का सम्मोहन तेरे लिए महत्त्वहीन हो जाएगा और तुझे स्वयं में आत्मा की सतत् अनुभूति होगी।

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जड़ं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि नकिंचित्सा का बुभुत्सातथापिते।।५।।

भावार्थः तू एक शुद्ध चेतना है, विश्व जड़ और असत है, इसी भांति यह अविद्या भी असत है, ऐसी स्थिति में तुझे क्या जानने का मोह है।

विवेचनाः विश्व का दृश्य स्वरूप किन अवदानों से निर्मित है? ये निर्मित है आत्मा, जड़-चेतन और अविद्या से। इनमें निस्संदेह एकमात्र आत्मा ही ऐसा है जो अद्वैत, चैतन्य, निरपेक्ष और दोषरहित व विशुद्ध है। जड़-चेतन **आत्मा** से ही निसृत हैं और अनित्य हैं तथा अंत में **आत्मा** में ही समा जाते हैं।

अष्टावक्र की दृष्टि में मायावी संसार असत्य है, जिसे आत्म-अज्ञानी सत्य मानकर भ्रम में जीते हैं। विश्व के दृश्य मायावी, नश्वर, अनित्य और कृत्रिम हैं, किंतु उसकी चेतनता, क्रियाशीलता व अस्थिरता आत्मा का चैतन्य स्वरूप है। **आत्मा** और **विश्व** दोनों एक-दूसरे में समाहित और सन्निहत हैं।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'तू आत्मावत होकर आत्मा का विराट स्वरूप धारण कर चुका है, अतः तू एक शुद्ध चेतना है। अर्थात जो आत्मा की प्रतीति करता है, वह निर्दोष और शुद्ध चेतना का पर्याय बन जाता है, जबकि विश्व जड़ और असत्य होता है। अविद्या विश्व के अकिंचन आत्मज्ञानियों के लिए सत्य हो सकती है, जबकि यह असत्य है।

वस्तुतः राजन! आत्मज्ञानी अविद्या को मिथ्या मानता है, क्योंकि उसने एकात्म होकर सत्य का दर्शन कर लिया है। अविद्या आत्म-अज्ञानी को मूढ़ बनाती है, जबकि आत्मज्ञानी आत्मविद्या की प्राप्ति कर संपूर्ण और विस्तृत हो जाता है।

अतः राजन! तू संपूर्ण, एकात्म, और विस्तीर्ण है, अब तुझे क्या जानने की इच्छा है? तू ज्ञानवान और सिद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त है, अतः और किसी ज्ञान की प्रत्याशा मत कर।'

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥६॥

भावार्थः प्रत्येक आसक्त व्यक्ति का राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर व सुख नाशवान है। तेरे भी ये सब जन्मों-जन्मों से नष्ट हुए हैं।

विवेचनाः यह सर्वविदित है कि सबकुछ नाशवान है। न यह शरीर रहेगा, न नाते-रिश्ते, न राज-पाट और न घर-परिवार। इस पर भी प्रत्येक व्यक्ति मोहमाया के वशीभूत भौतिक सुख-सुविधाएं जुटाता है, महल-भवन बनवाता है। उसके आचरण और आयोजन से ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह शाश्वत और चिरंतन है, उसका कभी अंत ही नहीं होगा। जबकि वास्तविकता यह है कि विश्व का समस्त जड़-चेतन नाशवान और अनित्य है।

यह सच है कि व्यक्ति जन्म लेता है तो शैशव से लेकर आयु के अंतिम दिन तक उसे शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हाथ-पैर चलाने पड़ते हैं। समयानुसार उसका घर-परिवार होता है, संतान होती है, भरण-पोषण के कार्य करता है। यह जीवन जीने की अनिवार्यताएं हैं, जिनका निर्वहन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। किंतु स्थिति तब विकराल रूप धारण करती है, जब व्यक्ति धन, परिवार, यश और विषय-वासनाओं के प्रति मोहग्रस्त हो जाता है। इस स्थिति में वह यह भूल जाता है कि वह धरती पर अतिथि बनकर आया है और एक दिन उसे यहां से कूच करना है।

इस सत्य से वह मुंह फेरकर स्वयं को भरमाता है। धन-संपदा के अहंकार में वह केवल जीना चाहता है। मृत्यु का ध्यान आते ही नाना-आयोजनों से उसके विचार से मुक्त होने का प्रयास करता है। सोचता है, जब मरना निश्चित है तो जितनी आयु मिली है, उसमें जितना अधिक-से-अधिक हो सके, उतना सुख भोग लेना चाहिए। इस इच्छा से उसके भोग-विलास में वृद्धि हो जाती है। भोग-विलास और अधिक जीने की इच्छा के कारण वह मृत्यु के विचार मात्र से घबरा जाता है। मृत्यु उसके लिए भय का पर्याय बन जाती है।

यदि व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाए कि सृष्टि व सृष्टि के दृश्य नश्वर हैं, यह शरीर सदैव रहनेवाला नहीं है तो उसकी कामनाओं को विराम लग सकता है। ऐसी स्थिति में वह जीवन-निर्वाह के लिए कर्त्तव्य तो निभाएगा, किंतु विषय-वासनाओं में लिप्त नहीं होगा। यह सरल नहीं है, ऐसा तभी संभव है, जब व्यक्ति आस्थापूर्वक **स्वयं व सृष्टि** को **एकात्म व अद्वैत** मानता हो।

राजा जनक एकात्म और अद्वैत हो चुके हैं। इसके पहले वे भी भौतिकता के प्रति मोहग्रस्त थे। उन्हें भी विषय-वासनाओं तथा भोग-विलास में संलिप्ति चरम सुख पहुंचाती थी। उनका मात्र एक ही सीमित उद्देश्य था कि स्वयं के लिए और घर-परिवार के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सुख-सुविधाएं कैसे उपलब्ध करें? किंतु अष्टावक्र के सान्निध्य में आते ही न सिर्फ उन्हें आत्मानुभूति हुई, बल्कि वह स्वयं के गुरु भी बन गए। इस समय वह आत्मस्वरूप और आत्मगुरु से महिमामंडित होकर कामनारहित थे।

राजा जनक को अष्टावक्र इस सूत्र में यही बताते हैं—'यह सारा विश्व तथा विश्व के जड़-चेतन अनित्य और नाशवान हैं। यहां कुछ भी सदा के लिए रहनेवाला नहीं। सदा के लिए चतुर्दिक केवल आत्मा ही व्याप्त है किंतु आसक्त व्यक्ति इस सत्य से अनभिज्ञ है। वह स्वयं को आत्मा से भिन्न मानकर विषयासक्त रहता है और आजीवन सुख से विभोर होकर जीना चाहता है। भूल जाता है कि एक दिन वह धूल में मिल जाएगा।

राजन! प्रत्येक जन्म में आसक्त व्यक्ति की यही परिणति होती है। तू भी जब आसक्त था तो तेरी स्थिति भी इससे भिन्न नहीं थी। तू भी साधारण आसक्त व्यक्ति की भांति इस शाश्वत सत्य से अनभिज्ञ था कि तू और तेरा कुछ भी अशेष नहीं, एक दिन सबको निःशेष हो जाना है। राजन इसे निश्चित जान कि प्रत्येक आसक्त व्यक्ति का राज्य, पुत्र, पत्नी, शरीर और सुख नश्वर है, उसे नष्ट होना ही है। तेरा शरीर, राज्य, परिवार, सगे-संबंधी तथा सुख आदि भी प्रत्येक जन्म में नष्ट हुए हैं। अब तू आत्मानुभूति कर चुका है, अतः मोक्ष को प्राप्त है। तेरे लिए जन्मों का यह अनवरत क्रम समाप्त हो चुका है।'

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकांतारे न विश्रांतमभून्मनः॥७॥

भावार्थः अर्थ, काम और सुकृत कर्म बहुत कर लिए किंतु इससे संसार रूपी वन में चित्त को विश्रांति नहीं मिली।

विवेचनाः इस संसार में व्यक्ति नाना-प्रकार के अच्छे और बुरे कर्म करता है। यद्यपि वह अच्छे या बुरे कार्य के अंतर को नहीं जानता। वह जो भी

कार्य करता है, अपने विवेक के अनुसार ही उनमें कुछ कार्यों को अच्छे की श्रेणी में रखता है और कुछ को बुरे की।

वह आजीवन सुख तथा शांति पाने के आयोजन करता है। सारा जीवन सुख तथा शांति की तलाश में भटकता है। भोग-विलास से उसे सुख का अनुभव होता है। धन-संपदा का ढेर लगाकर वह सोचता है, इसी में शांति है। किंतु ऐसा सुख और शांति मिथ्या होती है, क्षणभंगुर होती है।

सच तो यह है कि व्यक्ति कभी भी सुख और शांति की सत्यानुभूति नहीं कर पाता। उसका चित्त सदैव मलीन, चिंतित, विषादी तथा विकल रहता है। उसे कभी भी चैन की सांस लेने का अवसर नहीं मिल पाता। जब चित्त में अधिक पाने की **इच्छा** और **तृष्णा** होगी तो **शांति** कैसे मिल सकती है। लोभवश वह सदैव व्याकुल और विकल होता है। बीच-बीच में उसे जिस सुख-दुख और शांति-विश्रांति का बोध होता है, वस्तुतः वह उसके चित्त का भ्रम होता है। व्यक्ति के पास धन नहीं होता, तब भी वह अशांत होता है। जब वह विशाल धन-संपदा का स्वामी होता है, तब भी उसे अशांति से मुक्ति नहीं मिलती। जीवन के अंतिम क्षण तक उसका चित्त शांति के लिए भटकता रह जाता है।

अष्टावक्र के मत से व्यक्ति स्वयं तो साक्षात भ्रम है ही, वह जिस सुख और शांति की कल्पना से मुग्ध होता है, वह भी भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सुकर्म और कुकर्म की भी उसने भ्रामक कल्पनाएं कर रखी हैं। कुकर्म और सुकर्म में क्या भेद है, इससे वह नितांत अनभिज्ञ है। वह सुविधानुसार जिस कर्म को एक बार **कु** मानता है, उसी को अगले पल **सु** मानता है। वह जानता है कि असत्य भाषण कुकर्म है, किंतु स्वार्थ आड़े आ जाए तो वह असत्य भाषण करने से भी नहीं चूकता। कभी सोचता है, बहुत कुकर्म कर लिए, अब सुकर्म करना चाहिए। वह पूजा-पाठ, ईश्वर-स्तुति, भजन-कीर्तन और तप-साधना को सुकर्म मानता है। उसे लगता है, ऐसे सुकर्म करके वह अपना परलोक सुधारता है और मोक्ष को प्राप्त होता है। इससे भले ही वह स्वयं को आश्वस्त कर ले, जबकि वास्तविकता यह है कि इस सुकर्म से भी उसे सुख और शांति नहीं मिलती, मोक्ष मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अष्टावक्र का कथन है कि जब व्यक्ति को सुख-शांति मिलती ही नहीं, तो वह इतने आयोजन, उद्योग और आकांक्षाओं में अपना जीवन क्यों गंवा देता है। यही बात वह राजा जनक को इस प्रकार कहते हैं–'राजन! तूने सुख और शांति पाने के लिए क्या नहीं किया? भोग-विलास में लिप्त रहा, अकूत

धन-संपदा संग्रहीत की। सुख और शांति की कभी-कभी भ्रामक अनुभूति की, किंतु कभी भी सुखी और शांत नहीं रहा। तेरा चित्त अनवरत दुखी और अशांत ही रहा, क्योंकि चित्त का लोभ तेरी कामनाओं को और बढ़ाता था।

राजन! आज तुझे इस बात का आभास हो गया होगा कि अर्थाजन, कामेच्छा और सत्कर्म बहुत कर लिए, किंतु तूने कभी इस संसार रूपी वन में विश्रांति का अनुभव नहीं किया। हां, तेरा चित्त शांत और अविचल है। ऐसा इसलिए संभव हुआ, क्योंकि तूने **आत्मा** के दर्शन **स्वयं** में कर लिए। स्वयं का आत्मा-परमात्मा तू स्वयं है। इसलिए तू कामनारहित है और कामनारहित आत्मा सदैव विश्रांत होती है।

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्।।८।।

भावार्थः अनेक जन्मों तक तन, मन और वचन से कैसे-कैसे दुखदायी श्रमसाध्य कर्म किए। अब सारे कर्मों का त्याग कर।

विवेचनाः निस्संदेह व्यक्ति जन्म-जन्मांतर तक अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लिप्त रहता है। आवश्यकताएं बढ़ती हैं और व्यक्ति का संघर्ष भी बढ़ता है।

आवश्यकताओं के बढ़ने का कारण है, लिप्साएं। चित्त का लोभ व्यक्ति को बेलगाम घोड़े की तरह **कामनाओं** के पीछे निरंतर दौड़ाता है। आजीवन दौड़ते-दौड़ते वह क्लांत और अशांत हो जाता है, किंतु उसकी कामनाओं की फसल सदैव लहलहाती रहती है। कामना की एक पौध काटते ही उसके स्थान पर कामना की नई पौध उग आती है।

कामनाओं का यह तीव्र ज्वार ही सांसारिक बंधन कहलाता है। ऐसी स्थिति में **बंधन प्रमुख** हो जाता है और **व्यक्ति गौण**। वह स्वयं को भूल जाता है, सचाइयों से परिचित नहीं हो पाता और भ्रमों व भ्रांतियों के सान्निध्य में जीकर सोचता है, यही जीवन है। लाभ-हानि की सीमित परिधि में उसका सारा सोच-विचार संकुचित होकर रह जाता है। लाभ की स्थिति में खुश होता है, किंतु हानि का आघात नहीं सह पाता और दुख से व्याकुल हो जाता है। उसका सदैव यही प्रयास होता है कि वह ऐसा कुछ न करे, जिससे हानि का सामना करना पड़े। उसका यही लक्ष्य होता है कि वह सदैव लाभान्वित हो।

लाभ की प्रत्याशा में वह रात-दिन एक कर देता है। उसे हर पल हानि की आशंका से भय रहता है। लाभ के लोभवश वह क्या नहीं करता? कठोर से कठोर परिश्रम करता है, दुख झेलता है और संकटों व विपत्तियों का सामना

करता है। उसका चित्त सदैव अशांत और अस्थिर होता है। इसे ही वह जीवन मानता है। इसी में उसे जीवन की सार्थकता प्रतीत होती है।

ऐसा नहीं है कि लोभी व्यक्ति के लिए यह केवल एक ही जन्म में होता है। लोभी व्यक्ति कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, अत: वह बार-बार विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है और हर जन्म में कष्ट और अशांति भोगता है। लोभ और भोग की लिप्सा उसे जीवन की वास्तविकताओं का बोध होने ही नहीं देती।

सच तो यह है कि वह स्वयं से भी अपरिचित होता है, तो जीवन की वास्तविकताओं को कैसे पहचानेगा। जो स्वयं से अपरिचित होता है, वह सांसारिक बंधनों को जीवन मानता है। उसे भ्रम व भ्रांति में सत्य नजर आता है। लाभ के लोभ से तन, मन और वचन से क्या कुछ नहीं कहता और करता?

राजा जनक स्वयं से परिचित हो गए हैं। स्वयं से परिचित होने का ही अर्थ है, **आत्मानुभूति**। यही आत्मानुभूति किसी भी प्राणी को आत्मा व परमात्मा की प्रतीति कराती है। वह लोभ व भोग की संपूर्ण विकृतियों से मुक्त हो जाता है व शुद्ध आत्मा का रूप धारण करता है।

राजा जनक के नवीन स्वरूप को देखते हुए अष्टावक्र उनसे कहते हैं—'राजन! तू अनेक बार जन्म लेकर धरा पर अवतरित हुआ है। प्रत्येक जन्म में तूने सुख और शांति की कामना की, किंतु तू किसी भी जन्म में सुखी और शांत नहीं रह सका। लोभ व भोग के व्यामोह में तूने सदैव अपने इहलोक व परलोक का सर्वनाश किया। लोभ व मोह की कामना से विक्षिप्त होकर तूने कितने प्रपंच नहीं किए, कितनों को धोखा नहीं दिया, कितने कष्ट नहीं झेले और कितना श्रम नहीं किया, इस पर भी तेरा लोभ-भोग पूर्ण नहीं हुआ, तृष्णा सदैव ही बनी रही।

राजन! तूने अनेक जन्मों तक तन, मन और वचन से कैसे-कैसे कष्टप्रद और श्रमसाध्य कर्म नहीं किए। बहुत हो चुका राजन! अब यह सब करने की आवश्यकता नहीं। शुद्ध आत्मा की भांति अब तू विश्राम कर और शांत रह।'

❑❑

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥१॥

भावार्थः जो निश्चित रूप से यह जानता है कि भाव व अभाव के विकार स्वभाव से पैदा होते हैं, वह निर्विकार और क्लेशविहीन व्यक्ति सुख व शांति का वरण करता है।

विवेचनाः चित्त में उठनेवाले भाव ही किसी व्यक्ति का स्वभाव निर्धारित करते हैं। चित्त चंचल है तो व्यक्ति सर्वदा विचलित रहेगा। इसलिए चित्त को अंकुश में रखने का परामर्श दिया जाता है। जिसका चित्त नियंत्रित है, उसका स्वभाव धीर-गंभीर होता है।

स्वभाव के लक्षणों को छिपाया नहीं जा सकता। जिसका जैसा स्वभाव होता है, वह उसके आचरण व मनोभावों से प्रकट हो जाता है। भाव-अभाव की कल्पना करनेवाला कभी शांत व अविचलित नहीं रह सकेगा। वह सदैव द्वैत के द्वंद्व में उलझा रहेगा। वह दृश्य और अदृश्य में भेद करेगा। वह दृश्यों से मोहित होगा और अदृश्य को निरर्थक समझेगा। अदृश्य अर्थात आत्मा के अस्तित्व पर उसे कभी विश्वास नहीं होगा। स्वभाव की माया से वह भ्रामक दृश्यों को सत्य मान बैठता है।

वह कभी इस सत्य को नहीं जान पाता कि भाव-अभाव, दृश्य-अदृश्य और उपलब्धि-अनुपलब्धि के विकार और कुछ नहीं, मायावी स्वभाव की देन हैं। जिसे यह **बोध** हो जाता है, वह **सुखी** और **शांत** हो जाता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! तूने निश्चित रूप से यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है कि भाव व अभाव के विकार मायावी स्वभाव से पैदा होते हैं, अब तू निर्विकार और क्लेशविहीन है। इस स्थिति में तुझे सदैव सुख और शांति का बोध होगा।'

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।
अंतर्गलितसर्वाशः शांतः क्वापि न सज्जते॥२॥

भावार्थः जो निश्चित रूप से यह जानता है कि सर्वनिर्माता केवल ईश्वर है, अन्य कोई नहीं, ऐसे व्यक्ति का अंतर्मन कामनारहित, शांत और अनासक्त होता है।

विवेचनाः आसक्ति ही व्यक्ति के चित्त में कामनाओं और वासनाओं का ज्वार पैदा करती है। कामनाओं और वासनाओं की सिद्धि में वह ऐसा संलिप्त होता है कि उसे किसी की सुध-बुध नहीं रहती। अहंकार में वह ईश्वर तक को भूल जाता है। स्वयं को ही सर्व शक्तिमान और श्रेष्ठ समझता है। सोचता है, धन-संपदा से वह सबकुछ पा सकता है।

स्वयं के प्रति ऐसी आस्था कृत्रिम होती है, क्योंकि यह अहंकार से उद्भूत हुई है। अपने प्रति वास्तविक आस्था तभी होती है, जब व्यक्ति अपनी बाह्य व शारीरिक शक्तियों पर इतराएगा नहीं और स्वयं में व सबमें आत्मा के दर्शन करेगा।

जो आत्मदर्शन कर पाने में असमर्थ होता है, वह अनित्य को नित्य और नश्वर को शाश्वत मानता है। स्वयं को साकार और आत्मा को निराकार मानता है। वह स्वप्न में भी नहीं सोचता कि उसका साकार होना मिथ्या है और वह वस्तुतः आत्मा का साक्ष्य स्वरूप है। आत्म-अज्ञान ही उसे सांसारिक भोगों में लिप्त करता है। आसक्ति और कामना के कारण वह सदैव दीन, हीन और याचक बना रहता है, भले ही उसके पास अकूत धन क्यों न हो। इसके विपरीत आत्मज्ञानी न धनी होता है और न निर्धन।

अष्टावक्र कहते हैं–'राजन! जिस व्यक्ति को इसका निश्चयपूर्वक ज्ञान हो जाता है कि सारे विश्व का रचयिता एक **ईश्वर** है, अन्य कोई नहीं। सबको बनाना-मिटाना ईश्वराधीन है, **मनुष्य** के वश में कुछ नहीं, उसके अन्तर्मन की समस्त कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, वह परमशांत पड़ जाता है। वह विषय-वासनाओं से मुक्त सर्वथा **अनासक्त** हो जाता है।'

आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेंद्रियोनित्यं न वांछति न शोचति॥३॥

भावार्थः आपदा और संपदा समयानुसार दैवयोग से प्राप्त होती है, जो इससे विदित है, वह सर्वदा तृप्त और इंद्रियजित होकर न अप्राप्य की इच्छा अनुभूति करता है और न विषाद की।

विवेचनाः व्यक्ति को विषाद क्यों होता है? क्योंकि वह निरंतर कामनाएं

करता है। उसकी कामनाएं कभी समाप्त नहीं होतीं। वह सदैव अतृप्ति की भावना से तड़पता है, उसकी आंखों में सदैव विषाद छाया रहता है। वह निरंतर कुछ पाने, कुछ उपलब्ध करने के प्रयास में अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है। कभी सफलता मिलती है तो हर्षित होता है, जबकि असफलता उसे खिन्न करती है।

वस्तुत: व्यक्ति के प्रयास करने से कुछ नहीं होता। सबकुछ प्रारब्धवश होता है। सफलता-असफलता ईश्वराधीन है। व्यक्ति केवल कर्म ही कर सकता है, फल तो दैवयोग से ही प्राप्त होता है।

अष्टावक्र के मत से जो फल की चिंता करता है, वह सदैव अतृप्त और इंद्रियों के वशीभूत होता है। अप्राप्य फलों को पाने की तीव्र इच्छा से उसका तन-मन अकुलाता है। अष्टावक्र कहते हैं–'यह आकुलता, अतृप्ति और चिंता व्यर्थ है। जब समय आता है, तब फल अपने आप प्राप्त हो जाता है।

फल प्राप्ति अपने हाथ में है, श्रम करने से फल की सिद्धि तत्काल हो जाएगी–अत: कठोर परिश्रम करता है, कठिनाइयां झेलता है। तदुपरांत फल नहीं मिलता तो क्षुब्धता और विषाद से व्याकुल हो जाता है।

अष्टावक्र का कहना है कि चाहे संकट हो या संपत्ति, जब आनी होती है, तभी आती है। संकट की इच्छा कोई नहीं करता, किंतु उसे रोक पाने में भी कोई समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार संपत्ति की इच्छा सभी करते हैं, उसे पाने के लिए नाना-प्रकार के कष्टप्रद और श्रमसाध्य आयोजन भी करते हैं, किंतु इस पर भी जब उन्हें संपत्ति नहीं मिलती तो वह कुढ़ने के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं। अत: अष्टावक्र का परामर्श है कि कुढ़ो मत, प्रतीक्षा करो। यदि आपके प्रारब्ध में है तो समय आने पर आपको संपत्ति अवश्य उपलब्ध होगी।

राजा जनक से अष्टावक्र कहते हैं–'हे राजन! संपदाओं की इच्छा से कर्म करनेवाला सर्वदा **अतृप्त** और **इंद्रियों का दास** होता है। आपदाएं हों या संपदाएं, इन्हें व्यक्ति समय आने पर दैवयोग से प्राप्त करता है। जिसे असंदिग्ध रूप से यह ज्ञान हो जाए कि आपदा और संपदा समयानुसार **दैवयोग** से उपलब्ध होती है, वह निरंतर तृप्ति का अनुभव करता है और इंद्रियजित हो जाता है। उसे कभी इस बात का दुख नहीं सताएगा कि मुझे यह क्यों नहीं मिला, या वह क्यों नहीं। जो मिला, उसका हर्ष नहीं–जो नहीं मिला, उसका विषाद नहीं। वह इच्छारहित और तृप्त होकर शांत पड़ जाता है। राजन! तेरी भी अब यही स्थिति है, क्योंकि तूने आत्मदर्शन कर लिया है।'

सुखदु:खे जन्ममृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शीनिरायास: कुर्वन्नपि न लिप्यते॥४॥

भावार्थः सुख-दुख, जन्म-मृत्यु दैवयोग से ही संभव है, इसका जिसे निश्चय है, वह साध्य तथा प्रयासविहीन कर्म करता है, किंतु उनमें लिप्त नहीं होता।

विवेचनाः वह व्यक्ति निस्संदेह परम संतुष्ट और शांत होता है, जो फल की आशा के बिना कर्म करता है। जो फल की आशा से साध्य और प्रयास करता है, वह कर्मों में आकंठ लिप्त हो जाता है। उसे अधिक श्रम करते हुए अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं, जबकि यह आवश्यक नहीं कि उसे फल की प्राप्ति हो ही जाए।

अष्टावक्र का मत है कि जो कुछ होता है वह सब दैवयोग से ही संभव है। प्रारब्ध में यदि **दुख** है तो टल नहीं सकता, प्रारब्ध में यदि **सुख** है तो उसे पाने से कोई **रोक** नहीं सकता।

इसी प्रकार कोई समय से पहले मरना चाहे तो यह संभव नहीं, क्योंकि उसके प्रारब्ध में अभी जीना लिखा है। ऐसा ही समय से अधिक जीने की अदम्य इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के साथ भी होता है। यदि उसके प्रारब्ध में मृत्यु है तो मात्र इच्छा से वह दीर्घायु नहीं पा सकता। अतः उचित यही है कि व्यक्ति कर्म तो करे, किंतु फल की आशा से साध्य या प्रयासपूर्वक कर्मों में लिप्त न रहे।

अष्टावक्र प्रारब्ध को प्राथमिकता देते हुए राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! जैसा मैंने तुझे बताया कि सबकुछ असंदिग्ध, दैवयोग पर निर्भर करता है। प्रारब्ध से जो भोग मिलेगा, उसे भोगना व्यक्ति की नियति है। भोग में दुख भी मिल सकता है और सुख भी, इसे जो **दैवीय** इच्छा मानकर बिना आपत्ति के भोगता है, उसे कभी **अतृप्ति** नहीं होगी। समय और दैवयोग से ही व्यक्ति उपलब्धि या अनुपलब्धि को सिद्ध करता है।

अतः राजन! तू इसे सत्य जान कि **समय** और **दैवयोग** फलसिद्धि में अत्यंत प्रबल भूमिका निभाते हैं। जो यह सोचता है कि अधिक श्रम और कठोर प्रयास से मनचाहा फल सिद्ध किया जा सकता है, वह मूढ़ होता है।

राजन! न दुख की इच्छा करनी चाहिए, न सुख की। यहां तक कि जन्म और मृत्यु भी व्यक्ति के हाथ में नहीं है। कोई न निजी इच्छा से इहलोक में आता है और न निज इच्छा से परलोक गमन करता है। आत्मज्ञान के बाद तुझे भी भलीभांति अनुभव हो गया होगा कि सुख-दुख और जन्म-मृत्यु तेरी इच्छा से संभव नहीं, इनका होना या न होना दैवयोग से संभव है। जो व्यक्ति इस तथ्य को निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है, वह निरर्थक उद्योग नहीं करता।

किसी प्रकार के साध्य व प्रयास के पचड़ों में नहीं फंसता। वह साध्य तथा प्रयास से नितांत विहीन कर्म करता है। उसे प्रारब्ध पर विश्वास होता है, अत: वह कर्मों में संलिप्त नहीं होता।

चिंतया जायते दु:खं नान्यथेहेति निश्चयी।
तया हीन:सुखी शांत: सर्वत्र गलितस्पृह:॥५॥

भावार्थ: इहलोक में चिंता से दुख उपजता है, इसका कोई अन्य कारण नहीं। जिसे इसका निश्चय हो जाता है, वह सुखी और शांत होता है। उसकी समस्त कामनाएं गल जाती हैं।

विवेचना: इस सत्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्राणिमात्र को जो **दुख** सताता है, उसकी उत्पत्ति **चिंता** से होती है। इसके अतिरिक्त दुख का कोई अन्य कारण है ही नहीं। जहां चिंता है, वहां दुख है। दुख से अनेक व्याधियों और कष्टों का जन्म होता है। चिंताग्रस्त व्यक्ति कभी निश्चिंत, शांत व स्थिर नहीं होता। उसका प्रत्येक क्षण रुग्णता, अशांति और विह्वलता में व्यतीत होता है।

ऐसी स्थिति में सांसारिक बंधनों में फंसा व्यक्ति चिंता से मुक्त होने की कल्पना भी नहीं कर पाता। वह सोचता है, जीवन है तो जीवन के साथ चिंता भी अनिवार्य है। **चिंता** के बिना **जीवन** कैसा? धन की चिंता, लाभ-हानि की चिंता। ऐसी कौन-सी चिंता है, जो अनिवार्य नहीं? ऐसी कौन-सी चिंता है, जिससे मुक्त हुआ जा सकता है? वह जानता है, चिंता से दुख पैदा होता है। किंतु उसकी दृष्टि में सुख-दुख ही जीवन का दूसरा नाम है।

अष्टावक्र का मत है कि इहलोक में समस्त समस्याओं का मूलबिंदु यही चिंता है। अतएव वह राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! यह जो चतुर्दिक दुख और अशांति है, इसका एकमात्र कारण चिंता है। चिंता से पैदा होनेवाला दुख व्यक्ति का शत्रु है। अर्थात जो चिंताग्रस्त है, वह अपना नाश स्वयं करता है। अत: चिंता से मुक्त होना अपरिहार्य है, तभी व्यक्ति स्वस्थ होगा और उसके विचार भी स्वस्थ होंगे। स्वस्थ व्यक्ति ही अपने चित्त की चंचलता को नियंत्रण में रख सकता है। ऐसा तभी संभव है जब व्यक्ति चिंतामुक्त हो।

अत: राजन! इसे निश्चित जान कि संसार में चिंता से दुख का जन्म होता हे, अन्यथा दुख होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जो निश्चयपूर्वक इस सत्य को स्वीकारता है, वह चिंता से मुक्त होकर अपने सारे दुखों को तिरोहित करता है। राजन! तूने इस सत्य को पहचान लिया है, अत: तू सुखी और शांत है, तेरी समस्त कामनाएं विलुप्त हो गई हैं।'

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥६॥

भावार्थः 'मैं देह नहीं, देह मेरी नहीं, मैं बोध हूं,' जिसे इसका निश्चय होता है, वह कैवल्य को प्राप्त होता है और अकृत-कृत कर्मों को याद नहीं करता।

विवेचनाः जब व्यक्ति अपनी देह को महत्त्व देता है तो यह निश्चित है कि वह सांसारिक बंधनों में बंध जाएगा। देह को सुख पहुंचाने के विविध आयोजन करेगा। विषय-वासनाओं में उसकी हार्दिक रुचि होगी। भोग-विलास में संलिप्ति के कारण उसकी कामनाओं में निरंतर वृद्धि होगी।

ऐसा व्यक्ति कभी भी जीवन की वास्तविकता तथा सत्य से परिचित नहीं हो पाता। वह स्वार्थ के वशीभूत होकर केवल अपने सुख की चिंता करता है। दूसरों का ऐश्वर्य देखकर उसे ईर्ष्या होती है।

आत्मज्ञानी **स्वार्थ** से मुक्त होता है। उसे **ऐश्वर्य** का लोभ नहीं होता, इसलिए ईर्ष्या जैसे विकारों से वह दूर होता है। वह देहधारी अवश्य है, किंतु देह उसके लिए विशिष्ट नहीं, इसीलिए उसे सुख पहुंचाने के आयोजन नहीं करता। देह के भरण-पोषण के लिए वह कर्म करता है, किंतु कर्मों में संलिप्त नहीं होता। वह सुख-दुख को प्रारब्ध मानकर भोगता है।

आत्मज्ञान उसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचा देता है। वह देह की अनुभूति से मुक्त हो जाता है। आत्मा की प्रतीति से केवल बोध, साक्ष्य और चैतन्यस्वरूप हो जाता है।

राजा जनक इसी चरम स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, अतएव अष्टावक्र कहते हैं—'राजन! तुझे भान हो गया है कि तू देह नहीं, यह देह तेरी नहीं, यह देह यहीं रह जाएगी, तू आत्मा का अंश है और निराकार में विलीन होकर सदैव रहेगा।

राजन! सच तो यह है कि देह के प्रति मोह ही व्यक्ति को अविवेकी बनाता है। '**मैं** देह नहीं, **देह** मेरी नहीं,' जिसे इसका निश्चयपूर्वक ज्ञान हो जाता है, वह **मोक्ष** को प्राप्त होता है। इस स्थिति में उसे न तो किए गए कर्मों की स्मृति रहती है और न ही किए गए कर्मों के बारे में वह कुछ सोचता है। आत्मबोध होने के बाद जब उसका 'कर्ता' का भाव ही तिरोहित हो जाता है तो ऐसी स्थिति में कृत-अकृत के बारे में सोचने की आवश्यकता स्वतः ही नष्ट हो जाती है।'

आब्रह्मस्तंबपर्यन्त भहमेवेतिनिश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिः शांतः प्राप्ता प्राप्तविनिर्वृतः॥७॥

भावार्थः ब्रह्म से लेकर **तृण** तक '**मैं ही सर्वव्याप्त हूं**' जिसे इसका निश्चय हो जाता है, वह निर्विकल्प, शुद्ध, शांत और प्राप्य-अप्राप्य से निवृत्त होकर सुखी होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञानी निस्संदेह विराटस्वरूप और विस्तीर्ण हो जाता है, जहां तक उसकी दृष्टि जाती है, उसे चतुर्दिक निराकार आत्मा के विस्तार का बोध होता है, उसी में वह स्वयं को व्याप्त पाता है। संपूर्ण जगत व जगत के जड़-चेतन में वह स्वयं को संबद्ध, आबद्ध और एकाकार पाता है।

यह एकात्म होने की अनुभूति उसे शुद्ध, दोषरहित और निर्द्वंद्व स्वरूप प्रदान करती है। अपने साकार स्वरूप की निरर्थकता और नश्वरता से परिचित होकर वह आत्मा की सार्थकता और शाश्वता से जुड़ जाता है। यह जुड़ना ही मोक्ष है और आवागमन से मुक्ति भी।

इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! आत्म-अज्ञानी सीमित परिधि में विचरण करता है, वह चलता अवश्य है किंतु कहीं पहुंचता नहीं, वह वहीं का वहीं होता है, परिधि की सीमा नहीं लांघ पाता। इसके विपरीत आत्मज्ञानी परिधि की सीमा लांघकर निस्सीम और असीम हो जाता है। वह आत्मा की भांति स्वयं को सर्वत्र विकीर्ण पाता है। उसे निश्चय हो जाता है कि ब्रह्म से लेकर तृण पर्यंत **मैं** ही व्याप्त हूं। आत्मशक्ति से उसे स्वयं का परमात्मा होने का बोध होता है। वह स्वयं का कर्ता, दृष्टा और नियंता बन जाता है। उसे किसी पर आश्रित होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह निराश्रित है और निराश्रय का अर्थ ही है सर्वत्र व्याप्ति।

राजन! आत्मज्ञानी निर्द्वंद्व और निरपेक्ष होता है, क्योंकि वह संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है। यह परम स्थिति उसे शुद्ध व शांत कर देती है। वह प्राप्य-अप्राप्य की भावनाओं से मुक्त हो जाता है। अप्राप्य का उसे दुख नहीं सताता, प्राप्त के प्रति वह तटस्थ हो जाता है। लाभ-हानि की चिंता से रहित उसका चित्त स्थिर हो जाता है। इस प्रकार वह चिरंतन सुखी हो जाता है।'

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रोनकिंचिदिति शाम्यति॥८॥

भावार्थः इस विश्व में नाना-प्रकार के आश्चर्य जैसा कुछ भी नहीं है, जिसे इसका निश्चय हो जाए, वह वासना से मुक्त मात्र स्फूर्ति स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इस बोध से वह शांत हो जाता है।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी विश्व के दृश्य देखकर उनके प्रति मोहग्रस्त होता है। वह चकित होकर सबकुछ भोगना चाहता है। नए-नए अनुभवों से

आनंदित और आश्चर्यचकित होता है। जबकि विश्व के समस्त दृश्य *मिथ्या* हैं। आश्चर्य की अनुभूति आत्म-अज्ञानी के चित्त की भ्रांति होती है। विभिन्न आश्चर्यों और अनुभवों का आस्वादन उसे वासनाओं और कामनाओं के विराट वन में भटकाता है, जहां से वह कभी निकल नहीं पाता, बल्कि निकलने की इच्छा भी नहीं करता।

ऐसा नहीं है कि वह विकारों के वन से नहीं निकल सकता। जिस प्रकार राजा जनक निकल गए, वैसे ही प्रत्येक प्राणी निकल सकता है, किंतु इसके लिए जिस निष्ठा के साथ **स्वयं** में **आत्मा** की प्रतीति आवश्यक है, उस निष्ठा का सामान्यत: लोगों में अभाव है। फलस्वरूप वह विकारों के दलदल से नहीं निकल पाता।

अष्टावक्र की दृष्टि में संपूर्ण विश्व मिथ्या है और विश्व के संपूर्ण दृश्य व जड़-चेतन भी मिथ्या हैं। लोग सुख-दुख की भ्रांत धारणाओं में आजीवन उलझते हैं और दैवयोग पर आश्रित न होकर फल प्राप्ति के कठोर प्रयास करते हैं। जो कुछ अप्राप्य है, उसे देखकर चकित होते हैं और उसे पाने के लिए श्रम करते हैं।

अष्टावक्र आश्चर्य की निरर्थकता का वर्णन राजा जनक से इस प्रकार करते हैं–'राजन! वस्तुत: इस विश्व में **आश्चर्य** जैसा कुछ नहीं। आत्म-अज्ञानी जिन नाना-प्रकार के आश्चर्यों को देखकर मोहित है, वे मिथ्या के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। जिसे इसकी अनुभूति होती है, वह वासनाओं और कामनाओं से मुक्त होता है। उसे प्रतीत होता है कि वह आत्मा का मात्र स्फूर्तस्वरूप है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यह बोध उसके चित्त को शांत और अविचलित करता है।'

❑❑

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिंतासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥१॥

भावार्थः सर्वप्रथम मैंने शारीरिक कृत्यों का त्याग किया, इसके पश्चात वाणी-विस्तार से मुक्त हुआ, तदंतर चिंता से निवृत्त होकर मैं ही सबमें स्थित हूं।

विवेचनाः शारीरिक कृत्यों से व्यक्ति मोहमाया के बंधनों में जकड़ जाता है। वह कुछ पाने की आशा से शारीरिक कृत्य करता है। आशाओं की मात्रा में जैसे-जैसे वृद्धि होती है, उसकी विषय-वासनाओं में आसक्ति भी बढ़ती जाती है। वह तन, मन और वचन से संपदा और सुख के लोभ से कुछ भी करने को आतुर होता है।

आत्म-अज्ञानी के चित्त में भांति-भांति की चिंताएं उठती हैं। लाभ-हानि, भोग-विलास, यश-प्रतिष्ठा और धन-संपदा की चिंता में हर पल घुलता रहता है। जितना मिल जाए, उससे वह संतुष्ट नहीं होता, उसकी तुष्टि कभी नहीं होती, वह आयु के अंतिम पड़ाव पर भी अतृप्त ही रहता है।

इसके विपरीत राजा जनक जब **स्वयं में आत्मा** के चैतन्य स्वरूप का दर्शन करते हैं तो उन्हें आभास होता है कि चित्त की चंचलता ने उन्हें भी कम नहीं भरमाया। वह भी सोचते थे कि देह ही प्रमुख है और देह को सुख पहुंचाना ही उनका एकमात्र कर्त्तव्य है। राज्य, परिवार, पत्नी और संतान का मोह उन्हें सदैव उद्विग्न करता था। किंतु आत्मानुभूति होते ही उनके सामने सत्य प्रकट हो गया कि उनकी साकार देह आत्मा का स्फूर्त स्वरूप है, अतः शारीरिक कृत्यों में संलिप्त होना निरर्थक है।

राजा जनक अपनी परिवर्तित स्थिति के बारे में अष्टावक्र को अवगत कराते हुए बताते हैं-'हे गुरुवर! तन, मन और वचन के कर्म प्रारब्धाधीन हैं, अतः मैं इनसे विलग और असंबद्ध हो चुका हूं। शरीर और वाणी के कृत्य चित्त

से संचालित होते हैं। चित्त की चंचलता ही कृत्यों में लिप्त करती है, अतः अब मैंने चित्त को नियंत्रित कर लिया है। चिंता, वाणी और शारीरिक कृत्य को त्याग कर मैं **व्यष्टि** नहीं **समष्टि** हो गया हूं। अर्थात यह ज्ञान हो गया है कि मैं सबमें स्थित हूं।'

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः॥२॥

भावार्थः शब्दादि के प्रति प्रीति के अभाव से तथा आत्मा के अदृश्य होने से मेरा चित्त विक्षेप व भ्रम त्याग कर एकाग्र है और मैं आत्मस्थित हूं।

विवेचनाः वाणी से निकले शब्द मात्र **इच्छाओं** और **कामनाओं** का उच्चारण करते हैं। शब्द मात्र नाशवान फलों की अभिलाषा की अभिव्यक्ति तक ही सीमित होते हैं। अस्थिर चित्त में पैदा होनेवाली लिप्साएं **शब्दों** के माध्यम से **वाणी** द्वारा प्रकट होती हैं।

आत्मा की अदृश्यता से अज्ञानी को भ्रम होता है कि **आत्मा** नहीं, **व्यक्ति** प्रमुख ही है। इस प्रकार वह अनेक विक्षेपों तथा भ्रमों का शिकार हो जाता है। काम, क्रोध, मोह और माया के विक्षेपों को वह जीवन की अनिवार्यता मानकर उनमें संलिप्त होता है।

आत्मज्ञानी आत्मावत होकर आत्मा की अदृश्यता के रहस्य से परिचित हो जाता है। उसका शब्दादि के प्रति मोह समाप्त हो जाता है और उसकी वाणी किसी प्रकार की याचना नहीं करती, किसी आशा व कामना की अभिव्यक्ति नहीं करती, क्योंकि आत्मज्ञानी का चित्त नियंत्रित होता है।

राजा जनक स्वीकार करते हुए कहते हैं—'हे गुरुवर! मेरे समस्त भ्रम तिरोहित हो चुके हैं। यह मेरी भूल थी कि चित्त की चंचलता के कारण मुझे भ्रम ही सत्य प्रतीत होते थे। शब्दादि के प्रति मेरी प्रीति निःशेष हो गई है, चित्त की चंचलता को नियंत्रित करके मैंने वाणी पर अंकुश लगा दिया। अब मेरी वाणी कुछ मांगती नहीं, प्रारब्ध से जो भोग मिलता है, वही भोगती है।

हे गुरुदेव! शब्दादि के प्रति प्रीत के अभाव से एक ओर मैं भ्रममुक्त हुआ तथा दूसरी ओर आत्मा की अदृश्यता से मुझे बोध हुआ कि विचार का विषय नहीं, बल्कि प्रतीति का विषय है। इस प्रकार मेरे चित्त के समस्त विक्षेपों और भ्रांतियों का नाश हो चुका है। मेरा चित्त भ्रम त्याग कर एकाग्र और एकात्म है। मेरा साकार भ्रम व नाशवान है, मैं निराकार आत्मा का साक्ष्य हूं और आत्मा में ही स्थित हूं।'

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः॥३॥

भावार्थः भ्रांत, अध्यास आदि से ही विक्षेप होना तो समाधि के व्यवहार का नियम है। ऐसा नियम देखकर मैं समाधिशून्य आत्मा में स्थित हूं।

विवेचनाः भ्रांत व मिथ्या अध्यास आदि से जब भी भ्रम तथा विक्षेप उत्पन्न होते हैं तो आत्म-अज्ञानी अंतर्द्वंद्वों का शिकार हो जाता है। उससे मुक्ति पाने के अनेक आयोजन करता है। सोचता है, समाधिस्थ होने से संभवतः द्वंद्वमुक्त हो जाए। एकाग्र होने के लिए सामान्यतः समाधि का आश्रय लेने का प्रावधान है।

जो आत्म-अज्ञानी होते हैं, उन्हें ही विभ्रम की स्थिति में समाधि का आश्रय लेने को विवश होना पड़ता है। वही सामान्यतः अध्यास आदि से पीड़ित और विक्षेपों से उद्विग्न होते हैं।

आत्मज्ञानी मिथ्या, अध्यास से रहित होते हैं। उन्हें किसी प्रकार का विक्षेप या भ्रम उद्विग्न नहीं करता। वे सदैव निर्द्वंद्व और निरंजन होते हैं।

राजा जनक को आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, अतः उन्हें न तो किसी प्रकार **अध्यास** या **भ्रांति** है और न ही किसी प्रकार का **विक्षेप** या **भ्रम**। वह समाधि का आश्रय लेने जैसे नियमों का उपयोग करने की कल्पना भी नहीं करते।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'प्रायः जब किसी को भ्रांत अध्यास होता है तो वह भ्रम और विक्षेप से दिशाहीन हो जाता है। उसे समझ में नहीं आता कि वह कहां जाकर भ्रमों का निवारण करे। अंततोगत्वा वह समाधि का आश्रय लेता है, क्योंकि विक्षेपमुक्ति में समाधि लेने का नियम प्रचलित है।

किंतु हे गुरुदेव! मुझे कोई अध्यास नहीं, इस कारण किसी प्रकार का विक्षेप भी नहीं। मुझे समाधिस्थ होने की आवश्यकता नहीं। आत्मा की प्रतीति ने मुझे समाधिशून्य कर दिया है। समाधि के नियम को व्यवहार में लाने की मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि मैं आत्मस्वरूप में स्थित द्वंद्वमुक्त हूं।'

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः॥४॥

भावार्थः हे गुरुवर! हेय व उपादेय के विरह से होनेवाले हर्ष व विषाद से मुक्त होकर मैं आत्मस्थित हूं।

विवेचनः सच तो यह है कि जन-जन हेय व उपादेय के भ्रम से ग्रस्त है। लाभ-हानि की भावना से उसका चित्त सदैव आशंकित रहता है। किस वस्तु को ग्रहण करे और किसका त्याग करे, इस बारे में वह निर्णय नहीं कर पाता। अच्छा क्या है, बुरा क्या है, इसके अंतर से वह अनभिज्ञ होता है। सत्य और असत्य का भेद कर पाना उसके लिए कठिन है। वह विवेकशून्य होता है और

सुविधानुसार ऐसे निर्णय लेता है, जो उसके स्वार्थ को सिद्ध करते हैं। क्योंकि आत्म-अज्ञान की स्थिति में स्वार्थ सिद्धि सबका एकमात्र लक्ष्य होता है।

अनुपलब्ध अथवा उपलब्ध वस्तु हाथ से निकल जाए तो आत्म-अज्ञानी को कभी विषाद सताता है तो कभी वह हर्षोन्मादित होता है। उसका जीवन मात्र पाने और खोने के सुख-दुख की अनुभूतियों तक ही सीमित होता है।

आत्मज्ञानी सुख-दुख अथवा हर्ष-विषाद की **सीमित** परिधि से निकलकर **व्यापक** हो जाता है। राजा जनक इस स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, अतः वह अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुवर! मैं हेय-उपादेय के द्वंद्व से मुक्त हूं। ग्रहण करने व त्यागने के विरह-वियोग से मैं प्रभावित नहीं होता हूं। यह सब इच्छाएं और कामनाएं करनेवालों की भ्रांतियां हैं। मेरे निकट न कुछ त्याज्य और न कुछ ग्राह्य। भ्रांतग्रस्त को ही **त्याग** से **विषाद** और **ग्राह्य** से **हर्ष** होता है। वह **वियोग** में **व्याकुल** होता है और **मिलन** में **आह्लादित**। मेरे लिए क्या वियोग और क्या मिलन? आत्मानुभूति में विश्व के दृश्य मेरे लिए लुप्त हो चुके हैं, मुझे चतुर्दिक आत्मा का आलोक दृष्टिगोचर हो रहा है। उस आलोक में मुझे विश्व की मिथ्या और नश्वरता का भलीभांति आभास हो गया है। पाने और खोने के हर्ष-विषाद से मुक्त, मैं आत्मस्थित हूं।'

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः॥५॥

भावार्थः आश्रम-अनाश्रम, विविध विचार व ध्यान तथा चित्त की स्वीकृति और वर्जना से उत्पन्न अपने विकल्प को लक्ष्य कर मैं इनसे मुक्त होकर आत्मस्थित हूं।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी कभी भी सत्यान्वेषण नहीं कर पाता। वह विविध विचारों और ध्यानों से प्रभावित होता है, बार-बार अपने विचार बदलता है, भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करता है। उसे कभी चार आश्रमों की वैदिक अवधारणा चमत्कृत करती है तो कभी उसे इनकी व्यर्थता का बोध होता है। वह चित्त के आदेशानुसार कर्म करता है। चित्त की चंचलता से वह सदैव विचलित व व्याकुल होता है। स्वार्थ को देखते हुए ही चित्त उसे कोई काम करने की स्वीकृति देता है तो किसी काम के प्रति निषेध करता है।

आत्मज्ञानी के लिए चित्त के आदेश कोई अर्थ नहीं रखते। वह चित्त की स्वीकृति व वर्जनाओं की अपेक्षा नहीं रखता। वह इन सबसे अलग अपना विकल्प लक्षित करता है।

आत्मज्ञान को प्राप्त कर राजा जनक भी अपना लक्ष्य सिद्ध कर चुके हैं।

वह भिन्न-भिन्न विचारों अथवा ध्यानों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देते, क्योंकि उनकी दृष्टि में एक ही विचार और ध्यान सर्वोपरि है, कि **आत्मा सत्य** है और **सर्वत्र** है, जबकि शेष सबकुछ मिथ्या और सीमाबद्ध है।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुवर! यह सच है कि आश्रम-अनाश्रम की अवधारणाएं प्रचलित हैं, चतुर्दिक कई प्रकार से और ध्यान से जनमानस अनुप्राणित है। जनसामान्य अपने चित्त की स्वीकृति और वर्जना के अनुसार कर्म करता है। मेरा विकल्प इन्हीं से उत्पन्न हुआ है। अपने विकल्प का लक्ष्य करके ही मैं इन सब अवधारणाओं, ध्यानों तथा चित्त की चंचलता से मुक्त हो सका हूं, क्योंकि मैं आत्मस्थित हूं।'

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा।
बुध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः॥६॥

भावार्थः जिस प्रकार कर्मानुष्ठान अज्ञान से होता है, उसी प्रकार कर्मत्याग भी। इस तत्त्व का भलीभांति बोध कर मैं कर्म-अकर्म से मुक्त आत्मस्थित हूं।

विवेचनाः लोग कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, बड़े-बड़े उद्योग में संलिप्त होते हैं, धन-संपदा का अंबार खड़ा करते हैं, विषयासक्त होकर सतत् कामनाओं को मूर्त रूप देने का प्रयास करते हैं। सच तो यह है कि यह सब मिथ्या है, अज्ञान है। इनकी उपलब्धि का हर्ष क्षणभंगुर है और अनुपलब्धि का विषाद भी अल्पजीवी है। किंतु सभी अनश्वरताओं को शाश्वत मानकर कर्मानुष्ठानों के आयोजन करते हैं।

इसी प्रकार वे कर्मत्याग भी अज्ञानतावश ही करते हैं। सोचते हैं, अब बहुत सांसारिक कर्म कर लिए, बहुत भोग-विलास कर लिया, आजीवन सुख-दुख और हर्ष-विषाद के भंवरजाल में डूबते-उतराते रहे, अब इनसे निवृत्त होकर कर्मत्याग ही श्रेयस्कर है, ताकि मन को शांति मिले और परलोक भी संवर जाए। ऐसे लोग घर-बार छोड़कर संन्यासी का बाना धारण करते हैं और वनागमन करते हैं, किंतु वन जाकर और संन्यासी बनकर भी वे शांति का अनुभव नहीं कर पाते। जीवन की अंतिम सांस तक उनका चित्त चंचल व इच्छाएं अधूरी रह जाती हैं।

राजा जनक आत्मानुभूति के बाद इस सत्य से परिचित हो चुके हैं। वह अष्टावक्र से निवेदन करते हैं–'हे गुरुदेव! जनसामान्य के कर्मानुष्ठान भी अज्ञान से ही अनुप्राणित होते हैं और वे उनका त्याग भी अज्ञानतावश ही करते हैं। मुझे न कर्मानुष्ठान करके कर्मों में संलिप्त होने की इच्छा है और न ही उनका त्याग करके मुक्ति की आकांक्षा। मैं अज्ञानता रूपी तत्त्व से भलीभांति

परिचित हो गया हूं, यही कारण है कि अब कर्म-अकर्म के प्रति मेरी कोई रुचि नहीं रही। **कर्म-अकर्म** का जो फल **प्रारब्ध** से प्राप्त होगा, वही मेरा **भोग्य** है। अतः कर्म-अकर्म का लोभ व्यर्थ है। मैं इस लोभ से मुक्त होकर आत्मस्थित हूं।'

अचिन्त्यंचिन्त्यमानोऽपिचिंतारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥७॥

भावार्थः अचिंत्य ब्रह्म का भी चिंतन करनेवाला चिंता में लीन होता है, मैं उस चिंता-लीनता को त्याग कर आत्मस्थित हूं।

विवेचनाः ब्रह्म की चिंता करना निरर्थक है, क्योंकि ब्रह्म अचिंत्य और एकमात्र सत्य है। किंतु अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म की भी उसी प्रकार चिंता करता है, मानो उस पर विपत्ति पड़ सकती है। ब्रह्म का आपत्ति-विपत्ति से कोई संबंध नहीं। ब्रह्म की सत्ता अखंड और अनंत है, ब्रह्म से निसृत जीव-जगत ब्रह्म के ही अंश हैं और उसी में उनका विलय है। तो उसकी चिंता करने का क्या अर्थ?

सच तो यह है कि जो ब्रह्म और आत्मा को भी चिंता का विषय मानता है, वह चिंता में लीन रहता है, मात्र चिंता ही उसकी एकमात्र भावना होती है। चिंता का भजना ही अपना धर्म मानता है। ऐसा अज्ञानी निस्संदेह रुग्ण मानसिकता से पीड़ित होता है, वह स्वस्थ विचारों से कभी संयुक्त नहीं हो पाता।

आत्मज्ञानी सतत् स्वस्थ विचारों के आलोक से आभासित होता है। वह जानता है कि ब्रह्म **चिंता** का नहीं, **प्रतीति** का विषय है। राजा जनक ब्रह्म की प्रतीति कर चुके हैं, अतएव अष्टावक्र से कहते हैं-'हे गुरुवर! ब्रह्म स्वयं में अचिंत्य है, उसकी चिंता मूढ़ लोग करते हैं, ऐसे मूढ़ लोगों की नियति ही चिंता में लीन रहना है। उन्हें कभी लाभ की चिंता सताती है, कभी हानि की। कभी हर्ष की चिंता में व्याकुल होते हैं, कभी विषाद की। यह चिंता की प्रवृत्ति ही उन्हें यह अनुभव कराती है कि ब्रह्म भी चिंता का विषय है। मैं ऐसी चिंतालीनता से मुक्त हूं, क्योंकि मैंने ब्रह्म की प्रतीति कर ली है। इस प्रकार मैं आत्मस्थित हूं।'

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥८॥

भावार्थः इस प्रकार जो आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, वह कृतार्थ है और जो स्वभाव से ही ऐसा है, वह भी कृतार्थ है।

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि प्राणिमात्र को जीवनयापन के लिए

कुछ-न-कुछ प्रयास करने पड़ते हैं। किंतु आत्म-अज्ञानी इन प्रयासों में लिप्त होकर विषय-वासनाओं का दास बनता है। अहंकार और ईर्ष्या जैसे विकारों से उसका चित्त कलुषित होता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी प्रयासों में **लिप्त** नहीं होता। वह **सक्रिय** होता है, किंतु उसकी क्रियाएं विषय-वासनाओं से मुक्त होती हैं। वह स्वयं को क्रियारहित आत्मा का अभिन्न अंग मानता है। कुछ ऐसे होते हैं जो साधनों से क्रियारहित आत्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं और कुछ स्वभाव से ही आत्मस्वरूप की अनुभूति करते हैं।

राजा जनक ने अष्टावक्र से यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है। उन्हें स्वयं के आत्मस्वरूप का बोध हो चुका है। वह कृतकृत्य होकर अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुवर! शुद्धात्मा को आत्मसात करके मैं कृतार्थ हो गया। मुझे भाव-अभाव अथवा प्राप्य-अप्राप्य की चिंता नहीं रही, मैं ब्रह्म की प्रतीति से अचिंत्य और असीम हूं।

हे गुरुवर! आत्मस्वरूप के अनुभव की महिमा अपरंपार है। सच तो यह है कि जो **आत्मस्वरूप** को अनुभूत करने का प्रयास करता है और **आत्मावत** हो जाता है, वह धन्य है, कृतार्थ है। इसके अतिरिक्त जो स्वभाव से ही आत्मस्वरूपी है, वह भी कृतार्थ है। ऐसी उत्कृष्ट आत्मानुभूति के पश्चात किसी अन्य अनुभूति की कामना ही नहीं होती, क्योंकि **आत्मा** कामनारहित होती है।'

❑❑

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपिदुर्लभम्।
त्यागादानेविहायास्मादहमासेयथासुखम्॥१॥

भावार्थः अकिंचन की भावना से मैं स्वस्थ हूं, चित्त की ऐसी स्थिरता कौपीन धारण करने में दुर्लभ है। अतः त्याग और प्राप्ति से रहित मैं सुख को प्राप्त करता हूं।

विवेचनाः वस्तुतः त्याग और प्राप्ति की मिथ्या धारणाओं से व्यक्ति सांसारिक बंधनों से आबद्ध होता है। यदि वह इनसे मुक्त हो जाए और निर्धनता व संपन्नता की अनुभूति त्याग दे तो उसका चित्त चिंतारहित हो जाए। चिंताएं व्यक्ति को अस्वस्थ, रुग्ण और जर्जर बनाती हैं, वह विकारग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत चिंताहीन चित्त व्यक्ति को स्वस्थ, धीरता और सौम्यता प्रदान करता है। उसे कोई विकार स्पर्श तक नहीं कर पाता।

चिंताहीन चित्त और स्वस्थ मनोवृत्ति का व्यक्ति ही आत्मा की प्रतीति कर पाने में सफल होता है। वह कर्महीन और फल की इच्छा से रहित हो जाता है। कर्महीन का यह अर्थ नहीं कि वह कर्त्तव्यों से मुख मोड़कर अकर्मण्य बन जाता है, वह कर्त्तव्यों का निर्वहन अवश्य करता है, किंतु फल की आशा से कर्मों में लिप्त नहीं होता। **फल** के लिए वह **प्रारब्ध** पर निर्भर रहता है।

आत्म-अज्ञानी प्रारब्ध पर निर्भर नहीं होता। वह सोचता है, कठोर श्रम से कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। इस भ्रम से वह अपने आप को ही यातनाएं देता है, उसके दिन का चैन और रात की नींद तक उड़ जाती है, किंतु वह फल की आशा को त्याग नहीं पाता, इसी भाग-दौड़ में उसका जीवन निरर्थक ही व्यतीत हो जाता है और वह कभी भी **स्वयं** की व **जगत** की वास्तविकताओं से परिचित नहीं हो पाता। त्याग और प्राप्ति की भावना से वह अंतिम सांस तक मुक्त नहीं हो पाता।

राजा जनक आत्मावत होकर अकिंचन की भावना को प्राप्त हो चुके हैं। उन्हें न अभाव की चिंता है और न उपलब्धियों की। वह लाभ-हानि के विकार से रहित हैं। यश-अपयश के द्वंद्व उन्हें नहीं सताते। संपन्नता और निर्धनता की चिंता से वह उद्विग्न नहीं होते। उनकी मनोवृत्तियां स्वस्थ हो चुकी हैं, उनका चित्त चिंतामुक्त स्थिर हो गया है। अब उनका कोई शत्रु नहीं, मित्र नहीं, आत्मा की भांति तटस्थ होकर वह जीव-जगत को भी मात्र आत्मांग ही मानते हैं, आत्मा से पृथक नहीं।

राजा जनक को अद्वैत और एकात्म होने के पश्चात कुछ अन्य होने की प्रतीति ही नहीं होती। उन्हें विश्वास है कि ऐसा चमत्कार तो कौपीन धारण करने से भी संभव नहीं था। वास्तव में सच्चा सुख **दुर्लभ** है, किंतु **अलभ्य** नहीं। आत्मा के साक्षात्कार से यह दुर्लभ सुख भी उनकी दृष्टि में सुलभ हो गया था।

राजा जनक अष्टावक्र से अपनी परिवर्तित स्थिति के बारे में बताते हैं—'हे गुरुवर! अकिंचन की भावना के कारण धनी और निर्धन का भेद मेरे लिए निरर्थक हो गया है। संपन्नता और विपन्नता के चक्रव्यूह में व्यक्ति तभी फंसता है, जब वह द्वैत से ग्रस्त होता है। मेरे लिए चतुर्दिक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार मैं स्वस्थ हूं और चित्त स्थिर है। यह ऐसा चमत्कार है, जिसे मैं कौपीन धारण करके भी प्राप्त नहीं कर सकता था। जो कौपीन धारण कर शांति की खोज में भटकते हैं, वे आजीवन दुख और यातनाएं झेलने को बाध्य होते हैं। उन्हें कभी शांति के दर्शन नहीं हो पाते। किंतु मैं शांति और सुख के रहस्य से अवगत हो गया हूं।

मैंने **त्याग** और **ग्रहण** की इच्छा का परित्याग कर दिया है, अतः मैं शांतचित्त व सुखी हूं।'

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनःकुत्रापि तत्त्यक्त्वापुरुषार्थेस्थितः सुखम्॥२॥

भावार्थः कहीं काया को कष्ट होता है, कहीं वाणी को तो कहीं मन को। मैं इन तीनों को त्याग कर पुरुषार्थ में सुख से स्थित हूं।

विवेचनाः सांसारिक बंधनों के पाश से आबद्ध प्राणिमात्र फलों की आशा से व्याकुल और क्लांत है। उपलब्धियों की आकांक्षा से वह कठोर-से-कठोर श्रम करने को बाध्य होता है। मन में उठनेवाली नई-नई कामनाएं उसे निरंतर विह्वल करती रहती हैं। वह वाणी का भी सतत् उपयोग करता है। निरंतर बोलना या अपशब्दों को उच्चारित करना वाणी को दुखी करना है।

सच तो यह है कि व्यक्ति ही स्वयं का शत्रु है। उसकी काया, वाणी तथा

मन को कोई **अन्य** कष्ट नहीं पहुंचाता है, वह **स्वयं** ही इनको दुखी करता है। तन, मन वचन की यह रुग्णावस्था व्यक्ति को विक्षिप्त कर देती है।

इस स्थिति से उबरने के लिए वह जो उपाय करता है, उससे तन, मन और वचन को अधिक कष्ट पहुंचाता है। वह शांति पाने के लिए कठोर तप-साधनाएं करता है और तन को व्यथित करता है। उच्च स्वर में स्तुति करके या अखंड पाठ से उसकी वाणी क्लांत होती है। वह मन के विचारों को बलात् नियंत्रित करने के प्रयास में मन को ही उलझा देता है।

कायिक, वाचिक और मानसिक अंतर्द्वंद्व का मूल कारण **विषयासक्ति** ही है, इसका ज्ञान राजा जनक को हो चुका है। वह अष्टावक्र से कहते हैं–'जो आत्मसत्य से अनभिज्ञ है, वही कायिक, वाचिक और मानसिक पीड़ा से उद्वेलित है। मुझ शुद्धात्मा को न काया का कष्ट है, न वाणी का और न ही मन का। इनका कष्ट कामनाओं और वासनाओं से उद्‌भूत होता है। मैं कामनारहित हूं, आत्मांश हूं। अतः मैं तीनों कष्टों को त्याग चुका हूं और अब सुखपूर्वक आत्मस्वरूप में स्थित हूं।'

कृतं किमपि नैव स्यादितिसंचिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायातितत्कृत्वासेयथासुखम्॥३॥

भावार्थः कर्म का संबंध वस्तुतः आत्मा से नहीं होता, इस तत्त्व को जानकर जो कर्म करना पड़े, उसे क़रके मैं सुख को प्राप्त हूं।

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि जो यह सोचता है कि जीवन कर्मप्रधान है, वह भ्रम का शिकार होता है। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि इस भ्रम से कोई मुक्त नहीं होना चाहता। सबका विचार है कि जीवन कर्मप्रधान है और कर्मों में वे आकंठ लिप्त हो जाते हैं।

वस्तुतः व्यक्ति के लिए उतने ही कर्म आवश्यक हैं, जिनसे जीवन निर्वाह निर्विघ्न और सुचारू रूप से हो सके। किंतु विषय-वासना की लिप्साओं से व्यक्ति इतना उतावला होता है कि स्वयं को कर्मों की आंधी में झोंक देता है। विश्व की समस्त खुशियों और आनंद का उपभोग करने के लिए जीवनरूपी मृगतृष्णा में भटकता फिरता है।

राजा जनक की सारी **भटकन** समाप्त हो चुकी है। वह **खुशियों** और **आनंद** की व्यर्थता से परिचित हो चुके हैं। जब विषय-वासना ही नहीं रही तो कर्म की लालसा भी नहीं। आत्मस्वरूप होने की स्थिति में कर्म के प्रति रुचि स्वतः ही समाप्त हो गई थी। अब तो उतना ही कर्म करना आवश्यक था, जो सामने पड़ जाए, कर्म से निरंतर संलिप्तता से उन्हें मुक्ति मिल चुकी थी।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुवर! व्यक्ति जो कर्म करता है, वे इंद्रिय कर्म होते हैं, शरीर द्वारा संपन्न किए जाते हैं, **व्यक्ति** के किए कर्मों को **आत्मा** के कर्म मानना भूल है। **कर्मों** का **आत्मा** से कोई संबंध नहीं होता।

हे गुरुवर! मैं इस तत्त्व से अवगत हो गया हूं कि शरीर द्वारा किए गए कर्मों को आत्मा द्वारा किया गया नहीं समझना चाहिए। यह ज्ञान पाकर मैं वही कर्म करता हूं, जो मेरे सामने आ जाता है। इससे मेरी कर्म से संलिप्त रहने की इच्छा तिरोहित हो गई है, मैं सुख में स्थित हूं।'

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्॥४॥

भावार्थः कर्म और निष्कर्म के बंधन से तो देहाभिमानी योगी आबद्ध हैं। मैं देह के संयोग-वियोग से निवृत्त होकर सुख को प्राप्त हूं।

विवेचनाः जहां देहाभिमान है, वहां शारीरिक बंधन अनिवार्य रूप से होंगे। देहाभिमानी को अपनी देह पर गर्व होता है। वह देह को सुख पहुंचाने के लिए सतत् आयोजन करता रहता है। कर्मों में लिप्त रहता है।

योगी भी कर्म-निष्कर्म के बंधन से आबद्ध हैं, क्योंकि वे भी देह को महत्त्व देते हैं, उन्हें भी देहाभिमान होता है। उनका कर्म होता है योग, तप व साधनाएं करना। इस कर्म के अतिरिक्त वे निष्कर्म पर विश्वास रखते हैं, अर्थात निष्क्रिय रहते हैं। जबकि अष्टावक्र की दृष्टि में निष्क्रियता निष्कर्म नहीं है, वह कर्म में अलिप्तता को निष्कर्म मानते हैं।

इसी कारण राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'मेरा देहाभिमान तिरोहित हो चुका है, इसलिए मुझे देह को सुख पहुंचाने में रुचि नहीं रही। **देह** मेरा **साकार स्वरूप** है और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की **पूर्ति** करना मेरा कर्त्तव्य। यह साकार स्वरूप आत्मा का चैतन्य स्वरूप है। मैं आत्मावत हूं, अतः कर्म और अकर्म के बंधन से स्वतंत्र हूं।

हे गुरुवर! कर्म-निष्कर्म का द्वंद्व तो योगी को सताता है, क्योंकि वह देह को प्रमुखता देता है और देहाभिमान से दग्ध होता है। अब मेरे लिए देह का महत्त्व नहीं रहा, मैं निराकार के शाश्वत सत्य से परिचित हो चुका हूं। मुझ आत्मस्वरूप को अब देह की प्रतीति नहीं होती। देह-विदेह का अंतर्द्वंद्व समाप्त हो चुका है। मैं देह के होने या न होने की भावना से स्वतंत्र हूं। **देह** का कोई **मोह** नहीं रहा, इसलिए **भोग** की **लिप्सा** भी नहीं रही।

हे गुरुवर! मैं देह के संयोग-वियोग से निवृत्त हो गया हूं, अतः सुख को प्राप्त हूं।

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा।
तिष्ठन्गच्छन्स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम्॥५॥

भावार्थः मुझे रुकने, चलने या सोने में किसी प्रकार की लाभ-हानि नहीं होती, अतः रुकते हुए, चलते हुए और सोते हुए मैं सुख को प्राप्त हूं।

विवेचनाः आत्मा की प्रतीति होने के पश्चात यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति निष्क्रिय या अकर्मण्य बन जाए। बस वह कर्मों में लिप्त न हो। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि एक स्थान पर रुक जाए, या चलता रहे अथवा सोता रहे।

इस सूत्र में अष्टावक्र यह सिद्ध करना चाहते हैं कि आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, सबमें समाहित है। वह रुकती, चलती अथवा सोती नहीं। व्यक्ति का शरीर रुकता, चलता और सोता है। इंद्रियों से शरीर की स्वाभाविक क्रियाएं संचालित होती हैं। आत्मज्ञानी इंद्रियजित होता है, उसके चित्त में कामनाओं का ज्वार नहीं उठता।

आत्म-अज्ञानी का चित्त कामनाओं के ज्वार-भाटे से सतत् विचलित होता है। आत्म-अज्ञानी को रुकने में लाभ-हानि की चिंता सताती है, चलता है तो लाभ-हानि की सोचता है, उसे सोते समय भी लाभ-हानि के सपने दिखते हैं।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी आत्मनिष्ठ हो जाता है। राजा जनक भी आत्मनिष्ठा को अनुभूत कर चुके हैं, अतः राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'जब मेरी कामनाएं तिरोहित हो चुकी हैं तो लाभ-हानि से मेरा क्या संबंध? लाभ-हानि उसे सताती है, जो सांसारिक बंधनों से आबद्ध होता है। उसके प्रत्येक कर्म के केंद्र में लाभ-हानि का भाव होता है। लाभ-हानि की चिंता से उसका सारा शरीर दुर्बल पड़ जाता है। मैं इस दुर्बलता से उबर चुका हूं, क्योंकि **आत्मशक्ति** ने मुझे **सबल** और **सार्थक** बना दिया है।

हे गुरुवर! मेरा रुकना, चलना या सोना किसी लाभ-हानि की प्रेरणा से नहीं होता। मैं उसी प्रकार निर्द्वंद्वता से रुकता, चलता और सोता हूं, जिस प्रकार आत्मा निर्द्वंद्व है। यही कारण है, मैं रुकते, चलते और सोते हुए सुख को प्राप्त हूं।'

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतोनवा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासेयथासुखम्॥६॥

भावार्थः न मुझे सोते हुए हानि है और न यत्न करते हुए सिद्धि। अतः लाभ-हानि त्याग कर मैं सुख को प्राप्त हूं।

विवेचनाः राजा जनक आत्मा के परम पद पर आसीन होने के पश्चात

देह-धर्म के व्यामोह से मुक्त हो गए हैं। उनका लक्ष्य लाभ-हानि अथवा सुख-दुख तक ही सीमित नहीं रह गया है। उनकी **दृष्टि विस्तृत** और **सोच निस्सीम** हो गया है।

अब राजा जनक शरीर की कामनाओं से दग्ध नहीं हैं। सोने में हानि की कल्पना उन्हें सताती है, जो शरीर की कामनाओं से व्याकुल होते हैं। उनका प्रत्येक कर्म शरीर की कामनाओं की पूर्ति के लिए होता है। वे रात को सोते नहीं, हानि के भय से उनकी नींद उड़ जाती है। कामना सिद्धि के लिए रातों को जागकर अपने यत्न में लगे रहते हैं। यत्नों की सिद्धि उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई विचार उन्हें उद्वेलित नहीं करता।

राजा जनक का यह उद्वेलन समाप्त हो चुका है। वह लाभ-हानि के विचारों से स्वतंत्र हो गए हैं। किसी प्रकार की कामना की सिद्धि से उनका चित्त चंचल नहीं, अतः वह यत्न आदि से भी स्वतंत्र हो गए हैं।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुवर! कल तक मेरी चिंताएं मुझे सोने नहीं देती थीं, सारी रात जागकर मैं लाभ-हानि के विचारों से व्यथित होता था। यद्यपि रातों की नींद **नष्ट** करके भी मुझे कुछ **सिद्ध** नहीं होता था, इस पर भी मैं सोने का प्रयास नहीं करता था, बल्कि प्रयास करने पर भी मैं सो नहीं पाता था। किंतु मैंने विराट सत्य के दर्शन कर लिए हैं। सोना नैसर्गिक प्रक्रिया है, अतः देह की अनिवार्यता है। अब सोते हुए मुझे हानि की प्रतीति नहीं होती। इतना ही नहीं, चूंकि मुझे देह की अनावश्यक कामनाएं नहीं सताती, अतः मैं यत्नों में भी लिप्त नहीं, क्योंकि मुझे कुछ सिद्ध नहीं करना है। हे गुरुवर! मैं लाभ-हानि के विकारों को त्याग कर सुखों को प्राप्त हूं।'

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥७॥

भावार्थः अनेक जन्मों से बारंबार सुखादि रूपों की अनियमितता देखकर तथा शुभ-अशुभ को त्याग कर मैं सुखों को प्राप्त हूं।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी अनेक जन्म लेकर धरती पर अवतरित होता है, प्रत्येक जन्म में सुख-दुख के विविध स्वरूप देखता है। सुख-दुख की ये अवधारणाएं कल्पित और भ्रम होती हैं, किंतु हर्ष और विषाद के भंवरजाल से वह कभी मुक्त होने की सोचता भी नहीं।

आत्मज्ञानी सुख-दुख और हर्ष-विषाद के भंवरजाल से उबर जाता है। वह इस तथ्य से भलीभांति अवगत होता है कि सुख-दुख और हर्ष-विषाद

अनियमित हैं, इनकी अनुभूति न केवल **भ्रम** है, बल्कि **नश्वर** भी। जो नाशवान और अनियमित है, उससे भला प्रीति कैसी! **प्रीति** तो ऐसे भाव से होनी चाहिए, जो **शाश्वत** व **नित्य** हो।

राजा जनक को आत्मप्रीति हो गई है, अतः उनको किसी भी भ्रामक सुख या हर्ष के प्रति रुचि नहीं रह गई।

राजा जनक अष्टावक्र को अपने विगत जन्मों अनुभव का विवरण देते हुए बताते हैं–'हे गुरुवर! आत्मानुभूति के फलस्वरूप मुझे गत जन्मों की स्मृति हो आई है। आश्चर्य है कि मैं कैसे सुख–दुख की भ्रांत–धारणाओं का शिकार होकर अनेक जन्मों को व्यर्थ गंवाता हुआ यातनाएं झेलता रहा हूं। आज स्पष्ट समझ में आ रहा है कि सुख–दुख क्या है? अनेक जन्मों से सुख–दुख और हर्ष–विषाद विभिन्न स्वरूपों के देखने के बाद अब इस सत्य का भान हो गया है कि ये समस्त स्वरूप अनित्य, अनियमित और नाशवान हैं।

अतः हे गुरुवर! शुभता–अशुभता का मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रहा। शुभ–अशुभ की भावनाओं को त्याग कर मैं **सुख** को प्राप्त हूं।'

❑❑

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हिसः।।१।।

भावार्थः जो स्वभाव से शून्य चित्त होता है, किंतु प्रमादवश संकल्प-विकल्प करता है और सोते हुए भी जाग्रत है, ऐसा व्यक्ति संसार-रहित है।

विवेचनाः अष्टावक्र ने बार-बार इस तथ्य को रेखांकित किया है कि चित्त को नियंत्रित करना नितांत आवश्यक है। वस्तुतः **चित्त** की प्रकृति ही **व्यक्ति** की प्रकृति को निर्धारित करती है। यदि चित्त चंचल है तो व्यक्ति भी सतत् चंचल रहेगा। कामनाएं चित्त को चंचल करती हैं। व्यक्ति की दृष्टि विश्व के लुभावने दृश्यों पर पड़ती है तो चित्त उन पर मुग्ध हो जाता है। उन्हें पाने की इच्छा से उसकी विह्वलता बढ़ती जाती है। एक कामना पूरी होती है तो चित्त पर दूसरी कामना हावी हो जाती है।

कामनाओं का यह सिलसिला अनवरत चलता ही रहता है। विषयासक्त व्यक्ति का चित्त एक पल के लिए भी विश्राम नहीं करता। व्यक्ति अपने ही चित्त का दास बनकर आजीवन कामनाओं के वन में भटकता रहता है। उसे कभी सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, भ्रांतियों और भ्रमों को ही वह सत्य का पर्याय मान बैठता है।

राजा जनक को सत्य का साक्षात्कार हो चुका है, अतः उनकी समस्त भ्रांतियां और भ्रम तिरोहित हो गए हैं। आत्मज्ञान से उन्हें बोध हो गया है कि सारे व्यामोह की जड़ चित्त है। अतः चित्त पर अंकुश लगाना अत्यंत आवश्यक है। स्वभाव से जिसका चित्त शून्य हो जाता है, उसके लिए संसार के लुभावने दृश्य अर्थहीन हो जाते हैं।

राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुवर! आत्मज्ञानी का चित्त

स्वभाव से शून्य हो जाता है। हां, प्रारब्ध उससे प्रमादवश संकल्प-विकल्प अवश्य करवाता है, यह सामान्य जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक भी है। वह निष्क्रिय कैसे रह सकता है? आत्मा का चैतन्य स्वरूप होने के नाते उसकी चेतनाएं सतत् तरंगित होती हैं। वह निद्रावस्था में चेतनाशील होता है, सोते समय भी उसकी स्वाभाविक क्रियाएं गतिशील होती हैं।

हे गुरुवर! ऐसा आत्मज्ञानी कामनाओं से उद्विग्न नहीं होता, क्योंकि वह संसार-रहित हो जाता है।

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्वच विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥२॥

भावार्थः (आत्मस्वरूप की अनुभूति के बाद) जब मेरी इच्छा गल गई है, तब मेरे लिए धनादि कहां, मित्र कहां, विषयरूपी दस्यु कहां, शास्त्र कहां और विज्ञान कहां?

विवेचनाः आत्मस्वरूप की अनुभूति के पश्चात राजा जनक शुद्ध और दोषरहित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में संसार के समस्त लुभावने दृश्य अर्थहीन हो गए हैं। उन्हें संसार आत्मावत दृष्टिगोचर होता है। वे स्वयं को भी उसी आत्मा में समाहित पाते हैं। यह स्थिति उन्हें **संकुचित** परिधि से निकालकर **असीम** में निक्षेपित कर देती है।

कल तक वह इच्छाओं की भीड़ में अपने ही अस्तित्व से विस्मृत थे। एक इच्छा पूरी होती तो दूसरी इच्छा सिर उठाकर उन्हें विदग्ध करती। मस्तिष्क सदैव धन की चिंता से बोझिल होता, वह निरंतर धन के गुणा-भाग में ही व्यस्त रहते। जब देखो, तब मित्रों व शत्रुओं से घिरे रहते। मित्रों को कैसे प्रसन्न रखें और शत्रुओं को कैसे दंडित करें, यह अंतर्द्वंद्व उन्हें कभी चैन से बैठने नहीं देता। विषय-वासनाओं का सान्निध्य उन्हें रुचिकर प्रतीत होता, वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि विषय-वासनाएं भयंकर डाकू और लुटेरे हैं, जो उनका स्वास्थ्य और सुख-शांति लूट रहे हैं। ज्ञान की चाह में शास्त्रों का अध्ययन करते, किंतु शास्त्रों का ज्ञान भी उन्हें संतुष्ट और ज्ञान-संपन्न नहीं कर पाता।

हां, आत्मज्ञान के पश्चात वह निस्संदेह ज्ञान-संपन्न और संतुष्ट हो गए थे।

इस विषय में राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुवर! मेरा चित्त इच्छाओं से शून्य हो गया है, मेरी इच्छाएं गल गई हैं। जब **इच्छाएं** ही नहीं रही तो फिर संसार के **प्रलोभनों** से मेरा क्या संबंध? निरपेक्षता के इस बोध के बाद

मुझे धन-संपन्नता का मोह नहीं, मेरे लिए मेरे मित्र अर्थहीन हो गए हैं। विषय-वासनाओं के दस्युओं को मैंने परास्त कर दिया है।

हे गुरुवर! न अब मेरी शास्त्रों में रुचि रही और न ज्ञान-विज्ञान के प्रति आस्था। शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञान की मुझे क्या आवश्यकता? इनसे तो भ्रम और बढ़ते हैं। आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान का महत्त्व ही कहां?'

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंतामुक्तये मम॥३॥

भावार्थः साक्षी पुरुष, परमात्मा तथा ईश्वर को जानने के बाद, मैं आशा विहीन और बंधनों से मुक्त हूं, अतः मुझे मोक्ष की चिंता नहीं।

विवेचनाः साकार पुरुष क्या है? वह है आत्मा का साक्ष्य स्वरूप। पुरुष का शरीर, इंद्रियां व चित्त उसके स्वभाव से ही क्रियाशील होती हैं। आत्मज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता और प्रारब्ध से प्राप्त भोग पर निर्भर रहता है।

इसके विपरीत आत्म-अज्ञानी एकमात्र स्वयं की सत्ता पर विश्वास रखता है, इंद्रियों व चित्त को महत्त्व देता है और उन्हीं की तुष्टि के लिए सारे कर्म करता है। निरंतर भोग व उपलब्धियों की आशा से वह कभी मुक्त नहीं हो पाता। आशाएं उसे सांसारिक बंधनों में जकड़ देती हैं।

आत्मस्वरूपी राजा जनक अपनी वास्तविकता से परिचित हो गए हैं। उन्हें आभास है कि उनकी **शारीरिक सत्ता** और कुछ नहीं, केवल **आत्मा** का **चैतन्य** व **साक्ष्य** स्वरूप है। पुरुष केवल आत्मा का साक्षी है, इसका बोध होते ही वह आशाविहीन हो जाता है, किसी के प्रति कोई आशा नहीं, यहां तक कि मोक्ष की भी आशा नहीं रह जाती।

राजा जनक स्वयं की आत्मस्थिति का वर्णन अष्टावक्र से यों करते हैं-'हे गुरुवर! आत्म-अज्ञानी ही पुरुष, परमात्मा व ईश्वर में भेद करता है। उसे सबकी सत्ता पृथक प्रतीत होती है, क्योंकि वह द्वैत का शिकार होता है। आत्मज्ञान के पश्चात मुझे विदित हो गया है कि पुरुष आत्मा का साक्षी है, वह स्वयं का परमात्मा और ईश्वर है। वह काल्पनिक ईश्वर पर निर्भर नहीं। जिसे इसका ज्ञान हो जाए, उसके लिए आशाओं का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।

हे गुरुवर! मैं भी आशाविहीन हूं। बंधनों से मुक्त होने के बाद अब मुझे मोक्ष की चिंता नहीं रही।'

अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिःस्वच्छंदचारिणः।
भ्रांतस्येवदशास्तास्तास्तादृशा एव जानते॥४॥

भावार्थः आंतरिक संकल्प-विकल्प से शून्य तथा बाह्य जगत में भ्रांत व्यक्ति की भांति स्वच्छंद विचरण करनेवाले की ऐसी दशाओं को समान दशा वाले समझ सकते हैं।

विवेचनाः अंतःकरण के संकल्प-विकल्प ही व्यक्ति को विक्षिप्त करते हैं। संकल्प-विकल्प की तेज आंधी में वह सतत् गिरता-उठता है और इसी में जीवन की सार्थकता मानता है।

इसके विपरीत जो अंतःकरण के संकल्पों-विकल्पों से रहित हो जाता है, उसकी मानसिकता द्वंद्वविहीन और शांत पड़ जाती है। वह स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करता है। यहां स्वछंदता का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति उत्तरदायित्वों से विमुख होकर स्वेच्छाचारी हो जाए।

वस्तुतः आत्मज्ञानी का अंतःकरण जब संकल्पों-विकल्पों से रहित हो जाता है तो उसका अपने शरीर, इंद्रियों व चित्त पर नियंत्रण हो जाता है। वह इन्हें संतुष्ट करने के प्रयासों में लिप्त नहीं होता। उसे इच्छाएं विचलित नहीं करती। वह अपनी इच्छाओं का स्वामी स्वयं होता है। उसे कोई अपने आदेशों से नहीं चला सकता। वह स्वच्छंद विचरण करता हुआ आत्मलीन होता है। लोग उसे देखकर सोचते हैं, वह कोई भ्रांत, विक्षिप्त या उन्मादी व्यक्ति है, क्योंकि आत्मज्ञानी के आचार-विचार सामान्यजन से नितांत पृथक होते हैं। उसकी दशा को वही समझ सकता है, जिसकी स्वयं ऐसी दशा होती है।

आत्मबोध से राजा जनक भी ऐसी दशा को प्राप्त हो चुके हैं। वे अष्टावक्र से कहते हैं—'मैं अंतःकरण के संकल्पों-विकल्पों से मुक्ति पा चुका हूं, मेरे चित्त में **शून्यता** व्याप्त है। संकल्पों-विकल्पों से रहित व्यक्ति बाह्य जगत में भ्रांत व्यक्ति की तरह स्वच्छंदतापूर्वक आचरण और विचरण करता है, यद्यपि वह भ्रांत नहीं होता। वह आत्मलीन और स्वयं में ही निहित होता है, प्रारब्ध उससे जो करवाता है, करता है। वह अपनी ओर से कुछ नहीं करता, क्योंकि संकल्पों-विकल्पों का त्याग कर चुका है। ऐसा व्यक्ति विभिन्न दशाओं को सामान्य जन्म में नहीं समझ पाता। हां, जो स्वयं इस दशा को प्राप्त है, वह उसकी दशा को तत्क्षण समझ जाता है।'

❑❑

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥१॥

भावार्थः सत्त्व बुद्धिमान थोड़े-बहुत उपदेश से ही कृतार्थ होता है, इसके विपरीत असत्त्व बुद्धि वाला आजीवन जिज्ञासु होते हुए भी मोहग्रस्त होता है।

विवेचनः गुरु कितना ही विद्वान व गुणी क्यों न हो, यदि शिष्य में ज्ञानप्राप्ति के प्रति रुचि नहीं है तो गुरु के उपदेशों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

वस्तुतः यह शिष्य की योग्यता पर निर्भर करता है कि वह गुरु के उपदेश सुनकर ज्ञान प्राप्त कर पाता है अथवा नहीं। शिष्य का जिज्ञासु होना ही पर्याप्त नहीं है, उपदेशों को हृदयंगम करना, उन्हें समझना और उनका क्रियान्वयन भी आवश्यक है। जो सद्‌बुद्धि शिष्य होते हैं, उन्हें अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और आस्था होती है। वे गुरु के ज्ञान से लाभान्वित होते हैं। किंतु बुद्धिहीन शिष्य कभी भी गुरु से ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता है।

राजा जनक ज्ञानार्जन की इच्छा से स्वयं अष्टावक्र के पास आए थे। वह सचमुच सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। अतः वह अष्टावक्र के उपदेश ध्यानपूर्वक सुनते हैं। इसी कारण उन्हें ज्ञान भी शीघ्र प्राप्त होता है।

अष्टावक्र यहां राजा जनक को शिष्य के गुण-दोषों का भेद बताते हुए कहते हैं-'राजन! जो शिष्य **सद्‌बुद्धि** होता है, उसे विस्तार से समझाने की आवश्यकता नहीं होती। वह उपदेशों को श्रवण करता है और उन पर चिंतन-मनन करके ज्ञान को प्राप्त होता है। तू ऐसे शिष्यों में से एक है। तुझमें ज्ञान-प्राप्ति की असीम इच्छा है। तू ज्ञान की चाहत में मेरे पास आया और मेरे उपदेशों से कृतार्थ हुआ।

राजन! कुछ शिष्य ऐसे होते हैं, जिनमें जिज्ञासा तो बहुत होती है, किंतु उपदेश समझने की क्षमता नहीं होती। ऐसे शिष्य **बुद्धिविहीन** होते हैं और आजीवन जिज्ञासु होते हुए मोहग्रस्त रहते हैं। ऐसे लोग सदैव ज्ञान से वंचित होते हैं।'

मोक्षो विषयवैरस्यं बंधो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥२॥

भावार्थ: विषय वैराग्य ही मोक्ष है और विषय रस ही बंधन है। मात्र यही ज्ञान है, अत: जैसी इच्छा हो, वही करो।

विवेचना: अष्टावक्र मोक्ष व बंधन की विस्तृत व्याख्या नहीं करते। वह दो टूक भाषा में ही बता देते हैं, मोक्ष क्या है और बंधन क्या है? उनकी दृष्टि में विषयों से अनासक्ति से मुक्ति मिलती है, जबकि विषयों से आसक्त व्यक्ति को सांसारिक बंधन जकड़ देता है।

जिसे आत्मज्ञान होता है, वह विषय-वासनाओं से मुक्त होकर स्वच्छंद हो जाता है। इंद्रियां और चित्त की वृत्तियां उसे उद्वेलित और उत्पीड़ित नहीं करती। वह ब्रह्ममय होकर ब्रह्मांड के ओर-छोर तक व्याप्त हो जाता है। लाभ-हानि, पाप-पुण्य और हर्ष-विषाद की मिथ्या धारणाओं से उसका कोई संपर्क नहीं रह जाता है। यही उसका मोक्ष है। अर्थात मोक्ष की इच्छा किए बिना ही वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

इसके विपरीत आत्म-अज्ञानी को विषय-वासनाओं में ही आनंदानुभूति होती है। वह लाभ-हानि, पाप-पुण्य और हर्ष-विषाद की मिथ्या धारणाओं में उलझा रहता है। वह सांसारिक बंधनों को बंधन नहीं मानता, उन्हें जीवन जीने की अनिवार्यता मानता है।

अष्टावक्र राजा जनक को मोक्ष और बंधन का भेद समझाते हुए कहते हैं–'अनगिनत शास्त्रों का अध्ययन करने से ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। ज्ञान को विस्तार से जानने की आवश्यकता नहीं। बस, **मोक्ष** और **बंधन** का अंतर व्यक्ति समझ ले तो वह **ज्ञानवान** हो जाता है। इस ज्ञान के पश्चात किसी अन्य ज्ञान को पाने की अभिलाषा नहीं रह जाती।

राजन! लोग वैराग्य के लिए पहाड़ों और वनों की ओर गमन करते हैं। यह वैराग्य नहीं है, बल्कि उत्तरदायित्वों से विमुख होना है। वास्तविक वैराग्य है विषयों से विरक्ति। यह विषय वैराग्य ही आत्मज्ञानी का मोक्ष है। इसके विपरीत जिसे विषय रस में ही आनंद का भ्रम होता है, वह बंधनों से आबद्ध होता है। अत: विषय रस को तू बंधन मान।

राजन! बस, यही ज्ञान है, जिसे तूने प्राप्त कर लिया। अब तेरी इच्छा कि तू कैसा आचरण करना चाहता है। चाहे तो विषयों का त्याग कर **मोक्ष** को प्राप्त हो, चाहे तो विषय रस में डूबकर सांसारिक **बंधनों** में जकड़ा रह।'

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥३॥

भावार्थः इस प्रकार का तत्त्वबोध, वाक्पटु, वाचाल तथा उद्योगी जन को मूक, जड़ और आलसी बनाता है। यही कारण है कि जिनको भोग की लिप्सा है, उनके लिए यह परित्यक्त है।

विवेचनाः आत्मज्ञान से व्यक्ति पर चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है। मुक्ति और मोक्ष का यही एकमात्र मार्ग है। किंतु इस मार्ग पर वही चल सकता है, जो निष्ठापूर्वक आत्मा की प्रतीति करे, स्वयं के परमात्मा होने के प्रति आस्थावान हो। विषय-वासनाओं की पुनः प्रत्याशा न करे।

जो व्यक्ति पुनः भोग-विलास में लिप्त होता है, वह आत्मज्ञान की अवमानना करता है। उसका चित्त पुनः विषय रस का स्वाद लेने के लिए मचल पड़ता है। सच तो यह है कि जो भोग-लिप्सु हैं, वे आत्मज्ञान का त्याग करते हैं।

आत्मज्ञान तो बड़े-बड़े महारथियों को भी विस्मय में डाल देता है। अपने ज्ञान पर इतराने वाले अहंकारी भी आत्मज्ञान के साक्षात्कार से जड़ हो जाते हैं।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! आत्मज्ञान का तत्त्वबोध अत्यंत प्रभावशाली है। इस तत्त्वबोध के सम्मुख बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी **विमूढ़** हो जाते हैं। जो अत्यंत वाक्पटु और वाचाल है, तत्त्वबोध के दर्शन से **मूक** हो जाते हैं, उनकी बोलती बंद हो जाती है, विद्वान **जड़** हो जाते हैं और महाउद्योगी तथा बड़े-बड़े काम करनेवाले **आलसी** हो जाते हैं।

राजन! इसका यही कारण है कि चित्त आत्मज्ञान से शून्य हो जाता है, कामनारहित हो जाता है। वहां केवल आत्मा की शुद्धता का वास होता है। ऐसी परम स्थिति में वाचाल विद्वान का मूक व जड़ हो जाना स्वाभाविक है। जब चित्त को कुछ पाने की लालसा ही नहीं तो दिन-रात काम् में व्यस्त रहनेवाला काम करने की आवश्यकता क्यों अनुभव करेगा। तत्त्वबोध उसे आत्मलीन करता है।

राजन! यह आत्मलीनता, यह लालसाहीनता और यह निष्काम की भावना भोग-विलासियों को रास नहीं आती, उन्हें विषय रस के आस्वादन में सुख मिलता है, अतः आत्मज्ञान का वे लोग परित्याग करते हैं।'

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥४॥

भावार्थः तू देह नहीं, देह तेरी नहीं। तेरी देह और तू भोक्ता-कर्ता नहीं है। तू चैतन्यरूप सदा साक्षी है, अतः निरपेक्ष होकर सुख से विचरण कर।

विवेचनाः भोग-विलास में सुखानुभूति करनेवालों के लिए देह से अधिक मूल्यवान कुछ नहीं। वह देह को सुख पहुंचाने के विशेष उपाय करते हैं, देह को सजाते-संवारते हैं और अपनी ही देह से विमुग्ध होते हैं। वह स्वयं को मात्र देह मानते हैं और देह पर अपना अधिकार जमाते हैं।

आत्म-अज्ञानी को कभी बोध नहीं हो पाता कि वह देह नहीं, पांच तत्वों के मिश्रण का समूह है। यह देह उसकी नहीं, इसे तो इन्हीं पंच तत्त्वों में विलीन हो जाना है। वह सोचता है, मैं कर्ता हूं, उपलब्धियां अर्जित करता हूं, जिसे मेरा शरीर भोगता है।

आत्मज्ञानी इस तत्त्व से भलीभांति अवगत होता है कि न वह कर्ता है और न उसका शरीर भोक्ता है। वह आत्मा का चैतन्यस्वरूप है। अतः जो कर्म करता है अथवा फल भोगता है, वह चित्त और इंद्रियों के कर्म-धर्म हैं, उसके आत्मस्वरूप से उसका कोई संबंध नहीं।

राजा जनक इस तत्त्वबोध को ग्रहण कर चुके हैं, अतः अष्टावक्र उन्हें पुनः स्मरण कराते हैं–'इसे सदा याद रख कि **तू** देह नहीं है और न ही **देह** तेरी है। यह क्षणभंगुर है और इसे यहीं पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि और जल में घुल जाना है। ऐसा भी मत सोच तू कर्ता और देह भोक्ता है। स्वयं को **कर्ता** और देह को **भोक्ता** समझनेवाले यह नहीं समझते कि सबकुछ प्रारब्ध के अधीन संपन्न होता है।

अतः राजन! तू केवल इतना जान कि तेरा चैतन्य रूप और कुछ नहीं, सदा आत्मा का साक्षी है। चैतन्यरूप भले ही नष्ट हो जाए, विलुप्त हो जाए, किंतु उसकी साक्षी आत्मा कभी विलुप्त नहीं होती, कभी नाश को प्राप्त नहीं होती। यह विराट ब्रह्मांड में नित्य व्याप्त हो जाती है।

राजन! आत्मा की प्रतीति करने के पश्चात तू आत्मा की भांति निरपेक्ष हो जा, अर्थात कोई अपेक्षा मत कर, किसी कामना से मोहग्रस्त न हो। आशाविहीन होकर सदैव सुख से विचरण करता रह।'

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बेधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥५॥

भावार्थः राग-द्वेष मन के धर्म हैं, तेरे नहीं। तेरा मन से कभी कोई संबंध नहीं। तू निर्विकल्प बोधात्म है। अतः निर्विकार होकर सुख से विचरण कर।

विवेचनाः राग और द्वेष के भाव मन के धर्म हैं और आत्म-अज्ञानी अपने मन के अनुरूप अपना स्वभाव गढ़ता है। उसका अपने मन से अटूट संबंध होता है, मन जैसा आदेश देता है, उसी के अनुसार आचरण करता है। मन से पृथक होने की तो वह कल्पना ही नहीं करता। सोचता है, मन में राग-द्वेष की भावनाएं न उठें तो ऐसा जीवन जीने का क्या लाभ। राग-द्वेष ही तो व्यक्ति को कर्मनिष्ठ बनाते हैं, काम करने की प्रेरणा देते हैं। राग-द्वेष से ही व्यक्ति का विकास होता है।

वस्तुतः व्यक्ति का ऐसा सोचना आत्म-अज्ञान का सूचक है। मन के प्रति उसका मोह ही उसे नए-नए विकल्पों और संकल्पों को गढ़ने को बाध्य करता है। इस प्रकार वह अनेक विकारों से ग्रस्त हो जाता है।

राजा जनक का निर्विकार स्वरूप उनके आत्मज्ञान का सूचक था। अष्टावक्र उन्हें बताते हैं-'तू **मन** को **स्वयं** पर हावी मत होने दे। मन से संबंध विच्छेद करना नितांत आवश्यक है। यह सदैव याद रखना कि राग-द्वेष तेरे आत्मस्वरूप से निसृत नहीं होते। राग-द्वेष **मन** के धर्म हैं, **तेरे** नहीं। मन का तो काम ही है नए-नए संकल्पों-विकल्पों की रचना करना। मन को अपना धर्म निभाने दे, तुझे अंतिम ज्ञान मिल चुका है कि विषय-त्याग में ही **मोक्ष** है और विषय-प्रीति में **बंधन**। अतः तेरे सम्मुख मोक्ष और बंधन के दोनों विकल्प उपस्थित हैं, किंतु तूने आत्मस्वरूप को पा लिया है, जो इस बात का सूचक है कि तेरी विषयों में आसक्ति नहीं। अतः तेरा मन से संबंध टूट चुका है।

तू मन के वशीभूत नहीं। इसका अर्थ है कि तू निर्विकल्प बोधात्मा है। अर्थात संकल्पों-विकल्पों से रहित होकर तू आत्मज्ञानस्वरूप को सिद्ध कर चुका है। यह ऐसी स्थिति है, जिसमें तू दोषरहित और विकारविहीन हो गया है। अब तू सतत् निर्विकार होकर सुख से विचरण कर।'

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव।।६।।

भावार्थः सर्वभूतों में आत्मा और आत्मा में सर्वभूतों को जान तथा अहंकाररहित और निर्मोही होकर तू सुखी हो।

विवेचनाः सच तो यह है कि व्यक्ति मोहमाया के वशीभूत होकर सांसारिक बंधनों से आबद्ध होता है। देह का मोह, सुखों का मोह और भोगों का मोह उसे भौतिक संपदाओं का दास बना देता है। तदुपरांत आरंभ होता है कामनाओं को मूर्त रूप देने का कठोर और यातनाप्रद श्रम। वह जितना संपदा संपन्न होता है, उसका लोभ उतना ही बढ़ता जाता है।

यह **लोभ** और **संपन्नता** उसे **अहंकारी** और **अभिमानी** बनाती है। वह दूसरों को तुच्छ समझता है और स्वयं को श्रेष्ठ। यह द्वैत दर्शन उसे तत्त्वबोध से विमुख कर देता है।

आत्मज्ञानी अद्वैत-दर्शन के शाश्वत सत्य को अंगीकार करता है और तत्त्वबोध से परिचित होता है। इस स्थिति में उसमें न अहंकार रह पाता है और न अभिमान तथा न मोह और न ममता। अहंकार और ममत्व से रहित वह सुखद और विशद अनुभूतियों से निज के प्रकाश से नित्य आलोकित होता है।

राजा जनक के इस भव्य स्वरूप का अष्टावक्र दर्शन करते हैं, तदुपरांत पुन: याद कराते हैं–'मैं तुझसे पूर्व में भी कह चुका हूं, अब पुन: कहता हूं कि आत्मा को सर्वत्र जान। आत्मा के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं। आत्मा नित्य, अनवरत, अनंत और शाश्वत है। संपूर्ण ब्रह्मांड आत्मा का पर्याय है। प्रत्येक चर-अचर आत्मा से है और आत्म प्रत्येक चर-अचर से है।

अर्थात यह चरम सत्य हृदयंगम कर ले कि **तू** भी आत्मा से है, और **आत्मा** भी तुझसे है। आत्मा की विराटता में सब समाहित हैं। ये जो समस्त दृश्य-अदृश्य और जड़-चेतन भूत हैं, भले ही उनका स्वरूप अलग-अलग हो किंतु वे सब एक ही आत्मा में स्थित हैं, उसी प्रकार यह एक आत्मा समस्त भूतों में है। जिसे इसका ज्ञान हो जाता है, वह अहंकार और मोह-ममत्व से रहित होता है।

राजन! तुझे आत्मज्ञान हो गया है, तूने आत्मा की विराटता को अनुभूत कर लिया है। अत: अहंकार को त्याग कर ममत्वहीन होकर सदा सुखी रह।'

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥७॥

भावार्थ: जहां पर यह विश्व तरंगों की भांति स्फुटित है, वहां तू ही है, इसमें संदेह नहीं। अत: हे चिन्मूर्ते, चैतन्यरूपी, तू संतापमुक्त रह।

विवेचना: विश्व में, जड़-चेतन में जो हलचल होती है, वह समुद्र में उठनेवाली तरंगों की भांति है। जिस प्रकार तरंगें समुद्र का अंश होती हैं, उसी प्रकार विश्व और जड़-चेतन आत्मा का अंश होते हैं।

आत्म-अज्ञानी समुद्र और तरंगों को अलग-अलग रूप में देखता है। उसी विश्व और जड़-चेतन आत्मा के अंग प्रतीत नहीं होते, वह विश्व और जड़-चेतन को भी अलग-अलग रूप में देखता है।

आत्मज्ञानी जानता है कि समुद्र में उठनेवाली तरंगें समुद्र का ही अंग हैं और समुद्र में समाती-उभरती हैं। उसे विश्व और विश्व के जड़-चेतन में

आत्मा नजर आती है। वह किसी को भिन्न नहीं देख पाता। वह जानता है कि सबकुछ **आत्मा** से **उदित** होकर **आत्मा** में ही **अस्त** हो जाता है। आत्मज्ञानी **स्वयं** को भी **आत्मा** का अटूट अंग मानता है।

यही बात अष्टावक्र पुनः राजा जनक से कहते हैं–'राजन! संताप का मुख्य कारण है विषय-वासनाओं के प्रति अभिलिप्सा और लाभ-हानि की चिंता। जो आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, वह संतापों से छुटकारा पा लेता है।

मैंने तुझे पहले भी बताया था कि तू आत्मा से है, आत्मा तुझसे है। आत्म-अज्ञानी स्वयं को स्वयं की सत्ता मानते हैं और यहीं से उनके भ्रमों का आरंभ होता है। सच तो यह है, जैसे समुद्र और तरंगें एकात्म हैं, वैसे ही समस्त जीव-जड़ एकात्म है। तू आत्मा है और आत्मा की भांति सर्वत्र तेरी उपस्थिति है। विश्व में चतुर्दिक जीव-जड़ की जो हलचलें होती हैं, वह समुद्र में उठनेवाली तरंगों की भांति हैं।

राजन! यह सदा याद रख, जहां विश्व की हलचलें तरंगों की भांति स्फुरित हो रही हैं, निस्संदेह वहां तू है। अतः हे चैतन्यरूपी, तू संतापों से मुक्त रह।'

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥८॥

भावार्थः हे तात! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर, मोह मत कर। तू ज्ञानस्वरूप भगवानात्मा है। तू प्रकृति से परे है।

विवेचनाः जो आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, उसे निज की शक्तियों का अनुभव हो जाता है, वह स्वयं के प्रकाश से आलोकित होता है। उसे किसी के परामर्श की आवश्यकता नहीं होती। वह अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करता है। चर-अचर सभी प्रकृति के नित्य परिवर्तित उतार-चढ़ावों से प्रभावित होते हैं किंतु आत्मज्ञानी प्रकृति से अछूता रहता है। वह स्वयं का परमात्मा बनकर अपना दृष्टा स्वयं होता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! मोह से व्यक्ति दुर्बल हो जाता है। उसका शरीर देखने में भले ही स्वस्थ लगे, किंतु उसकी आंतरिक शक्तियां क्षीण पड़ जाती हैं। विश्व की भौतिकता उसे सम्मोहित करती है। स्वयं से मोह उसे भोग-विलास के मोह से संपृक्त करता है। वह सर्वदा संदेहों से घिरा रहता है, उसे किसी पर विश्वास नहीं होता, उसकी दृष्टि में श्रद्धा योग्य कोई नहीं।

अतः हे तात! तू किसी को भी अश्रद्धा या अविश्वास का पात्र मत मान। तू देख रहा है कि सब में **तू** है और तुझमें **सब** हैं, अतः सभी श्रद्धेय व

विश्वसनीय हैं। अश्रद्धा और अविश्वास की भावना का अर्थ है कि तुझे स्वयं पर ही श्रद्धा और विश्वास नहीं। अत: केवल श्रद्धा कर, विश्वास कर। मोह से अवश्य बच। मोहग्रस्तता से स्वयं का ही नाश होता है। आत्मा निरपेक्ष और निरंजन होती है, अत: मोह का आत्मा से क्या प्रयोजन?

हे तात! आत्मा के पश्चात तुझे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। तू ज्ञानस्वरूप है, परमात्मा है। ज्ञान और आत्मा स्वयं में प्राकृतिक हैं, ज्ञान और आत्मा प्रकृति से परे है, इसी प्रकार तू भी प्रकृति से परे है।'

गुणैः संवेष्टितो देहास्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचसि॥९॥

भावार्थः गुणों से आवेष्टित यह देह है, जो आनी-जानी है। किंतु आत्मा न जाती है, न आती है। अत: देह के लिए क्यों चिंतित होता है?

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी सदैव मृत्यु से भयभीत होते हैं। मृत्यु की कल्पना मात्र से कांप उठते हैं और अपनी मृत्यु को स्वयं दुखदायी बनाते हैं। मृत्यु से भयभीत व्यक्ति अंतिम पलों में घुट-घुटकर मरता है। उसके गुण-अवगुण यहीं रह जाते हैं, जिन्हें भोगने वह पुन:-पुन: पृथ्वी पर अवतरित होता है।

गुणों-अवगुणों का संबंध केवल देह से है। आत्मा का इनसे कोई संबंध नहीं। **देह अनित्य** है, उसके आवागमन की प्रक्रिया **निरंतर** चलती है। लेकिन **आत्मा नित्य** है, सर्वत्र है, आवागमन की प्रक्रिया से **मुक्त**।

अष्टावक्र इसी तथ्य से अवगत कराते हुए राजा जनक से कहते हैं—'राजन! कोई व्यक्ति बहुत गुणी है, किंतु यह मत भूल कि गुणों-अवगुणों से आत्मा संलिप्त नहीं, इनसे देह आवेष्टित होती है। व्यक्ति गुणी हो अथवा अवगुणी, इतना निश्चित जान कि उसे एक दिन मृत्यु को प्राप्त होना है, यह भी निश्चित जान कि एक दिन उसका पुन: अवतरण होगा। आवागमन का यह क्रम तब तक समाप्त नहीं होता, जब तक वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। मोक्ष को वही प्राप्त होता है, जो निष्ठापूर्वक स्वयं में आत्मा की प्रतीति करता है।

राजन! तू आत्मस्वरूप ग्रहण कर चुका है, अत: अपने गुणों-अवगुणों के बारे में मत सोच। गुण और अवगुण तेरी देह के धर्म हैं। प्रारब्धानुसार तेरी देह अपने धर्मों का निर्वहन करेगी। तू देह और देह के धर्म से प्रीति मत कर, देह तो आनी-जानी है, तू आत्मा है, अत: तू नित्य रहेगा, क्योंकि आत्मा आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त है।

राजन! आत्मस्वरूप होकर अब तू देह के लिए चिंतित मत हो। अब तेरा बार-बार आना-जाना संभव नहीं।'

देहस्तिष्ठतु कल्यान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिंतमात्ररूपिणः॥१०॥

भावार्थः यह देह भले ही युगांत तक रहे अथवा इसी समय जाए; तुझ मात्र चैतन्य स्वरूप को क्या लाभ है या क्या हानि?

विवेचनाः यह निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति दीर्घ जीवन जीने की लालसा से आकुल और आतुर है, किंतु जीवन-मरण प्रारब्धानुसार होता है। व्यक्ति की मृत्यु विलंब से आए या शीघ्र, इससे कोई बच नहीं सकता। इस पर भी वह भोग-विलास और उपलब्धियों की आकांक्षा से मुक्त नहीं, निरंतर लाभ-हानि की चिंता में उलझा रहता है।

आत्मज्ञानी को लाभ-हानि की चिंता नहीं होती। वह अचिंत्य होता है—चिंतामुक्त चित्त का स्वामी। वह **फल** की आकांक्षा से **कर्म** करता ही नहीं तो लाभ-हानि से उसे क्या प्रयोजन? वह आत्म-अज्ञानी भांति देह-धर्मों का अनुपालन नहीं करता। देह प्रारब्ध को सौंपकर स्वयं आत्मावत हो जाता है।

आत्मा के चैतन्यस्वरूप के गुण का वर्णन करते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'तुझ चैतन्यस्वरूप को अब यह भलीभांति ज्ञात हो चुका है कि तुझे किसी से मोह नहीं रहा, तू कामनारहित है, ग्रहण करने अथवा त्यागने के लिए तेरे पास कुछ भी नहीं, देह के प्रति तेरी प्रीति समाप्त हो चुकी है।

देह से प्रीति उसे होती है, जो देह को सुख पहुंचाने के निरंतर आयोजन करता है। वह मृत्यु से डरता है और दीर्घ जीवन की कामना करता है।

अतः राजन! तेरा जीवन दीर्घ हो अथवा लघु, तेरी देह युग-युगांत तक रहे, अथवा तू तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त हो, तुझे विचलित होने की आवश्यकता नहीं। तू मात्र आत्मा का चैतन्यस्वरूप है। जिस प्रकार लाभ-हानि आत्मा के लिए निष्प्रयोज्य है, उसी प्रकार दीर्घ जीवन या लघु जीवन से तेरे चैतन्यस्वरूप की न कोई हानि है और न कोई लाभ।

देह के जीवन-मरण से तू परे है। तेरी देह रहे, न रहे, तू आत्मावत नित्य और सर्वत्र रहेगा। अतः लाभ-हानि और छोटे-बड़े जीवन की चिंता तेरे लिए व्यर्थ है।'

त्वय्यनंतमहाम्भोधौ विश्वीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षति॥११॥

भावार्थः तेरे अनंत महासागर में विश्वरूपी तरंगें स्वभावतः ही उठती हैं व शांत होती हैं। इससे न तेरी वृद्धि है और न क्षति।

विवेचना: जो व्यक्ति धरती पर अवतरित हुआ है, उसका एक-न-एक दिन यहां से प्रस्थान निश्चित है। अमर कोई भी नहीं, सबकुछ नाशवान व अनित्य है। आत्म-अज्ञानी भी जानता है कि वह अमरत्व की घुट्टी पीकर नहीं जन्मा है, एक दिन उसे इस पृथ्वी से कूच कर जाना है। इस पर भी वह जीने का मोह नहीं त्याग पाता है। हां, अंत में जब थक जाता है तो परलोक सुधारने की कामना उसके मन में जाग्रत होती है, वह मोक्ष के मोह में कष्टसाध्य साधनाएं करता है।

अर्थात आत्म-अज्ञानी अंतिम काल में कामना और मोह से मुक्त नहीं होता। उसे परलोक सुधारने की कामना सताती है और मोक्ष के मोह से पीड़ित होता है। यही कारण है कि न तो उसका परलोक सुधरता है और न ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी मोक्ष का मोह किए बिना ही मोक्ष को प्राप्त होता है, क्योंकि वह जानता है कि अनंत महासागर में विश्वरूपी तरंगें स्वभावत: उठती-बैठती हैं, अर्थात आत्मा से निसृत जीव-जड़ स्वाभाविक रूप से जन्म व मृत्यु को प्राप्त होता है।

इसी बारे में अष्टावक्र राजा जनक को बताते हैं—'राजन! जैसा मैं पहले ही बता चुका हूं, तुझसे **विश्व** है, **तू** विश्व से है, **तू** व्यष्टि नहीं, समष्टि है, **सब** तुझमें **तू** सबमें।'

अस्तु, राजन! तुझ आत्मारूपी अनंत महासागर में विश्वरूपी तरंगें स्वाभाविक रूप से होती हैं। तुझ आत्मरूप से जड़-चेतन स्वभाव रूप से जन्म लेते हैं और मरते हैं, किंतु तेरी आत्मा न मरती है और न जन्म लेती है। जीव-जड़ के आने से न तो आत्मा की वृद्धि होती है और न जाने से हानि है। उसी प्रकार तेरे अनंत महासागर में विश्वरूपी तरंगों का उठना न तेरी वृद्धि करता है और न उनका शांत होना तेरी कोई क्षति करता है।'

तात चिंतामात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अत: कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥१२॥

भावार्थ: तात! तू मात्र चैतन्यरूप है, तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं। अत: हेय-उपादेय की कल्पना किसके बारे में की जाए और क्यों?

विवेचना: हेय और उपादेय की कल्पना आत्म-अज्ञानी करते हैं। क्या उपयोगी है, क्या अनुपयोगी, किसमें लाभ हो सकता है और किससे हानि, इसी को केंद्र में रखकर उनके समस्त कर्म संपादित होते हैं। जहां कामना है, वहीं ऐसे विकारों का जन्म होता है।

आत्मज्ञानी की दृष्टि में हेय-उपादेय की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। लाभ-हानि और उपयोगी-अनुपयोगी की कल्पना उसके लिए अतीत का विषय हो जाती है। आत्मज्ञानी कामनाशून्य होता है, अतः उसमें विकारों का जन्म ही नहीं होता।

राजा जनक को बोध हो चुका है कि वे आत्मा का चैतन्य स्वरूप हैं। उनकी **देह** और कुछ नहीं मात्र **आत्मा** का साक्ष्य स्वरूप है। भले ही चैतन्य न रहे, साक्ष्य का भी नाश हो जाए, किंतु आत्मा सतत् रहती है, उसका नाश नहीं होता। इस आत्मज्ञान से वह मोक्ष को प्राप्त हो गए। **वह** निस्संदेह एक दिन पृथ्वी पर नहीं रहेंगे, किंतु उनकी विराट **आत्मा** अनंत ब्रह्मांड में नित्य रहेगी।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'तात! इस तथ्य से कभी विस्मृत मत होना कि **तू** जगत से है और **जगत** तुझसे, तू जगत से भिन्न नहीं और जगत तुझसे भिन्न नहीं, दोनों अद्वैत और एकात्म हो। यही है आत्मानुभूति की सार्थक परिणति। चूंकि तुझे भान हो चुका है कि तू समस्त में है और समस्त तुझमें, तब क्या हेय और क्या उपादेय।

राजन! यदि तू हेय-उपादेय के अंतर्द्वंद्व में फंसेगा तो स्वयं को भी हेय और उपादेय के दृष्टिकोण से परखेगा। परखने का स्वभाव आत्म-अज्ञानी का होता है, तुझ जैसे आत्मज्ञानी का नहीं। आत्मज्ञानी के लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय। आत्मा को न कुछ पाने की इच्छा है और न कुछ खोने की, अतः तू भी हेय-उपादेय की कल्पना किसके बारे में और क्यों करे?'

एकस्मिन्नव्यये शांते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च॥१३॥

भावार्थः एक तुझमें व्याप्त है अविनाशी, शांत व निर्मल चैतन्याकाश। अतः तेरा ज़न्म कहां, कर्म कहां और अहंकार कहां?

विवेचनाः जन्म-मरण आत्म-अज्ञानी के लिए चरम सत्य है। वही मरने से पहले विश्व में उपलब्ध समस्त को दोनों हाथों से बटोरंना चाहता है। कठोरतम कर्म करते हुए और भीषण कष्ट सहते हुए भी वह केवल सुखोपलब्धि की चिंता करता है। उपलब्धियों का अहंकार भी उसे कम नहीं होता। अपने अहंकार के सम्मुख वह सबको हेय समझता है, और स्वयं को श्रेष्ठ मानकर गर्वित होता है।

राजा जनक के लिए श्रेष्ठ-हीन के मानदंडों का होना-न-होना कोई अर्थ नहीं रखता। उन्हें सुखोपलब्धि की चिंता ही नहीं तो कष्टसाध्य श्रम करने की आवश्यकता क्यों? प्रारब्ध से जो **भोग** मिलेगा, उसी से उनकी देह **संतुष्ट है**। वह आत्मलिप्त हैं, देह धर्म का दासत्व इंद्रियों, मन व मस्तिष्क का है।

अष्टावक्र आत्मज्ञानी राजा जनक से कहते हैं–'राजन! तू आत्मा को प्राप्त है, आत्मा तुझको प्राप्त है, अत: तू एकात्म है और तेरा शरीर आत्मा का चैतन्यस्वरूप। तेरा चैतन्यस्वरूप भलीभांति इस तथ्य से अवगत है कि तू **एक** में **अनेक** है, **व्यष्टि** में **समष्टि** है, सबमें व्याप्त है, अनंत में विकीर्ण है। सब सर्वस्व तू ही है तो अहंकार किससे करेगा?

आत्मा शुद्ध और दोषरहित है, अत: आत्मावत तुझ एक में ही व्याप्त है अविनाशी, शांत और निर्मल चैतन्याकाश। ब्रह्मांड के अंतहीन ओर-छोर तक तेरा यह चैतन्याकाश फैला हुआ है, उसी से जीव-जड़ का स्फुरण होता है।

राजन! आत्मा का जन्म नहीं होता, कर्म नहीं होता, वह अहंकार से भी मुक्त विकाररहित है। तू भी शुद्धस्वरूप हो गया, अत: तेरी जन्म, कर्म और अहंकार से मुक्ति हो गई है।'

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।
किंपृथक्भासतेस्वर्णात्कटकांगदनूपुरम्।।१४।।

भावार्थ: जिसे तू देखता है, उसमें एक तू ही प्रतिबिंबित है। क्या कंगन, बाजूबंद अथवा नूपुर स्वर्ण से पृथक प्रतीत होते हैं?

विवेचना: अष्टावक्र ने पहले भी यह तथ्य रेखांकित किया है और यहां पुन: बताते हैं कि विश्व व विश्व के दृश्य भले ही पृथक-पृथक प्रतीत होते हैं, हैं वस्तुत: एक ही आत्मा से निसृत, भले ही उनके रूप भिन्न हों।

आत्म-अज्ञानी भीड़ को देखता है तो भीड़ उसे अनेक व्यक्तियों का समूह प्रतीत होती है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की अलग सत्ता होती है। पृथकता की यह भावना अत्यंत निंदनीय व अनिष्टकारी है। इससे व्यक्ति स्वयं को दूसरे व्यक्ति से अलग कर लेता है। समाज में समष्टि और सामूहिकता की सौहार्द्र भावना को ठेस पहुंचाता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की समृद्धि देखकर ईर्ष्या करता है। सब एक-दूसरे को अपना शत्रु मानते हैं। हर व्यक्ति **स्वयं** को **श्रेष्ठ** मानता है और **दूसरे** को **हीन** व **तुच्छ**। उसकी संपन्नता उसे अहंकारी बना देती है।

अत: अष्टावक्र ने यह परामर्श दिया है कि द्वैत को भूलकर अद्वैत को याद रखो। सब एक आत्मा के अभिन्न अंग हैं, उनके रूप अलग-अलग होते हुए भी वे एकात्म हैं, कोई किसी से भिन्न नहीं। आत्मज्ञान से सब एक-दूसरे में स्वयं का प्रतिबिंब देख सकते हैं।

राजा जनक स्वयं से भिन्न किसी को नहीं देखते। अष्टावक्र उनसे कहते हैं–'राजन! आत्मज्ञान के कारण तेरी पृथकता की भावना का नाश हो चुका

है। तू अद्वैत की उदात्त भावना से व्यष्टि को त्याग कर समष्टि में समाहित है। अत: तेरी पृथक सत्ता में आस्था नहीं। तू जिसे भी देख रहा है, चाहे वह जीव या जड़, उसमें तुझे एक तेरा अपना ही प्रतिबिंब दृष्टिगोचर है। जीव और जड़ के अलग-अलग स्वरूपों से आत्म-अज्ञानी को ही भ्रम होता है कि सबमें पार्थक्य है। इसके विपरीत आत्मज्ञानी को विदित होता है कि अलग-अलग स्वरूप होते हुए भी वे एकात्म हैं।

राजन! स्वर्ण से निर्मित कंगन, बाजूबंद अथवा नूपुर का स्वरूप अवश्य अलग-अलग होता है, किंतु मूलत: हैं तो वे स्वर्ण से निसृत।

अयं सोऽहमय नाहं विभागमिति संत्यज।
सर्वमात्मेतिनिश्चित्यनि: संकल्प: सुखीभव॥१५॥

भावार्थ: मैं यह हूं,' मैं यह नहीं हूं,' ऐसे विभाजन त्याग दे। सर्वस्व आत्मा है, यह निश्चय कर तू संकल्पमुक्त होकर सुखी रह।

विवेचना: व्यक्ति जब स्वयं को स्वतंत्र सत्ता के रूप में देखता है तो यही भावना उसे संकल्पों-विकल्पों के वन में भटकाती है। 'मैं' की आत्मघाती प्रवृत्ति उसे अहंकारी और ईर्ष्यालु बनाती है। **मैं** उत्तम हूं, श्रेष्ठ हूं, संपन्न हूं, ऐसी गर्वोक्तियां करता हुआ वह दूसरों को तुच्छ समझता है। **मैं** हीन नहीं, दुर्बल नहीं, तुच्छ नहीं, यह सोचकर वह अभिमान से इतराता है।

ये ऐसे कलुषित मनोद्गार हैं, परस्पर जिससे मनोमालिन्य उत्पन्न होता है। सभी अपने हित और स्वार्थ साधन के प्रयास में व्यस्त हो जाते हैं। भले ही उनके प्रयास से दूसरे का अहित हो, इसकी कोई चिंता नहीं करता।

अष्टावक्र का स्पष्ट सुझाव है कि '**मैं** ऐसा हूं' और '**मैं** वैसा हूं,' इस प्रकार के भेदों का कोई अर्थ नहीं। ऐसे विभाजनों का औचित्य इस कारण नहीं है, क्योंकि **मैं** का कोई अस्तित्व नहीं। आत्मज्ञानी को विदित है कि वह **मैं** नहीं, **आत्मा** का साक्ष्य स्वरूप है, उसकी अपनी कोई अलग सत्ता नहीं।

अष्टावक्र इसी तथ्य के बारे में राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! आत्मावत होने के बाद तू 'मैं' का अस्तित्व भूल जा। इस प्रकार के विभाजन मत कर कि '**मैं** यह हूं' या '**मैं** यह नहीं हूं'। इनका सर्वथा त्याग कर दे, क्योंकि ऐसे भेद नितांत आत्मघाती हैं। ऐसे विभाजन और भेद तथा 'मैं' की ऐसी अनुभूति व्यक्ति को अहंकारी बनाती है, जिससे उसकी विवेक-अविवेक को परखने की क्षमता नष्ट हो जाती है। अपने हित और स्वार्थ के अतिरिक्त वह कुछ और नहीं सोचता। स्वार्थ से उसकी मनोवृत्ति हिंसक, विकराल और विध्वंसक हो जाती है।

अतः राजन! **मैं** की अनर्थकारी भावना त्याग दे। तू जानता है कि सर्वस्व आत्मामय है, सबकुछ आत्मा का पर्याय है। सर्वत्र आत्मा की उपस्थिति को निश्चत जान, इस प्रकार तेरी समस्त कामनाएं तिरोहित हो जाएंगी। अतः तू संकल्प मुक्त होकर सुख से रह।'

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्योनास्तिसंसारीनासंसारीचक्रश्चन॥१६॥

भावार्थः तेरे अज्ञान से यह विश्व है। परमार्थ से तू एक है। तुझसे अन्य कोई न संसारी है और न असंसारी।

विवेचनाः जो आत्म-अज्ञानी है उसे ही विश्व का स्थूल स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। वही विश्व के विभिन्न दृश्यों से सम्मोहित होता है। वह उन्हें उपलब्ध करने की कामना से आकुल-व्याकुल होता है। देह-सुख के लिए कोई भी कर्म-अपकर्म करने को तत्पर रहता है। उसकी यह अज्ञानता उसे विश्व की सत्यता का साक्षात्कार नहीं करने देती। यदि उसे ज्ञान हो जाए कि **विश्व** आत्मा का प्रतिबिंब नहीं है, वह **स्वयं** आत्मा का प्रतिबिंब है तो उसे **एकात्म** होकर समस्त भ्रमों से मुक्त होते तनिक भी विलंब नहीं होगा।

राजा जनक ने आत्मा की प्रतीति की तो वह भी एकात्म हो गए और उन्हें भ्रमों से अविलंब मुक्ति मिल गई।

अष्टावक्र उनसे कहते हैं—'हे राजन! जब तू अज्ञानी था तो यह विश्व तुझे एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में दृष्टिगोचर होता था। वस्तुतः अज्ञानी की दृष्टि में विश्व का स्थूल रूप ही सत्य है। अज्ञानियों के भ्रम से ऐसे विश्व का अस्तित्व है, अन्यथा विश्व की और विश्व के दृश्यों की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। समस्त जीव-जड़ आत्मा की सत्ता से जुड़े आत्मा के ही विभिन्न स्वरूप हैं।

राजन! तू इस सत्य का साक्षात्कार कर चुका है, अतः अज्ञानता से विश्व को मत भास। परमार्थतः तू केवल एक है, **आत्मा** और **तुझमें** कोई पार्थक्य नहीं, अतः तू आत्मावत एकबद्ध है। तेरे अतिरिक्त विश्व में कोई संसारी नहीं, कोई जीव-जड़ नहीं, समस्त चर-अचर में तू है। इसी प्रकार तेरे अतिरिक्त कोई असंसारी भी नहीं, अर्थात आत्मा होकर तू ही अपना परमात्मा है, अपना ईश्वर आप है, सर्वशक्तिमान दृष्ट और नियामक है।

भ्रांतिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रोनकिंचिदिवशाम्यति॥१७॥

भावार्थः यह विश्व भ्रांति मात्र है, कुछ और नहीं—जिसे इसका निश्चय हो जाए, वह कुछ और नहीं कामनारहित व स्फूर्ति मात्र होकर शांति सिद्ध करता है।

विवेचनाः अष्टावक्र का दृढ़ मत है कि विश्व भ्रांति मात्र है। लोग जन्म लेते हैं, मरते हैं। जीवन-मृत्यु की मध्यावधि में कोई भी एक पल के लिए सच्चे सुख और शांति की अनुभूति नहीं करता। लोभ, क्रोध, काम और माया की दुर्दांत विकृतियों को वह स्वाभाविक मानवीय भावनाएं समझने की भूल करता है और आजीवन उनमें संलिप्त रहता है। यही उसका अज्ञान है, इसी अज्ञान के कारण वह विश्व के इस स्वरूप को सत्य मान बैठा है।

यदि उसे आत्मज्ञान हो जाए तो वह तत्क्षण इस सत्य से परिचित हो जाएगा कि निस्संदेह विश्व भ्रांति है। इसके जिन भौतिक उपादानों से लोग चमत्कृत होते हैं, उनका कोई स्थायित्व नहीं। उसके प्रति आसक्ति व्यर्थ है। इन्हें **पाने** की **खुशी** और **खोने** का **दुख** वास्तविक नहीं, चिरस्थायी नहीं, अनित्य और नश्वर है। सुख-दुख की यह भ्रांति व्यक्ति को कामनाओं के मरुस्थल में सतत् भटकाती है।

सुख-दुख की इस भ्रांति से राजा जनक परिचित हो चुके हैं। आत्मज्ञान से वह जान चुके हैं कि आत्मा की प्रतीति ही वास्तविक सुख है, जिससे दुख का विकार सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। उन्हें संपूर्ण विश्व आत्मा से जुड़ा एक समूह प्रतीत होता है।

अष्टावक्र उनसे कहते हैं—'अज्ञानियों की दृष्टि में विश्व का अस्तित्व है, वे इसे भ्रांति नहीं मानते। उन्हें पाने-खोने का भ्रम और इससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख का भ्रम सदैव विचलित करता है। जिसे इस तथ्य का भान हो जाता है कि विश्व और कुछ नहीं, मात्र भ्रांति है, उसे सच्चे सुख की अनुभूति हो जाती है। जब विश्व कुछ नहीं है, अकिंचन है तो वह किसकी कामना करे।

राजन! तुझे यह निश्चय हो गया है कि विश्व भ्रांति है, अतः तू भी और कुछ नहीं, कामनारहित हो गया है। तू आत्मा का स्फूर्त स्वरूप अवश्य है, किंतु तू वासनाओं के प्रति स्फूर्त अथवा क्रियाशील नहीं होता। अतएव तूने शांति सिद्ध कर ली है।'

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति।
नतेबंधोऽस्तिमोक्षोवाकृतकृत्यः सुखंचर॥१८॥

भावार्थः भवसागर में एक तू ही था, है और रहेगा, अतः न तेरा बंध है और न मोक्ष। तू कृतकृत्य होकर सुख से विचरण कर।

विवेचनाः अष्टावक्र का मानना है, जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह एकात्म होकर सर्वव्यापी हो जाता है। अष्टावक्र की दृष्टि में एक होने का अर्थ है आत्मा होना। आत्मा सर्वव्यापी है, अतः आत्मज्ञानी भी सर्वव्यापक हो

जाता है। वह न केवल स्वयं को आत्मा का अटूट अंग मानता है, बल्कि चर-अचर सभी उसे आत्मावत प्रतीत होते हैं। वह सबमें समाहित होकर एक होता है।

इस एकरूपी आत्मा का न जन्म है और न मरण। प्रत्येक काल में इसका अस्तित्व होता है। एक में समस्त विश्व का सुखद दर्शन ही अद्वैत की उदात्त भावना है।

राजा जनक ने आत्मज्ञान से स्वयं के **एक** में **विश्व** का दर्शन कर लिया है, अतः अष्टावक्र उन्हें बताते हैं कि इस भवसागर में एकमात्र तेरा ही अस्तित्व है। तू ही भवसागर है और भवसागर में केवल तू ही है, और कोई नहीं। जहां तक तेरी दृष्टि जा रही है, जो कुछ तू देख रहा है, सर्वत्र तेरा ही प्रतिबिंब है। तू अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। भवसागर के दृश्य परिवर्तित होते रहते हैं, चर-अचर के रूपों में अंतर आ सकता है, किंतु आत्मावत तुझ **एक** का न कभी परिवर्तन होगा और न तेरे रूप में अंतर आएगा। बिना रूप और आकार के तेरा अस्तित्व बना रहेगा।

राजन! जब सर्वत्र तेरा ही अस्तित्व है तो तू किससे मोहित होगा, किसकी कामना करेगा? कामना की इस विरक्ति से तू निरपेक्ष है। अतः न तेरा कोई बंध है और न मोक्ष। आत्मा का कैसा मोक्ष और कैसा बंध? इस चिरंतन सत्य को जानने के पश्चात तू कृतकृत्य होकर सुख से असीम और निस्सीम में विचरण कर।'

मासंकल्पविकल्पाभ्यांचित्तंक्षोभय चिन्मय।
उपशाम्यसुखंतिष्ठस्वात्मन्यानंदविग्रहे॥१९॥

भावार्थः हे चिन्मय! संकल्प-विकल्प से चित्त को क्षुब्ध मत कर। चित्त को शांत करके आनंदसहित स्वात्म में सुख से स्थित रह।

विवेचनाः अष्टावक्र पूर्व में इस तथ्य को रेखांकित कर चुके हैं कि चित्त को नियंत्रण में रखना परमावश्यक है। चित्त की चंचलता ही व्यक्ति को विषय-वासनाओं का दास बनाती है। मोहमाया से ग्रस्त होकर वह श्रमसाध्य कठोर कर्म करता है। उसके सारे कर्मों का एक ही ध्येय होता है कि उसे सुख और शांति मिले, जिसे वह कभी प्राप्त नहीं कर पाता। सदा उसके चित्त में संकल्प-विकल्प बनते-बिगड़ते रहते हैं। चित्त को एक पल भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके कारण वह विक्षिप्त हो जाता है।

चित्त की इस चंचलता से व्यक्ति कभी भी आत्मज्ञान से संपन्न नहीं हो पाता। इसी कारण अष्टावक्र चित्त को नियंत्रित करने का परामर्श देते हैं।

राजा जनक का चित्त पर नियंत्रण हो चुका है। चित्त की शून्यता के कारण ही वह आत्मज्ञान की प्राप्ति करने में सक्षम हो सके। अष्टावक्र उनसे कहते हैं–'हे चैतन्यस्वरूप! चित्त में कभी भी वासनाओं का ज्वार मत उठने दे, इसमें डूबने का अर्थ है विषय-वासनाओं की चाह से विक्षिप्त होना। विक्षिप्तता व्यक्ति को कभी भी आत्मज्ञान से संपन्न नहीं होने देती। अत: चित्त पर अंकुश रखना नितांत आवश्यक है, तभी व्यक्ति आत्मज्ञान से पूरित होता है और आत्मा की भांति शुद्धि को प्राप्त होता है।

राजन! तू चित्त को संकल्प-विकल्प के आयोजन मत करने दे। जिसका चित्त कामनाओं से क्षुब्ध होता है, वह उलझनों से घिर जाता है। चित्त की **आकुलता** व्यक्ति को **दुर्बल** और **अशक्त** कर देती है।

राजन! तू चित्त को कामनाशून्य कर। चित्त की अशांति से तू स्वात्म को प्राप्त नहीं हो सकेगा। अत: आत्मा को शांत करके तू आनंदपूर्वक स्वात्म में स्थित रह।'

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय।
आत्मात्वं मुक्त एवासिकिंविमृश्यकरिष्यंसि॥२०॥

भावार्थ: सर्वत्र से ध्यान त्याग दे, हृदय में किंचित भी धारण मत कर। तू आत्मावत मुक्त है, अत: ध्यान क्यों करता है?

विवेचना: ध्यान करना, सोचना या विचार करना ही चित्त की चंचलता है। ऐसा चित्त शीघ्र ही प्रलोभन का शिकार हो जाता है। मनमोहक कुछ दिखाई दिया कि चित्त उसी के ध्यान में रम जाता है। किस प्रकार उसे प्राप्त किया जाए, यही सोचता है। पाने की आकांक्षा में चित्त सदा नए-नए संकल्पों-विकल्पों की संरचना करता है।

अष्टावक्र का दृढ़ मत है कि सृष्टि के भौतिक पदार्थों के प्रति सदा ध्यानस्थ रहना आत्मघात के अतिरिक्त कुछ नहीं। भ्रांतियों में जीकर स्वयं भी उद्भ्रांत हो जाना है। ऐसा व्यक्ति न केवल कामनाओं का ध्यान करता है, बल्कि लाभ-हानि, शत्रु-मित्र, संतान, संबंधी तथा सुख-दुख के प्रति भी ध्यानमग्न होता है।

राजा जनक भी इसी प्रकार ध्यानमग्न होते थे, तब उन्हें भी **भ्रमों** में **सत्य** की अनुभूति होती थी, **भ्रांति** को ही जीवन की **वास्तविकता** मानते थे। आत्मज्ञान के पश्चात उनका यह ध्यान, सोच और विचार तिरोहित हो चुका था।

अष्टावक्र उन्हें परामर्श देते हैं–'राजन! यह ध्यानमग्नता, अर्थात किसी

के प्रति मोहित होना अत्यंत घातक मनोवृत्ति है। यह व्यक्ति को विकारग्रस्त करती है। वह प्रत्येक कर्म मोहमाया के वशीभूत होकर करता है, सदा उपलब्धियों की प्रत्याशा में उन्मत्त होता है। लाभान्वित होता है तो हर्षित होता है, हानिग्रस्तता में उसे विषाद सताता है, जबकि हर्ष व विषाद की अनुभूतियां भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

अतः राजन! तू सदा के लिए ध्यान त्याग दे। तेरे लिए इधर-उधर कुछ भी मोहित नहीं है। तू मोहमाया से मुक्त है। सर्वत्र ऐसा कुछ भी नहीं है, जो ध्यान लगाने योग्य हो। सब ओर से ध्यान भंग कर ले, हृदय मैं किसी प्रकार की कामना या धारणा मत कर। क्योंकि तू आत्मा की भांति मुक्त है, अतः तेरे लिए ध्यान करने को कुछ नहीं।'

❑❑

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥१॥

भावार्थः तात! अनेकानेक शास्त्रों को नाना-प्रकार से कह अथवा सुन, किंतु सबको विस्मृत किए बिना तेरी मुक्ति संभव नहीं।

विवेचनाः शास्त्रों का अभाव नहीं, अनेक धर्म हैं और उनमें अनेक प्रकार के मतों को अभिव्यक्त किया गया है। हर कोई उनकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से करता है।

अनेक ग्रंथ, अनेक विचार और अनेक व्याख्याओं से लोगों में विभ्रम उत्पन्न होता है। सभी ग्रंथ एक-दूसरे के विचारों का खंडन करते हैं और अपने विचारों को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े तर्क प्रस्तुत करते हैं। लोग समझ नहीं पाते कि किस शास्त्र को सत्य मानें और किस विचार का अनुसरण करें। अत: वे अपनी-अपनी सुविधानुसार विचारों का चुनाव करते हैं और उसका अनुपालन करते हैं। यह बड़ी विस्फोटक स्थिति होती है, चूंकि विचारों की विभिन्नता से संघर्ष की संभावना बनी रहती है।

अष्टावक्र का मानना है कि भिन्न-भिन्न शास्त्रों का ज्ञान भूल जाओ और स्वात्म की अनुभूति करो, आत्मज्ञान व मुक्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'तात! आत्म-अज्ञानी ज्ञानार्जन के निमित्त बड़े-बड़े विद्वानों की शरण में जाते हैं, अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन करते हैं। जितने अधिक ग्रंथों का अध्ययन करते हैं या जितने अधिक विद्वानों की शरण में जाते हैं, उतना ही अधिक वे भ्रमों में उलझ जाते हैं। कोई ग्रंथ अथवा विद्वान एकमत नहीं, सब एक-दूसरे से असहमति व्यक्त करते हैं।

सच तो यह है राजन कि ग्रंथों के ज्ञान से सामान्य व्यक्ति प्रभावित होता

है। तू आत्मज्ञान से संपन्न है, अतएव तुझे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। तेरे लिए अनेकानेक शास्त्रों का कहना-सुनना निरर्थक है। इससे तू एकमत नहीं रह सकेगा, **आत्मज्ञान** से ही तू **केंद्रित** हो सकता है। अतः समस्त शास्त्रों के ज्ञान का विस्मरण कर। उस ज्ञान को विस्मृत किए बिना तेरी मुक्ति संभव नहीं।'

भोगं कर्म समाधिं वा कुरुविज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थे रोचयिष्यति॥२॥

भावार्थः हे सुविज्ञ! तू भोग कर, कर्म कर अथवा समाधि लगा, तथापि समस्त आशाओं से निरस्त तेरे चित्त को आत्मस्वरूप ही रुचिकर प्रतीत होगा।

विवेचनाः भोग, कर्म और समाधि के प्रति आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी के दृष्टिकोण में बहुत अंतर है। जब तक शरीर है दोनों भोगते, कर्म करते और ध्यानस्थ होते हैं। किंतु आत्म-अज्ञानी भोग-विलास में आकंठ डूबता है, सारे कर्म केवल एक ही ध्येय से करता है कि भोग-विलास के पदार्थों का अधिकाधिक संग्रह कैसे करे? तदंतर वह मोक्ष की प्रत्याशा में वन-प्रांतर की राह पकड़ता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोगता है, कर्त्तव्य निर्वहन हेतु कर्म करता है। **आत्मस्थ** होना ही उसके लिए **समाधिस्थ** होना है। समाधि के लिए उसे घर-बार त्याग कर वन-प्रांतर में गमन करने की आवश्यकता नहीं।

अष्टावक्र आत्मस्थ होने के बाद की स्थिति के बारे में राजा जनक को बताते हैं—'हे सुविज्ञ! तुझे आत्मा की प्रतीति हो गई है, अतः भोग, कर्म और समाधि को सप्रयास करने की इच्छा से तू सर्वथा मुक्त है। देह के प्रति तेरी आस्था नहीं रही तो भोग, कर्म और समाधि का तेरे लिए अर्थ ही क्या रह गया? तू वही भोगेगा जो प्रारब्ध प्रदत्त होगा, चाहे दुख हो या सुख, तू उसे भोगने का निमित्त भर होगा। कर्म करेगा, किंतु किसी आशा से नहीं। आत्मा को समाधि की आवश्यकता नहीं होती, वह सर्वत्र समाधिस्थ है। इसी प्रकार तू भी आत्मावत होकर अनंत के कण-कण में समाधिस्थ है।

अतः हे सुविज्ञ, सर्वज्ञानी, तू भोग, कर्म और समाधि करते हुए भी निरपेक्ष और निरंजन है, क्योंकि तेरे चित्त की समस्त आशाएं निरस्त हो चुकी हैं। अब तेरे चित्त को आत्मस्वरूप ही रुचिकर है।'

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥३॥

भावार्थः प्राणिमात्र आयास-प्रयास से दुखी है, किंतु कोई इसे नहीं जानता। इस उपदेश (ज्ञान) को जाननेवाला धन्य है, क्योंकि वह परमसुख प्राप्त करता है।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी सारे आयास-प्रयास देह-सुख की प्राप्ति के लिए करता है। अष्टावक्र पूर्व में भी यह मत व्यक्त कर चुके हैं कि भोग-विलास की लिप्सा से व्यक्ति इतना व्याकुल होता है कि सुख के साधन जुटाने के लिए वह कुछ भी करने को आतुर होता है। क्लांत करनेवाला कठिनतम परिश्रम तो करता ही है, साथ ही षड्यंत्र रचने, विश्वासघात करने तथा छल-कपट से भी नहीं चूकता। ऐसा कोई प्रपंच नहीं, जिसे करते हुए उसे कोई झिझक या संताप हो।

यह आश्चर्य की बात है, प्राणिमात्र दुखी है, किंतु इसका मूल कारण जानने का प्रयास कोई नहीं करता। दुखदायक आयास व श्रम को वह जीवन की अनिवार्यता मानता है। नए-नए संकल्पों-विकल्पों के जोड़-तोड़ में लगा रहता है। वह इस बात से अनभिज्ञ होता है कि आकांक्षाओं को मूर्त रूप देने के प्रयास में वह कितने दुख सहता है। दुखों से प्राप्त सुखोपलब्धियों को वह अपने श्रम की सफलता मानकर आह्लादित होता है। जबकि यह आह्लाद, उपलब्धि और कुछ नहीं, उसके मानस की कल्पनाएं होती हैं।

अष्टावक्र इस सूत्र में राजा जनक को दुख का मर्म समझाते हुए कहते हैं–'राजन! जिसे देखो, वही चिंता और दुख से पीड़ित है। उनकी **आंखों** में **कामनाओं** की झलक और **होंठों** पर **तृष्णा** स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वे सुख पाने की चाहत में निरंतर आयास-प्रयास करते हैं। कष्टसाध्य श्रम करके दुख झेलते हैं। उन्हें इस सत्य का किंचित भी भान नहीं होता कि कामनाएं ही उनकी पीड़ाओं, कष्टों और दुखों की जड़ हैं।

राजन! तुझे इस सत्य का भान हो गया है, क्योंकि तू आत्मा के स्वरूप को प्राप्त है। जिसे इस सत्य का भान नहीं, वह आत्मज्ञान के अभाव में, आयासों में लगा रहता है और सतत् दुखी और पीड़ित होता है।

तूने इस उपदेश को हृदयंगम कर लिया है। अतः राजन! तू धन्य है और परमसुख को प्राप्त है।'

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्यसुखंनान्यस्यकस्यचित्॥४॥

भावार्थः जो नेत्रों को खोलने और बंद करने में भी खिन्न होता है, ऐसे अज्ञानी को परम आलस्य में ही सुख मिलता है, किसी अन्य में नहीं।

विवेचना: अष्टावक्र ने यह अवश्य कहा है कि कुछ पाने के लिए अपनी ओर से आयास-प्रयास नहीं करना, क्योंकि सप्रयास किए श्रम से दुख मिलता है। यहां उनका यह अर्थ नहीं है कि श्रम मत करो और निष्क्रिय बनकर भाग्य के आश्रय बैठे रहो। अकर्मण्यता तो व्यक्ति को पंगु बना देती है। यही कारण है कि कई व्यक्ति अकर्मण्य रहकर यह आशा करते हैं कि जिस ईश्वर ने उत्पन्न किया है, वही उनके भरण-पोषण के साधन भी जुटाएगा। यह विचार आत्मज्ञान के अभाव का द्योतक है।

अष्टावक्र कहते हैं कि व्यक्ति को कर्म अवश्य करने चाहिए, किंतु किसी इच्छा की पूर्ति के लिए नहीं, अर्थात उसके कर्म में फल पाने की अभिलाषा न हो। फल पाने की अभिलाषा से आत्म-अज्ञानी कर्म करते हैं, जबकि जिन्हें आत्मज्ञान होता है, उनका कर्म किसी फल का इच्छुक नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि समय आने पर प्रारब्ध से फल मिल जाएगा।

अष्टावक्र राजा जनक को बार-बार यह याद दिलाते हैं–'तू कर्म से पलायन मत कर, किंतु सप्रयास कर्मों में लिप्त मत रह, क्योंकि सप्रयास कर्म करने का स्पष्ट अर्थ है कि तुझे फल पाने की कामना है।' अष्टावक्र संकेत करते हैं कि सप्रयास कर्म आत्मज्ञान के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।

यहां अष्टावक्र पुन: इस तथ्य को दूसरे शब्दों में राजा जनक को समझाते हैं–'हे राजन! सप्रयास कर्म से निषेध का अर्थ यह है कि जो शरीर के स्वाभाविक कर्म हैं, वह स्वत: हीं संपादित होते हैं। तुझे सांस लेने के लिए आयास नहीं करना पड़ता, अंग संचालन शरीर की स्वाभाविक प्रक्रियाएं हैं, जो अनायास संपन्न होती है और व्यक्ति को कोई कष्ट भी नहीं होता। आयास-प्रयास करने से निस्संदेह व्यक्ति दुख झेलता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि पलकें झपकाने में भी व्यक्ति दुखानुभूति करे।

राजन! जिस व्यक्ति को आंखें खोलने या बंद करने के कर्म से खिन्नता होती है, वह परम आलसी होता है। नेत्र के उन्मेष और निमेष मात्र से ही जो कष्ट का अनुभव करे, उससे कोई कर्म करने की आशा कैसे की जा सकती है। ऐसे अकर्मण्य को परम आलस्य में ही सुख मिलता है, इस पर वह भी प्रारब्ध से फल पाने की आशा करता है। प्रारब्ध उसे ही फल देता है, जो निष्काम कर्म करता है।'

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मन:।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्।।५।।

भावार्थ: यह करणीय है और वह अकरणीय है, इससे मन जब द्वंद्वमुक्त होता है, तब वह धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष से निरपेक्ष होता है।

विवेचना: जो व्यक्ति भौतिकता से मोहित होता है, सुख-सुविधाएं जुटाना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होता है। वह जो कुछ भी करता है, उसमें लाभ-हानि के प्रति बहुत सतर्क होता है। वह इस प्रकार के दांव खेलता है, जिससे लाभ सिद्ध हो, हानि की संभावना न हो।

लाभ-हानि के भंवरजाल में फंसा व्यक्ति ही यह सोचता है कि कौन-सा कर्म करना चाहिए और कौन-सा नहीं। उसे ही यह भ्रांति होती है कि यह करणीय है और वह अकरणीय है। वही कर्म-अपकर्म की चिंता में घुलता रहता है। करणीय-अकरणीय में भेद करने के कारण वह इतना उलझ जाता है कि जीवन की सार्थकता का भी अनुभव नहीं कर पाता। लाभ-हानि का द्वंद्व उसे रुग्ण और उद्विग्न बना देता है। यह उसके आत्म-अज्ञानी होने का प्रमाण है।

आत्मज्ञानी करणीय-अकरणीय और लाभ-हानि के मायाजाल को काट चुका होता है। लाभ-हानि की जब उसे प्रत्याशा ही नहीं होती तो 'यह करना चाहिए' और 'वह नहीं करना चाहिए', के अंतर से वह मुक्त होता है। 'करना चाहिए' और 'नहीं करना चाहिए' कर्ताभाव है, प्रयास है, जबकि आत्मज्ञानी प्रयासरहित होता है, उसमें कर्ताभाव समाप्त हो चुका होता है।

इस तथ्य का मर्म समझाते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! तू आत्मज्ञानी होकर निज प्रकाश से आलोकित है, तेरी कामनाएं तिरोहित हो चुकी हैं। अतः तेरा मन इस द्वंद्व से सर्वथा मुक्त हो गया है कि **क्या करना चाहिए, क्या नहीं**?

राजन! इसे सदा याद रखना कि करणीय-अकरणीय का जो अंतर नहीं करता और जिसका मन इस द्वंद्व से मुक्त होता है, उसे किसी प्रकार की कामना नहीं सताती। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रत्याशा नहीं करता, क्योंकि वह आत्मावत होकर निरपेक्ष होता है। राजन! तुम भी निरपेक्षता को प्राप्त हो, अतएव मोक्ष को भी प्राप्त हो।'

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषय-लोलुपः।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥६॥

भावार्थ: विरक्त व्यक्ति विषय-द्वेषी और विषय-लोलुप व्यक्ति रागी कहलाता है। किंतु ग्रहण और मोक्षविहीन व्यक्ति न विरक्त है और न रागवान।

विवेचना: जिन व्यक्तियों को विषय-वासनाओं की प्रतीति होती है, वही सुविधानुसार कभी विषयद्वेषी बनकर विरक्त हो जाते हैं तो कभी विषय-लोलुप बनकर रागों और अनुरागों में लीन हो जाते हैं। आत्म-अज्ञानी सदा विषय-द्वेष

और विषय-लोलुपता की सीमित पारिधि में विचरण करता है और विषय-वासनाओं से कभी मुक्त होने का प्रयास नहीं करता। **खिन्नमना** और **रुग्ण** है तो **विषय से विरक्ति** और **प्रसन्नमना** और **स्वस्थ** है तो **विषय-लोलुपता**—इन्हीं दो छोरों में से कभी एक का चुनाव करता है, कभी दूसरे का।

सच तो यह है कि सुविधानुसार ऐसी विरक्ति और लोलुपता से आत्म-अज्ञानी स्वयं को ही धोखा देता है। उसमें विरक्ति और मोह की वास्तविकता के ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है।

आत्मज्ञानी जानता है कि वासना से विरक्ति क्या है और वासना से लोलुपता का क्या अर्थ है। इसका सबसे बड़ा कारण यह होता है कि उसे वासना की प्रतीति ही नहीं होती, उसमें विषय-वासनाओं के प्रति रुचि तिरोहित हो चुकी होती है। वह आत्मा से संपृक्त होकर दोषमुक्त होता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'हे तात! तू आत्मा का अंश बनने की अनुभूति से देदीप्यमान है, तू न विषय-द्वेषी है और न विषय-लोलुप, क्योंकि तेरे मन की वासनाओं का नाश हो गया है। जिनकी वासनाओं का नाश नहीं होता, वही विरक्त और रागवान की अनुभूतियों के भंवरजाल में डूबते-उतराते हैं। उन्हीं की दृष्टि विरक्त है, जो विषय-द्वेषी हैं और रागी वह है जो विषय-लोलुप है।

किंतु जो आत्मज्ञानी होता है, वह न ग्रहण करने की कामना करता है, न मोक्ष की। **ग्रहण** का अर्थ है **रागी** होना और **मोक्ष** का अर्थ है **विरक्त** होना। किंतु आत्मज्ञानी का क्या ग्रहण और क्या मोक्ष। वह आत्मरूपी न विरक्त है और न रागवान।'

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुरः।
स्पृहाजीवतियावद्वै निर्विचारदशास्पदम्॥७॥

भावार्थः जब तक निर्विचार की दशा बनी हुई है, तब तक कामना और ग्रहण-त्याग की भावना जीवित है। यही सांसारिक वटवृक्ष के अंकुर हैं।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी निस्संदेह अविवेकी होता है। उसमें सत्य व भ्रम में भेद करने की क्षमता का अभाव होता है। यही निर्विचार की दशा है। **विचारहीनता** व्यक्ति को **स्वेच्छाचारी** बनाती है। वह दूसरों के भले-बुरे की नहीं सोचता। स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ भी करने को तैयार होता है। उसकी कामनाएं कभी समाप्त नहीं होतीं। क्या ग्रहण करे और किसका त्याग करे, इसी उधेड़-बुन में उसका समय व्यतीत होता है।

आत्मज्ञानी की दृष्टि में ग्रहण और त्याग का कोई महत्त्व नहीं। ग्रहण-त्याग

के विचार उसे सताते हैं, जो लाभ-हानि के द्वंद्व से पीड़ित होता है। ऐसे व्यक्ति का चित्त सदा कामनाओं से दग्ध रहता है। चित्त की कामनाग्नि उसके सर्वांग को सुलगाती रहती है। विषय-भोग की संलिप्ति से मुक्ति उसके लिए संभव नहीं होती। वह नहीं जानता कि कामना और ग्राह्य-त्याज्य और कुछ नहीं, सांसारिक वटवृक्ष के अंकुर हैं। सांसारिक वटवृक्ष की घनीभूत अंधकारमय छाया में वह जीवन के उज्ज्वल सत्य के कभी दर्शन नहीं कर पाता।

राजा जनक जीवन के उज्ज्वल सत्य के दर्शन कर पाने में सफल हो चुके थे। उनका चित्त निरपेक्ष था, अतः कामनाएं उन्हें दग्ध नहीं करती थीं।

अष्टावक्र उनसे कहते हैं—'हे राजन! सांसारिक बंधनों में वही व्यक्ति जकड़ा जाता है, जिसके चित्त में कामनाओं की आंधी चलती है। ये कामनाएं कुछ नहीं सांसारिक वटवृक्ष के अंकुर होते हैं, जिससे व्यक्ति निर्विचार की दशा को प्राप्त होता है। विवेकहीनता के कारण वह कामनासिद्धि को अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है और ग्रहण व त्याग की सीमित परिधि में अपना जीवन निरर्थक गंवा देता है।'

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः॥८॥

भावार्थः प्रवृत्ति से राग और निवृत्ति से द्वेष पनपता है, अतः ज्ञान संपन्न व्यक्ति को निर्द्वंद्व होकर बालक की भांति अवस्थित रहना चाहिए।

विवेचनाः यह प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या है? इसे भी ग्रहण और त्याग की भावना से पृथक नहीं माना जा सकता। **ग्रहण** की भावना ही व्यक्ति को **प्रवृत्तियों** की ओर आकृष्ट करती है, जबकि **त्याग** से **निवृत्ति** की इच्छा होती है। व्यक्ति भोग-विलास से उबकर निवृत्ति का, मुक्ति मार्ग अपनाने को विह्वल होता है।

अष्टावक्र की दृष्टि में प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई अंतर नहीं। दोनों मन के विकार हैं, जबकि आत्म-अज्ञानी की दृष्टि में निवृत्ति और प्रवृत्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न है। वह सोचता है कि प्रवृत्तियां अर्थात भोग-विलास की कामना करना व्यक्ति के लिए सहज व स्वाभाविक है। चित्त में भोगने की इच्छा होती है तो उसका दमन क्यों किया जाए? यही तो जीवन है, इच्छाएं ही तो व्यक्ति को विकास की प्रेरणा देती हैं। उसकी दृष्टि में निवृत्ति यानी इच्छामुक्ति की कामना तो ऐसा व्यक्ति करता है, जो जीवन के संघर्षों से पराजित हो जाता है अथवा क्लांत होकर भोग-विलासों से मुंह फेर लेता है। जब तक जीवन है और जब तक क्षमता है, इच्छाओं का सम्मान करना आवश्यक है।

अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति की भावनाओं का उदय भी कामनाओं के कारण होता है और कामनाएं ही सांसारिक बंधन का भी कारण हैं। कामनाओं की मुक्ति से आत्मज्ञान की प्राप्ति सहज संभव है। आत्मज्ञान के अभाव में व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्ति की निरर्थक और भ्रांत धारणाओं से द्वंद्वग्रस्त रहता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! अज्ञानी सोचता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दो भिन्न-भिन्न दशाएं हैं। प्रवृत्ति की भावना से व्यक्ति भोगोन्मुख होता है, जबकि निवृत्ति की भावना उसे सर्वस्व त्यागने को उकसाती है। राजन! इन दोनों दशाओं का प्रेरणास्रोत कामना ही है। चित्त में **कामना** न हो तो **प्रवृत्ति** और **निवृत्ति** का बोध भी समाप्त हो जाता है। कामनारहित चित्त से व्यक्ति आत्मस्वरूप हो जाता है।

राजन! तू आत्मस्वरूप को प्राप्त है, अतः तू प्रवृत्ति और निवृत्ति से मुक्त है। प्रवृत्ति व्यक्ति को राग-अनुराग से संपृक्त करती है और निवृत्ति से व्यक्ति को वासनाओं से द्वेष हो जाता है। जिसे प्रवृत्ति का बोध होता है, वह निरंतर वासनाओं में लिप्त होता है, जबकि निवृत्ति का बोध उसे वासनाओं से दूर रहने की चेतावनी देता है। राजन! यह जो राग और द्वेष की भावना है, इसे ही चित्त की चंचलता कहा जाता है, यही आत्म-अज्ञान है।

व्यक्ति की बुद्धिमानी इसी में ही है कि प्रवृत्ति व निवृत्ति के द्वंद्व में न उलझे। जीवन को सहजता व स्वाभाविकता से व्यतीत करे। आसक्ति और निरासक्ति की काल्पनिक धारणाओं और भ्रांतियों में स्वयं को व्यथित न करे। द्वेष और राग से व्यक्ति की मानसिकता दुर्बल हो जाती है। उसका स्वयं पर अंकुश नहीं रहता, वह चित्त के आदेशों का अनुसरण करता है।

राजन! बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो ग्रहण-त्याग तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति के भ्रमों से सर्वथा मुक्त हो जाए। जिस प्रकार बालक निर्द्वंद्व और निश्चिंत होकर जीवन जीता है, बुद्धिमान व्यक्ति भी निर्द्वंद्व होकर उसी स्थिति को प्राप्त करे।

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।
वीतरागो हि निर्मुक्तस्तस्मिन्नपि न खिद्यति॥९॥

भावार्थः रागी को दुख से मुक्ति पाने के लिए संसार त्यागने की इच्छा होती है। वीतरागी दुखरहित होते हुए भी संसार में रहकर खेद की अनुभूति नहीं करता।

विवेचनाः अष्टावक्र यहां पुनः बुद्धिमान और अविवेकी व्यक्ति के मध्य अंतर को रेखांकित करते हैं।

विषय-वासनाओं में जो व्यक्ति प्रवृत्त होता है, उसकी विषयासक्ति निरंतर बढ़ती जाती है। कामनाओं के वशीभूत वह सदा भोग-विलास की लालसा करता है। किंतु कब तक? एक-न-एक दिन उसे निस्संदेह भोग-विलास से अरुचि हो जाती है। तदंतर रागी को दुख सताता है। इस दुख के कई कारण हो सकते हैं। अक्षमता के कारण न भोग पाने का दुख। वासनाओं पर अंकुश न लगा पाने का दुख। भोगलिप्सा का दुख।

रागी को दुख व्यथित करता है तो उसे लगता है, जीवन को व्यर्थ ही गंवा दिया। क्षणिक आनंद के लोभ में वह अपना कितना बड़ा अहित कर बैठा। वह सोचता है, इहलोक तो विनष्ट हो ही गया, अब परलोक की सुध लेनी चाहिए अन्यथा नरक भोगना पड़ेगा। इस प्रकार वह दुखों से घबराकर संसार त्यागने की इच्छा करता है। उसे सारा संसार मिथ्या प्रतीत होता है। वह मोहमाया से दूर भागना चाहता है कि कहीं पुनः कामनाओं का आकर्षण उसे न लुभाए।

किंतु क्या संसार त्यागने से ही वह मुक्त हो जाता है? नहीं, जब तक मुक्ति की कामना है, वह सांसारिक बंधनों से जकड़ा हुआ है।

अष्टावक्र मुक्ति के लिए संसार त्यागने का परामर्श नहीं देते। उनकी दृष्टि में मुक्ति की कामना से संसार त्यागने की इच्छा भी कामना है और कामनाग्रस्त व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। वह **मुक्ति** के लिए मात्र **कामना से मुक्त** होने का परामर्श देते हैं। रागी कभी भी कामना से संबंध विच्छेद नहीं कर पाता, जबकि वीतरागी कामनारहित होकर एकात्मज्ञान को भी प्राप्त हो सकता है।

इसी कारण वह राजा जनक से कहते हैं—'बालक के चित्त में आकांक्षाओं के प्रति मोह नहीं होता। वह मात्र अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं पर आश्रित रहता है और प्रारब्ध से उनकी पूर्ति भी करता है। इसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति प्रारब्ध के भोगों पर आश्रित होता है, कामनाओं से प्रेरित और संचालित नहीं। ऐसा व्यक्ति **वीतरागी** होता है।

राजन! रागी के चित्त में सदा कामनाओं का ज्वालामुखी धधकता रहता है। एक दिन ऐसा भी आता है, जब इसकी आंच वह सह नहीं पाता और उसका अंग-अंग दग्ध हो उठता है। जबकि वीतरागी सदा शांत, निर्मल और शीतल होता है।

राजन! तू भी शांत, निर्मल और शीतल हो गया है, क्योंकि तूने वीतरागी होने की सार्थकता समझ ली है। वीतराग के कारण ही तू आत्मा की प्रतीति करने में समर्थ हुआ है।

वीतरागी भी संसार में रहता है किंतु सांसारिक बंधन से जकड़ा नहीं जाता। वह किसी बंधन में नहीं है, अतः उसे कोई दुख भी नहीं सताता। उसे निश्चय है कि रागों-अनुरागों का उस पर आक्रमण नहीं हो सकता। वह स्वाभाविक और सहज जीवन व्यतीत करता है। उसे कुछ पाने की इच्छा नहीं होती, अतः वह कोई प्रयास भी नहीं करता। वह प्रारब्ध पर आश्रित होता है, अतः उसे कोई द्वंद्व नहीं सताता। संसार में रहकर भी संसार से निर्लिप्त रहना ही वीतराग है।

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ॥१०॥

भावार्थः जिसे मोक्ष के प्रति अभिमान है, देह के प्रति ममता है, वह न ज्ञानी है और न योगी। वह केवल दुखभागी है।

विवेचनाः जिन्हें मुक्ति की भ्रांति होती है, उन्हें लगता है, मानो वे ज्ञान को प्राप्त हो गए हैं। अपने मोक्ष के प्रति उन्हें अभिमान होता है। ऐसे लोग अपने ज्ञानी होने की घोषणा करते हैं, उन्हें अपने अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः जिसे वे अपनी मुक्ति समझते हैं, वह उनकी स्वच्छंदता होती है। जो सचमुच मुक्त होता है, वह कभी अभिमान की अनुभूति नहीं करता। मोक्ष को प्राप्त व्यक्ति स्वयं को भूलकर आत्मस्वरूप हो जाता है। वह **आत्मा** होता है, **देह** नहीं।

जिन्हें देह से मोह होता है, वे देह को सुख पहुंचाने के लिए भांति-भांति के उपक्रम करते हैं। ऐसे लोग योग-साधना कम करते हैं और स्वयं को योगी मानते हैं। अष्टावक्र का कहना है कि जो देह के प्रति मोहग्रस्त है, वह योगी कैसे हो सकता है?

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! मोक्ष को प्राप्त व्यक्ति कभी अभिमानी नहीं हो सकता। वह कभी मोक्ष की कामना भी नहीं करता। आत्मज्ञान के बाद वह स्वयं से मुक्त हो जाता है। मोक्ष से अभिमान करनेवाले व्यक्ति की तरह देह से ममता करनेवाला व्यक्ति भी आत्मज्ञान के अभाव में भ्रांतियों को सत्य मानने की भूल करता है। वह सोचता है कि योग करके कोई भी योगी बन सकता है।

राजन! सच तो यह है कि मोक्ष से अभिमानी व्यक्ति तथा देह से ममता रखनेवाला व्यक्ति न ज्ञानी होता है और न योगी। वह केवल दुख भोगता है। वह जिन्हें सुख मानता है, उसे भोगते हुए भी वह केवल दुखों को प्राप्त होता है।'

हरो यद्युपदष्टा ते हरिः **कमलजोऽपि वा।**
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥११॥

भावार्थः यदि तुझे शिव, विष्णु और ब्रह्मा भी उपदेश दें, तो भी बिना सर्वस्व का विस्मरण किए तुझे शांति प्राप्त नहीं होगी।

विवेचनाः भले ही गुरु महाज्ञानी हो, किंतु उपदेश सुनते वक्त शिष्य का ध्यान कहीं और लगा हुआ हो तो उसे ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती। सांसारिक मोहों में संलिप्त व्यक्ति को साक्षात आदिदेव भी उपदेश देने आएं तो वह उन्हें सुनने के प्रति इतना ध्यानमग्न नहीं होगा, जितना लाभ-हानि का अर्थशास्त्र उसे रुचिकर प्रतीत होगा।

सच तो यह है कि ज्ञान पाने की इच्छा से लोग गुरु की शरण में आते हैं, किंतु चिंताएं घर में नहीं छोड़ते, उन्हें भी साथ लाते हैं। ऐसी स्थिति में उनका मस्तिष्क ज्ञान की उपलब्धि कैसे कर सकता है?

ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इस बारे में राजा जनक को अष्टावक्र उपदेश देते हैं—'हे राजन! ज्ञान का सर्वाधिक सरल उपाय है, चिंतामुक्त होकर गुरु का उपदेश ग्रहण करना। यह सरल उपाय तो है, किंतु चिंतामुक्त होना सर्वाधिक कठिन है। ऐसी स्थिति में उपदेश सुनते-सुनते शिष्य का ध्यान भटक जाता है और वह सांसारिक गतिविधियों में लिप्त चिंताग्रस्त हो जाता है। ऐसा शिष्य सदा ज्ञान से वंचित रहता है।

राजन! यदि तेरा ध्यान भटका हुआ है, तेरा मस्तिष्क सांसारिक चिंताओं को भूल पाने में असमर्थ है तो ऐसी स्थिति में तुझे ज्ञान प्रदान करने के लिए यदि शिव, विष्णु और ब्रह्मा भी उपदेश दें तो तू अज्ञान को ही प्राप्त रहेगा।

राजन! **ज्ञानार्जन** के लिए नितांत आवश्यक है कि तू **चिंतामुक्त** हो जा, सांसारिक चिंताओं को भूल जा, सर्वस्व का विस्मरण कर, क्योंकि बिना विस्मरण तुझे शांति नहीं मिल सकती।'

□□

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफल तथा।
तृप्तः स्वच्छेंद्रियो नित्यमेकाकीरमतेतुयः॥१॥

भावार्थः जो तृप्त है, जिसकी इंद्रियां स्वच्छ हैं, और जो नित्य एकाकी रमता है, वही ज्ञानफल और योगाभ्यास का फल प्राप्त करता है।

विवेचनाः पूर्व सूत्र में अष्टावक्र ने बताया था कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वस्व विस्मरण करना अपरिहार्य है। इस सूत्र में अष्टावक्र यह बताते हैं कि सर्वस्व विस्मरण कैसे किया जा सकता है।

जो व्यक्ति विषयासक्त है, जिसका चित्त **वासनाओं** से आच्छादित है, वह सदा **अतृप्त** होता है। वह कामनाओं का विस्मरण नहीं कर पाता, अतः **अज्ञान** से कभी मुक्त नहीं हो पाता।

जिसने कामनाओं को त्याग दिया है, वह निस्संदेह तृप्त होता है। तृप्ति की अनुभूति उसे इच्छारहित बना देती है, अतः उसकी इंद्रियां निर्मल बनी रहती हैं, वह भोग-विलास में नहीं रमता, उसे अकेले में ही सुख मिलता है। यही है सर्वस्व विस्मरण का एकमात्र उपाय। तदंतर ज्ञान भी मिलता है, और ज्ञान का फल भी।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'मैं पहले ही तुझे बता चुका हूं कि मोक्ष से अभिमान करनेवाला ज्ञानी नहीं हो सकता, और न देह से ममता करनेवाला योगी। योगी और ज्ञानी वही होता है, जिसने देहसुख को भुला दिया है। देहसुख की लालसा नहीं रहेगी तो व्यक्ति स्वयमेव कामनारहित हो जाएगा।

राजन! कामनाविहीन व्यक्ति को अतृप्ति कभी नहीं सताती, उसकी इंद्रियां सदैव स्वच्छ रहती हैं, वह किसी पर आश्रित नहीं होता, एकाकी रमण करता है।

राजन! ऐसा व्यक्ति ही ज्ञानी और योगी होता है। उसे ही ज्ञानफल प्राप्त होता है। वही योगाभ्यास का फल ग्रहण कर पाने में समर्थ होता है।'

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हंत खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्।।२।।

भावार्थः हे हंत! तत्त्वज्ञ व्यक्ति जगत से विषण्ण नहीं होता, क्योंकि एक उसी से यह ब्रह्मांड मंडल पूर्णता को प्राप्त है।

विवेचनाः हर्ष-विषाद की भ्रांत भावनाएं वही अनुभूत करता है, जो जगत से स्वयं को पृथक मानता है। उसकी दृष्टि में सारे जगत व जगत के समस्त जीव-जड़ की अपनी-अपनी सत्ता है, किसी का परस्पर संबंध नहीं, सब निज के लिए जीते हैं, सबके अपनी स्वार्थपूर्ति की चिंता है। सबकी सत्ता ईश्वर के अधीन है, सब ईश्वर की इच्छानुसार विचरण करते हैं। ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता।

वस्तुतः द्वैत दर्शन के कारण ही व्यक्ति दुख-सुख और लाभ-हानि की कल्पनाएं करता है। जगत की लुब्धता कभी उसे विस्मित करती है तो कभी उससे विषण्णता का बोध होता है। वह इस सत्य का साक्षात्कार कर पाने में सर्वथा असमर्थ होता है कि **वह** जगत से है और **जगत** उससे, तो वह किसके प्रति विस्मित हो अथवा किसके प्रति विषण्ण।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'हे हंत! तू तत्त्वज्ञ को प्राप्त है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में जगत की, व जगत के जीव-जड़ की अलग-अलग सत्ता नहीं है, सबमें **आत्मा** है और आत्मा में **सब** हैं। सर्वस्व जगत एकात्म और आत्मामय है।

राजन! इस तत्त्वज्ञान से जो व्यक्ति परिचित हो जाता है, वह मोहमाया से मुक्त हो जाता है। व्यष्टि में समष्टि व्याप्त है तो वह किससे मोह करे और किसके प्रति निर्मोही बने। जगत की रम्यता उसे मुग्ध नहीं करती, न वह उससे खिन्नता अनुभव करता है। वह भलीभांति जानता है, जगत उससे भिन्न नहीं, एक उसी से यह जगत ही क्या–ब्रह्मांड मंडल तक पूर्णता को प्राप्त है, अतः उसका विषण्णता व खिन्नता का बोध ही समाप्त हो जाता है।

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयंत्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभंनिम्बपल्लवाः।।३।।

भावार्थः किसी भी प्रकार के विषय आत्मस्वरूप को कभी हर्षित नहीं करते, जिस प्रकार सल्लकी के पल्लवों को पसंद करनेवाला हाथी नीम के पल्लवों से हर्षित नहीं होता।

विवेचना: आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी की रुचियों में भारी अंतर होता है। आत्मज्ञानी विषय-वासनाओं से असंपृक्त है, जबकि आत्म-अज्ञानी को विषयासक्ति में ही आनंदानुभूति होती है। आत्मज्ञानी सर्वव्यापी होता है तो आत्म-अज्ञानी स्वयं तक ही सीमित होता है।

आत्म-अज्ञानी भोग-विलासों से हर्षित होता है और अभाव उसे शोकमग्न कर देते हैं। इसके विपरीत आत्मज्ञानी हर्ष-शोक के भावों से अनभिज्ञ होता है। **स्वयं में आत्मा** की प्रतीति कर सबसे निर्लेप हो जाता है, वह सबकुछ विस्मृत कर चुका होता है। आत्मज्ञानी का कुछ याद रखने की आवश्यकता नहीं, आत्मज्ञान के बाद उसे अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं रहती। हां, आत्म-अज्ञानी अवश्य ज्ञानार्जन करना चाहता है, किंतु विषयासक्ति के कारण इसमें सफल नहीं हो पाता।

अष्टावक्र ज्ञानी और अज्ञानी के इसी रुचि भेद को समझाते हुए राजा जनक से कहते हैं–'राजन! आत्मस्वरूप व्यक्ति विशुद्ध और अपेक्षारहित होता है, उसे किसी प्रकार की लालसा नहीं सताती। वह मोहग्रस्त नहीं होता, किसी प्रकार की निर्वासना उसे खिन्न नहीं करती। वह वासना और निर्वासना के बोध से ऊपर उठ जाता है। आत्मलीनता की स्थिति में उसे हर्ष और खिन्नता की अनुभूति नहीं होती। वासनाएं उसे मुंह चिढ़ाती लगती हैं, जबकि आत्मस्थिति प्रीतिकर। आत्मज्ञानी का स्वभाव ठीक वैसा ही होता है, जैसे उस हाथी का, जिसे सल्लकी के पत्ते तो प्रीतिकर लगते हैं, जबकि नीम के पत्ते अरुचिकर, नीम के पत्तों से वह हर्षित नहीं होता।'

यस्तु भोगुषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः॥४॥

भावार्थ: जो भुक्त भोगों से अधिवासित है मुग्ध नहीं होता और वह जो अभुक्त के प्रति निराकांक्षी है, ऐसा व्यक्ति मिलना इस भवसागर में दुर्लभ है।

विवेचना: सामान्यतः ऐसा होता है कि जिसे भोगों का स्वाद प्रीतिकर लगे, उसकी भोगों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। भोगे हुए भोगों से मुग्ध होता हुआ वह निरंतर भोग कामना से दग्ध होता जाता है। जो भोग उसने अभी तक नहीं भोगे हैं, उनको भोगने के लिए वह कुछ भी करने को आतुर रहता है। वह किसी का विरोध नहीं सहन कर सकता, कोई बाधा उसे आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती। जो भी भोग्य है, उसे वह उपलब्ध करना चाहता है।

अष्टावक्र का कथन है कि भोगलिप्सा से संलिप्त लोग तो बहुत मिल जाएंगे, किंतु ऐसे व्यक्ति का दर्शन निस्संदेह दुर्लभ है, जो भोगों में आसक्त नहीं होता।

वह राजा अष्टावक्र से कहते हैं—'राजन! जो आत्मज्ञानी है, वह प्रारब्ध से प्राप्त भोगों का सेवन करता है उसे जो मिलता है, उसी में संतुष्ट रहता है। वह भुक्त भोगों से मुग्ध होकर उनके प्रति आसक्त नहीं होता। **लोभ** से **आसक्ति** पैदा होती है, जबकि **आत्मज्ञान** के सम्मुख लोभ का विकार टिक ही नहीं सकता।

राजन! जब वह भुक्त भोगों से मुग्ध नहीं होता, उसे आसक्ति अनुभव नहीं होती तो अभुक्त भोगों के प्रति अभिलिप्सा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वह इनसे सर्वथा निराकांक्षित होता है।

राजन! सच कहता हूं, भुक्त-अभुक्त भोगों के प्रति ऐसे निर्लेप आत्मज्ञानी के दर्शन इस जगत में दुर्लभ ही हैं।'

बुभुक्षुरिहसंसारे मुमुक्षुरपि द्रश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः॥५॥

भावार्थः इस संसार में भोगेच्छा और मोक्षेच्छा वाले तो बहुत दृष्टिगोचर होते हैं, किंतु भोगेच्छा और मोक्षेच्छा से निराकांक्षित महाशय विरले ही होते हैं।

विवेचनाः यह विचित्र विरोधाभास है कि जन-जन में भोग-विलास की इच्छा कूट-कूटकर भरी हुई है। वह भौतिक उपादानों की भव्यता से लुब्ध होकर पलक झपकते ही सबकुछ प्राप्त कर लेना चाहता है। उसका एक-एक पल वासनापूर्ति के उपायों को सोचते हुए व्यतीत होता है। एक ओर भोगेच्छाएं उसे व्याकुल करती हैं, दूसरी ओर मोक्ष की इच्छा से भी वह उत्कंठित होता है। **भोगेच्छा** और **मोक्षेच्छा** दोनों एक-दूसरे से विपरीत दो भिन्न-भिन्न इच्छाएं हैं किंतु व्यक्ति इन दोनों इच्छाओं से मुक्त नहीं। सोचता है, इहलोक में भोगों को आकंठ भोग भी ले, तदंतर मोक्ष सिद्ध कर परलोक को भी संवार ले।

यह परस्पर विरोधी इच्छाएं भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस पर व्यक्ति इनकी आकांक्षा से स्वयं को भरमाता रहता है, जैसे वह परमात्मा को धोखा देने में सफल हो जाएगा। जबकि इससे अनभिज्ञ होता है कि वह स्वयं को ही धोखा दे रहा है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! तू चारों ओर देख, तुझे ऐसे ही व्यक्ति दृष्टिगोचर होंगे जो भोगेच्छा और मोक्षेच्छा से पीड़ित हैं। ऐसे लोग न भोग से छुटकारा पाते हैं और न मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं। राजन! जो **भोगी** है, वह कभी **मोक्ष** का वरदान नहीं पाते। मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति भोगरहित हो और स्वयं में आत्मा का साक्षात्कार करे।

राजन! जो स्वयं में आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह भोग की

कामना से मुक्त ही नहीं होता, बल्कि मोक्ष की इच्छा भी नहीं करता, इस पर भी मोक्ष को प्राप्त होता है। किंतु राजन! भोग और मोक्ष की आकांक्षा से रहित महाशय विरला ही होता है। तू भी ऐसा ही विरला महाशय है।'

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि॥६॥

भावार्थः जो उदारचित्त होता है, वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जन्म, मरण तथा हेय-उपादेय की भावना से मुक्त होता है।

विवेचनाः सारे जगत के लोग धर्म-कर्म, काम-मोक्ष, जन्म-मरण, तथा हेय-उपादेय की भावनाओं से पीड़ित हैं। लोग जन्म लेते हैं तो खुशियां मनाई जाती हैं। जन्म लेनेवाला आजीवन मृत्यु के भय के साए में जीता है। वह जानता है कि उसका मरण अवश्यंभावी है, जीवन क्षणभंगुर और अनित्य है, इस पर भी धर्म, कर्म और काम में संलिप्त रहता है। विकारों से संलिप्तता उसे मोक्ष की इच्छा से दूर नहीं ले जाती, बल्कि वह जितना वासनासक्त होता है, उतना ही मोक्षेच्छा की आकांक्षा सिर उठाती है। जब तक उसका शरीर भोग-विलास में सक्षम होता है, तब तक भोग-विलास में उसकी प्रीति बनी रहती है, अशक्त और जर्जर होने की अवस्था में भी मोक्ष की लालसा में सबकुछ त्याग कर कठिन और दुष्कर साधनाओं में प्रवृत्त होता है। इस स्थिति में हेय-उपादेय, लाभ-हानि और त्याग-ग्रहण की चिंताएं उसका पीछा नहीं छोड़ती, अतः उसका मोक्ष भी संभव नहीं।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! धर्म, कर्म, काम, मोक्ष, जन्म, मरण तथा हेय-उपादेय भावनाएं उसे ही सताती हैं, जिसका चित्त **अनुदार** होता है। अनुदार चित्त व्यक्ति को निरंकुश, अभिमानी और स्वेच्छाचारी बना देता है। किसी के प्रति वह उत्तरदायी नहीं होता। वह केवल अपने सुख के बारे में चिंतित होता है।

राजन! जिसे आत्मस्वरूप का आभास होता है, उसका चित्त अनुदार नहीं रह पाता। चित्त की **उदारता** से उसे सबमें अपना ही प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। उदार चित्त में धर्म, कर्म, काम, मोक्ष, जन्म, मरण तथा हेय-उपादेय जैसी भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं। वह इन सभी से मुक्त होकर स्वतः मोक्ष को प्राप्त होता है, जन्म-मरण के मायाजाल से मुक्त।'

वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथाजीविकयातस्माद्धन्यआस्ते यथासुखम्॥७॥

भावार्थः जिसे विश्व के विलय की वांछा नहीं, जिसे विश्व की स्थिति

का द्वेष नहीं, ऐसा धन्य व्यक्ति यथाजीविका से यथासुख को प्राप्त है।

विवेचनाः ऐसे विचारों का भी अभाव नहीं, जो कहते हैं, सारे विकारों, पापों और लोभों की जड़ विश्व है। विश्व न रहे तो विकृतियां भी समाप्त हो जाएंगी। अतः वे चाहते हैं कि विश्व का विलय हो जाए, अर्थात नाश का नाश ही समस्त विकारों की एकमात्र औषधि है। ऐसे ही लोग संभवतः सिरदर्द की मुक्ति के लिए सिर को ही धड़ से अलग करने का परामर्श दे सकते हैं।

अष्टावक्र विश्व को विकृतियों से मुक्त करने के लिए विश्व के नाश की परिकल्पना नहीं करते, वह चित्त को उदार बनाने का परामर्श देते हैं, क्योंकि चित्त की उदारता से ही व्यक्ति को आत्मा की अनुभूति होती है। आत्मामय व्यक्ति देह के बोध से मुक्त होता है और विश्व उसे विकाररहित दिखता है, इसलिए उस पर विकारों का कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'राजन! **आत्मदर्शी** को सर्वत्र **आत्मा** के ही दर्शन होते हैं, **विकारों** के नहीं। अतः वह विश्व के विलय की आकांक्षा नहीं करता। यदि व्यक्ति आत्मलीन हो जाए तो उसके विकारों का स्वतः नाश हो जाएगा। अतः विश्व के नाश की वांछा स्वयं में विनाशक है।

राजन! जो विश्व का नाश नहीं चाहता, जिसे विश्व के होने से कोई खिन्नता नहीं, वह विकारमुक्त है, उसका चित्त उदार है। विकार **विश्व** में नहीं, **व्यक्ति** के चित्त में होते हैं। ऐसी चित्तजयी आत्मावत व्यक्ति न तो विश्व के होने से विक्षुब्ध होता है और न विश्व के ध्वंस की कामना करता है, अतः वह धन्य होता है।

राजन! ऐसा धन्य व्यक्ति अनावश्यक जीविका के प्रयास नहीं करता, बल्कि यथाजीविका में संतुष्ट रहता है और इसलिए वह यथासुख को प्राप्त होता है।'

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशंजिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥८॥

भावार्थः 'मैं तत्त्वज्ञान से कृतार्थ हुआ' ऐसे जिस कृती पुरुष की बुद्धि नष्ट हो गई है, वह सुनकर, स्पर्श कर, सूंघकर तथा खाकर यथासुख को प्राप्त है।

विवेचनाः अष्टावक्र ने कहीं भी ऐसा विचार प्रकट नहीं किया है कि आत्मज्ञान के लिए संसार का त्याग करो। उन्होंने प्राणिमात्र को कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः अर्थात कर्मण्यता का परामर्श दिया है। लोगों के जो कर्त्तव्य हैं, उनसे किंचित मात्र भी विमुखता उनकी दृष्टि में अक्षम्य है। वह

कर्महीनता से नहीं, **कर्मलिप्तता** से दूर रहने का संदेश देते हैं। जीवन निर्वाह के लिए जो भोग अपरिहार्य हैं, उनका त्याग करने का परामर्श तो हठवादी और पलायनवादी देते हैं। अष्टावक्र का कथन है कि अपरिहार्य भोगों पर प्राणिमात्र का अधिकार है, किंतु अनावश्यक भोगों में संलिप्तता ऐसा विकार है, जो व्यक्ति को आत्मदर्शन से वंचित कर देता है।

अष्टावक्र राजा जनक को कहते हैं–'राजन! जो व्यक्ति आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है, वह इस तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। तत्त्वज्ञान से वह कृतार्थ हो जाता है। उसे प्रतीत होता है कि वह तत्त्वज्ञान पाकर कृत-कृत्य हो गया है, उसके जीवन को सार्थकता मिल गई है।

राजन! ऐसे कृती पुरुष की सांसारिक बुद्धि गलकर नष्ट हो जाती है। वह अंत:बुद्धि से संपन्न हो जाता है, बाह्य बुद्धि के नष्ट होते ही कामनाओं और आसक्तियों की आत्मघाती भावनाएं भी नष्ट हो जाती हैं। वह दोषरहित, शुद्धात्मास्वरूप हो जाता है।

राजन! ऐसा शुद्धात्मास्वरूप सांसारिक बंधनों से नहीं जकड़ा जाता। वह सबकुछ सुनता है, स्पर्श करता है, सूंघता तथा खाता है, किंतु निर्लेप रहता है, इसलिए वह यथासुख को प्राप्त होता है।'

शून्या दृष्टिर्वृथाचेष्टाविकलानींद्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे॥९॥

भावार्थ: जिस व्यक्ति का संसाररूपी सागर क्षीण है, दृष्टि शून्य, चेष्टाएं व्यर्थ और इंद्रियां विकल हैं, ऐसे व्यक्ति को न इच्छा होती है और न विरक्ति।

विवेचना: यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह स्वयं को किस प्रकार प्रतिष्ठित करना चाहता है। वस्तुत: व्यक्ति ही **स्वयं** का **शत्रु** और **मित्र** होता है। जो यह सोचता है कि देह को सुख प्रदान करना, रसना को भांति-भांति के आस्वादों से तृप्त रखना तथा आंखों को रुचिकर दृश्य दिखाना स्वयं से मित्रवत् व्यवहार करना है तो यह उसकी सबसे बड़ी भूल है। यह मित्रता नहीं, स्वयं से शत्रुता करना है।

व्यक्ति नहीं जानता कि वह देह को सुख पहुंचाकर रसना को संतुष्ट रखकर तथा आंखों को लुभावने दृश्य दिखाकर स्वयं को कितनी हानि पहुंचा रहा है। उसकी यह विषयासक्ति उसे अनावश्यक रूप से चेष्टाओं और प्रयासों में व्यस्त करती है। वह जिंदगीभर कामनाओं को मूर्त रूप देता रहता है। कामनाओं से प्रीति की परिणति यह होती है कि व्यक्ति जीवन की वास्तविकता, सत्य व उद्देश्य से कभी परिचित नहीं हो पाता।

यदि व्यक्ति जीवन की वास्तविकता से परिचित होना चाहता है तो उसे स्वयं से शत्रुता नहीं मित्रवत व्यवहार करना चाहिए। वह देह, रसना और आंखों को उतना ही दे, जितना जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक का लोभ ही व्यक्ति को विषयासक्त करता है।

इस सूत्र में अष्टावक्र यही बताना चाहते हैं कि जो विषयरहित होता है, वह स्वयं का मित्र होता है। उसके चित्त में कामनाओं का सागर नहीं उफनता, दृष्टि को किसी दृश्य के प्रति रुचि नहीं होती, इंद्रियों को विषय से आसक्ति नहीं होती, वह निरपेक्ष और दोषरहित होता है। अष्टावक्र का मत है कि ऐसा व्यक्ति ही आत्मदर्शन कर पाने में सक्षम होता है।

अष्टावक्र अपने दर्शन को राजा जनक के सम्मुख इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं–'हे राजन! जो **आत्मदर्शन** कर लेता है, उसका संसाररूपी सागर क्षीण पड़ जाता है, अर्थात उसकी सांसारिक भोग-लिप्साओं की इच्छाएं शांत पड़ जाती हैं। दृष्टि शून्य हो जाती है, अर्थात दृष्टि किसी भी लुब्ध दृश्य से मुग्ध होकर चित्त को चंचल होने का अवसर प्रदान नहीं करती। वह व्यर्थ की चेष्टाएं नहीं करता, अर्थात प्रारब्ध से अनायास जो मिलता है, वही भोगता है। उसकी इंद्रियां विकल पड़ जाती हैं, अर्थात भोग-विलास से विचलित नहीं होता।

राजन! ऐसा व्यक्ति आत्मावत होता है, इसलिए उसे न तो किसी विषय-भोग की इच्छा सताती है और न ही किस के प्रति विरक्ति होती है। वह इच्छा और विरक्ति के बोध से मुक्त होता है।'

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा कापि वर्त्तते मुक्तचेतसः॥१०॥

भावार्थः जो न जाग्रत है और न निद्रित, न पलकें खोलता है, न बंद करता है, आश्चर्य है कि ऐसे मुक्त चित्त की कैसी सर्वोत्तम दशा होती है।

विवेचनाः यहां अष्टावक्र आत्मदर्शी की सर्वोत्तम दशा का उल्लेख करते हैं।

यहां उनके कहने का अर्थ यह नहीं कि आत्मदर्शन करते ही व्यक्ति को सोने-जागने की आवश्यकता नहीं होती। वह न पलकें खोलता है और न ही बंद करता है। इसके विपरीत अष्टावक्र कहना यह चाहते हैं कि आत्मज्ञानी व्यर्थ चेष्टाएं नहीं करता। वह रात को सोता है और दिन में जागकर, कर्त्तव्य निर्वहन करता है। वह स्वाभाविक रूप से पलकें खोलता व बंद करता है। ऐसा नहीं है कि लुब्ध दृश्य देखने की इच्छा से पलकें खोलता है और किसी से

विरक्ति हो तो पलकें बंद करता है। उसे किसी से विरक्ति नहीं होती और किसी प्रकार की इच्छा नहीं सताती। वह दृष्टिशून्य होता है, इसलिए पलकों को खोलने-बंद करने की चेष्टा नहीं करता, वे अनायास खुलती-बंद होती हैं।

यह है आत्मज्ञानी की निर्लेप दशा, जबकि आत्म-अज्ञानी स्वाभाविक रूप से न सोता है और न जागता है। विषयासक्ति न उसे सोने देती है, न जागने देती है। कभी-कभी तो चिंताओं के कारण उसकी रातों की नींद तथा दिन का चैन उड़ जाता है। वह न नियम से सोता-जागता है और न उसके सोने-जागने की स्थिति स्वाभाविक है। मन में आया तो दिन में सोता है, इच्छा हुई तो रातभर जागता है। दिन में सोने और रात को जागने का ही अर्थ है, उसकी पलकें स्वाभाविक रूप से न खुलती हैं और न बंद होती हैं, उसे चेष्टापूर्वक पलकें खोलनी और बंद करनी पड़ती हैं।

आत्म-अज्ञानी की इस दारुण स्थिति का कारण यह है कि उसका चित्त मुक्त नहीं होता, उसमें कामनाओं का सागर उमड़ता रहता है। इसके विपरीत आत्मज्ञानी का चित्त सर्वथा मुक्त होता है।

अतः अष्टावक्र राजा जनक से मुक्तचित्त का महत्त्व बताते हुए कहते हैं-'हे राजन! **चित्त** की **मुक्ति** व्यक्ति को **निर्मल** और **निर्दोष** बना देती है। वह निरर्थक चेष्टाएं नहीं करता। उसे सोने-जागने के लिए चेष्टाओं का आश्रय नहीं लेना पड़ता। उसका सोना-जागना प्रकृति के नियमानुसार होता है। वह चेष्टापूर्वक न सोता है और न जागता है। इसी प्रकार न इच्छा से पलकें खोलता है और न विरक्ति से पलकें बंद करता है।

ऐसा इसलिए संभव है कि उसका चित्त इच्छा तथा विरक्ति की भावनाओं को अपने अंदर प्रविष्ट नहीं होने देता।

राजन! आश्चर्य है कि ऐसे मुक्तचित्त की दशा कैसी सर्वोत्तम होती है।'

सर्वत्र द्रश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥११॥

भावार्थः मुक्त व्यक्ति समस्त दृश्यों से मुक्त होकर शांतिपूर्वक सर्वत्र विमल-सा निवास करता है। समस्त वासनाओं से मुक्ति पाकर वह सर्वत्र विराजित होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञानी की सर्वोत्तम दशा का वर्णन करते हुए अष्टावक्र उसे शांत, विमल और सर्वत्र विराजित बताते हैं।

यह सच भी है कि आत्मज्ञानी सांसारिक मोह में नहीं फंसता, इसलिए द्वंद्वरहित होता है। उसकी दृष्टि में दृश्य केवल दृश्य होते हैं, उनकी लुब्धता

अथवा वीभत्सता से वह प्रभावित होता नहीं। उसकी दृष्टि विस्तीर्ण होती है। वह संकुचित परिधि में नहीं विचरता। उसे सर्वत्र स्वयं की प्रतीति होती है, वह समस्त में अपना प्रतिबिंब देखता है। ऐसा इसलिए संभव है क्योंकि वह वासनाओं से दग्ध नहीं होता।

इसके विपरीत जो वासनाओं से दग्ध होता है, उसे सांसारिक मोहों का शिकार होना पड़ता है। लाभ-हानि के द्वंद्व के कारण वह स्वाभाविक जीवन नहीं व्यतीत कर पाता। उसे संदेह, ईर्ष्या और भय की सांघातिक पीड़ा सहन करनी पड़ती है। उसकी दृष्टि केवल मुग्ध करनेवाले दृश्य को ही देखती है। उसका सोच संकुचित हो जाता है। वह केवल स्वार्थपूर्ति की दुरभिसंधियां रचता है, भले ही इससे दूसरे की हानि होती हो। उसका चित्त मलिन और दूषित होता है और कभी आत्मदर्शन नहीं कर पाता।

आत्मदर्शन के लिए परमावश्यक है कि चित्त **निर्मल** व **दोषरहित** हो। ऐसे चित्त में वासनाओं का प्रवेश निषिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में आत्मज्ञान से संपन्न होकर व्यक्ति सर्वोत्तम दशा को प्राप्त होता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! आत्मज्ञानी सांसारिक दृश्यों से सम्मोहित नहीं होता। मोहमुक्ति उसे शांति प्रदान करती है और वह सर्वत्र विमल-सा निवास करता है। उसके चित्त की वासनाओं का नाश हो जाता है। वासनाओं से मुक्त होकर वह सर्वत्र विराजित होता है।

पश्यंछृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नगृह्णन्वदन्व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥१२॥

भावार्थः देखता, सुनता, स्पर्श करता हुआ, सूंघता, खाता, ग्रहण करता, बोलता हुआ भी जो इच्छा-द्वेष आदि से मुक्त होता है, वह महाशय मुक्ति को प्राप्त होता है।

विवरणः इस सूत्र में भी अष्टावक्र आत्मदर्शी की सर्वोत्तम दशा का वर्णन करते हैं।

आत्मज्ञानी तथा आत्म-अज्ञानी की क्रियाओं में भारी अंतर है। यह सच है कि दोनों देखते, सुनते और स्पर्श आदि करते हैं, किंतु आत्म-अज्ञानी केवल ऐसे दृश्यों को देखने में रुचि लेता है, जो मनमोहक होते हैं। वही सुनना चाहता है, जो कानों को भला लगे, वह जिसका भी स्पर्श करता है उसमें स्पर्श सुख पाने की इच्छा होती है। सूंघते हुए सुगंध हर्षित करती है और दुर्गंध से वह क्षुब्ध होता है, वह खाने के लिए नहीं खाता, भोग-विलास करता है। वह ग्रहण करता है, किंतु उसके ग्रहण करने का लोभ कभी समाप्त नहीं होता। वह

अनायास नहीं बोलता, अवसर को देखते हुए बोलता है—स्वार्थ साधते समय विनम्रता से बोलता है, स्वार्थ सिद्धि के बाद उसकी भाषा बदल जाती है।

आत्म-अज्ञानी जो कुछ करता है, उसमें कुछ पाने का लोभ होता है।

अष्टावक्र आत्मज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! आत्मज्ञानी आत्मदर्शन करने के बाद भी वह कर्म करता हुआ इस अर्थ में कर्म नहीं करता कि वह कुछ पाना चाहता है। वह **कर्मण्य** है, किंतु **लोभी** नहीं। इसी प्रकार वह देखता अवश्य है, किंतु अच्छे-बुरे की भावना से मुक्त होकर। जो कुछ उसके कानों में पड़ता है, सुनता है। उसका स्पर्श निर्लेप होता है। सूंघते समय वह केवल सुगंधियों का आकांक्षी नहीं होता। उदरपूर्ति के लिए खाता है, ऐसा भी नहीं है कि रूखा-सूखा खाता है। हां, भोगविलास से संलिप्त नहीं होता। वह **ग्रहण** करता है, किंतु **संचय** नहीं करता। वह बोलता है, किंतु स्वार्थसिद्धि के लिए नहीं।

राजन! इसका अर्थ है कि आत्मज्ञानी यह सब करता हुआ भी निरपेक्ष होता है। वह न **कर्मरहित** होता है, न **कर्मलिप्त**। उसकी ऐसी सर्वोत्तम दशा का कारण यह है कि वह किसी इच्छा से कर्म नहीं करता, किसी कर्म के प्रति उसे द्वेष भी नहीं होता। ऐसा ज्ञानवान महाशय मुक्ति को प्राप्त होता है।'

न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृह्णति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥१३॥

भावार्थः जो निंदा नहीं करता, स्तुति नहीं करता, हर्षित नहीं होता, क्रोधित नहीं होता, देता नहीं, लेता नहीं, ऐसा मुक्त (व्यक्ति) सबसे निर्लेप है।

विवरणः निर्लेप और निरपेक्ष होना सहज नहीं। संसार में इतने रस और रंग हैं कि सामान्य व्यक्ति के लिए उनसे दूर रह पाना बहुत कठिन होता है। संसार के सुख और भोग-विलास की सामग्रियां अत्यंत तीव्रता से उसे अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। वह सुखोपलब्धि के लिए करणीय-अकरणीय सबकुछ करने को प्रस्तुत होता है। जहां स्वार्थ सिद्ध होता नजर आता है, वहां वह हर प्रकार के दांव खेलता है—निंदा करता है, प्रशंसा करता है, लाभ की स्थिति में हर्षित होता है—हानि होते ही क्रोध से उसका सर्वांग कांप उठता है। जहां लाभ देखता है, वहां लेन-देन भी खूब करता है।

कर्मों से संलिप्तता आत्म-अज्ञानी को सांसारिक मायाजाल में जकड़ देती है, जिससे उसकी मुक्ति संभव नहीं।

एकमात्र आत्मदर्शन से ही मुक्ति संभव है, किंतु इसके लिए पहले विषयासक्तियों से मुक्त होना नितांत आवश्यक है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! आत्मदर्शी विषयासक्तियों से मुक्त होता है। जब उसे **आसक्ति** ही नहीं तो किसे **ग्रहण** करने की इच्छा करे और किसका **त्याग** करे। सबमें वही समाहित है तो किसकी स्तुति और प्रशंसा करे। उसके सामने उसके अतिरिक्त कोई खड़ा नहीं तो वह किसके प्रति हर्षित हो और किसके प्रति क्रोधित। सर्वत्र एक वही है तो किसे क्या दे और किससे क्या ले।

राजन! आत्मबोध के अतिरिक्त उसे किसी सांसारिक भावना का बोध नहीं, इसलिए वह बंधनों से मुक्त है। सर्वत्र व्याप्त और विराजित है।

राजन! जिसे मायाजाल के छल-प्रपंच का ज्ञान हो जाता है, वह निर्लेप और निरपेक्ष होकर मुक्ति को प्राप्त होता है।'

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥१४॥

भावार्थः प्रेमातुर स्त्री अथवा मृत्यु को निकट देखकर भी जिसका चित्त अविचलित होता है, ऐसा महाशय शांत और मुक्त होता है।

विवेचनाः वस्तुतः व्यक्ति अनुराग के कारण ही विकारग्रस्त है। किसी के प्रति **मोहित** होना ही **अनुराग** है। वस्तुओं से मोह, भोगों से मोह, लाभ से मोह, संपन्नता से मोह और यश से मोह—इन सभी मोहों के कारण व्यक्ति के चित्त में कामनाएं पनपती हैं। तदंतर कामनाओं को मूर्त रूप देने के लिए व्यक्ति जोड़-तोड़ और छल-प्रपंच का आश्रय लेता है। विषयासक्त व्यक्ति शीघ्र ही भयभीत भी हो जाता है। विशेषकर उसे मृत्यु का भय न सहजता से जीने देता है और न सहजता से मरने देता है। इस **महाभय** के अतिरिक्त उसे आजीवन चोरी, हानि और शत्रु का भय सताता रहता है। सच तो यह है कि विषयासक्त व्यक्ति का प्रत्येक पल चिंता और अनिश्चय में व्यतीत होता है।

अनुरागी व्यक्ति का अपने चित्त पर अंकुश नहीं होता, इसलिए आसपास की मुग्ध वस्तु के प्रति सम्मोहित होता है। उसी प्रकार वह मृत्यु को निकट देखकर भयाकुल भी होता है।

अष्टावक्र आत्मज्ञानी के धीरज का परिचय देते हुए कहते हैं—'राजन! आत्मदर्शी का अपने चित्त पर पूर्ण नियंत्रण होता है। उसे किसी प्रकार का भी मोह या अनुराग दृढ़ निश्चय से डिगा नहीं सकता। जब वह कामनारहित है तो किसके प्रति मोहित हो।

राजन! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि अपने निकट सुंदर नार और मृत्यु को देखकर कर्त्तव्यपथ से विमुख हो जाते हैं। उनका सारा ज्ञान, तप-शक्ति और साधना

नार और मृत्यु के सम्मुख धरी रह जाती है। वे आजीवन आसक्ति और भय से मुक्त नहीं हो पाते।

किंतु राजन, आत्मज्ञानी का धैर्य अद्भुत है। उसे न नारी का सौंदर्य आकृष्ट कर पाता है और न ही मृत्यु की विकरालता से ही वह भयभीत होता है।

राजन! इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसका चित्त प्रेम-विह्वल नारी अथवा निकट ही आई मृत्यु की विकरालता से अविचलित होता है, ऐसा महाशय शांत होकर मुक्ति को प्राप्त होता है।'

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥१५॥

भावार्थः सुख-दुख, नर-नारी, संपत्ति-विपत्ति तथा अन्य सबके प्रति जो समदर्शी है, ऐसे धीर के लिए कुछ भी विशेष नहीं।

विवेचनाः सामान्य व्यक्ति की कठिनाई यह है कि वह जो कुछ प्राप्त करता या गंवाता है, तत्काल उसकी प्रतिक्रिया उसके मुख पर अंकित हो जाती है। लोभ-लालच, घृणा-स्नेह, मोह-क्षोभ का कोई भी क्षण आए, उसके आचरण में इन सबके चिह्न प्रकट हो जाते हैं।

सुख की अनुभूति होती है तो उसका मुख **उद्दीप्त** हो जाता है और दुख की स्थिति में आंखों में **मलिनता** छा जाती है। किस नर से क्या लाभ है अथवा किस नारी से कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है, उसी के अनुसार उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है। **संपत्ति** उसे **लुभाती** है और **विपत्ति** से वह अंतर्मन तक **कांप** उठता है। उसके सारे व्यवहार वस्तुओं और व्यक्तियों की विशेषता व दोष को भांपकर संचालित होते हैं।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी स्वार्थरहित होता है, अतः उसकी दृष्टि में विशेष-अविशेष का कोई महत्त्व नहीं होता, वह द्वंद्वमुक्त होता है। ऐसा व्यक्ति धीर होता है।

अष्टावक्र ऐसे धीर आत्मज्ञानी का वर्णन करते हुए राजा जनक से कहते हैं—'राजन! व्यक्तियों व वस्तुओं से मिलनेवाले लाभ या हानि से आत्म-अज्ञानी यह निर्णय लेता है कि उसकी दृष्टि में कौन महत्त्वपूर्ण और कौन महत्त्वहीन। तदंतर वह उनसे स्नेह या घृणा के भाव प्रकट करता है।

आत्मज्ञानी का सोच सीमित नहीं होता, वह आत्मा की भांति जिस प्रकार **असीमित** होता है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी **विस्तार** को प्राप्त होती है। उसे सबमें अपनी ही प्रतीति होती है और अपने में सबकी। वह किससे स्नेह करे, किससे घृणा? किसी से उसे सुख-दुख की अनुभूति नहीं हो पाती।

राजन! आत्मदर्शी वस्तुत: किसी में भेदभाव नहीं करता। सब उसकी दृष्टि में एक समान होते हैं, न कोई महत्त्वपूर्ण है और न कोई महत्त्वहीन।

राजन! जो आत्मा के दर्शन कर लेता है, उसके लिए सुख-दुख, नर-नारी और संपत्ति-विपत्ति आदि सबकुछ एक समान होते हैं। ऐसे समदर्शी और धीर की दृष्टि में विशेष-अविशेष जैसा कुछ नहीं होता।'

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न-च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे॥१६॥

भावार्थ: जिसका संसार क्षीण होता है, ऐसे व्यक्ति में न हिंसा होती है और न करुणा; न उद्धत होता है और न दीन, उसे न आश्चर्य होता है और न क्षोभ।

विवेचना: जो सांसारिक बंधनों से आबद्ध होता है और जिसका सांसारिक मोह क्षीण होता है, उनमें क्या अंतर है?

मोहमाया से जकड़ा हुआ व्यक्ति कभी भी सहज नहीं होता। वह स्वयं को तो कष्ट पहुंचाता ही है, दूसरों के लिए भी हानिप्रद होता है। हित साधन के मार्ग में उसे किसी प्रकार की बाधा सहन नहीं होती। किसी के तर्क से वह सहमत नहीं होता। उसके लिए स्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त और किसी का महत्त्व नहीं होता। वह साम, दाम, दंड और भेद आदि किसी भी नीति से स्वार्थ सिद्ध करने से नहीं चूकता। उसमें लेशमात्र भी करुणा या विनम्रता नहीं होती। वह हिंसक और उद्धत होता है। अहंकार और क्षोभ से उसका जीवन तो नारकीय बन ही जाता है, दूसरों के जीवन को भी वह असहज बना देता है।

इसके विपरीत जिसकी सांसारिक मोहमाया से कोई प्रीति नहीं होती, वह नितांत सौम्य और सुशील होता है। उसे किसी स्वार्थ सिद्धि की चिंता नहीं सताती। हित साधन की कामना से रहित उसका चित्त शांत और अविचलित होता है। आत्मदर्शन के बाद उसकी दृष्टि शून्य हो जाती है।

अष्टावक्र ऐसे सौम्य और सुशील आत्मदर्शी का वर्णन करते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! जीवन का वास्तविक सुख सांसारिक मोहमाया में नहीं मिलता। **सांसारिक मोहमाया** व्यक्ति को सदैव **उलझाती** और **भरमाती** है। व्यक्ति को **जटिल** और **कुटिल** बनाती है। जबकि आत्मदर्शी सहज जीवन व्यतीत करता है। उसका सांसारिक मोहमाया से संबंध विच्छेद हो जाता है। वह किसी से लेन-देन का नाता नहीं रखता। ऐसी स्थिति में उसे न हिंसा का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ती है और न करुणा की। वह न उद्धत-उत्तेजित होता है और न दीन और विनम्र।

राजन! ऐसे धीर ज्ञानी की दृष्टि में सबकुछ एक समान होता है, अतः वह आश्चर्य और क्षोभ से मुक्त होता है।'

न मुक्ता विषयद्वेष्टा न वा विषय-लोलुपः।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥१७॥

भावार्थः मुक्त व्यक्ति न विषय-द्वेषी होता है और न विषय-लोलुप। वह सदा अनासक्तमना होता है और प्राप्य-अप्राप्य को भोगता है।

विवेचनाः सांसारिक बंधनों से जकड़ा हुआ व्यक्ति विषय-लोलुप होता है। देह, चित्त व जिह्वा को रुचिकर प्रतीत होनेवाले पदार्थ उसे निरंतर आकृष्ट करते हैं। विषयों के प्रति लोलुपता का फल यह होता है कि व्यक्ति अपने जन्म और जीवन की सार्थकता नष्ट कर देता है, विषयासक्ति में ही उसे जीवन की सार्थकता दिखाई देती है।

किंतु उसकी विषय-लोलुपता का एक दिन अंत होता है। तब तक या तो वह विषयभोगों से उब चुका होता है अथवा शारीरिक अशक्तता के कारण भोगने में असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति में वह विषयों से घृणा करने लगता है। विषयों का ऐसा घनघोर विरोधी हो जाता है कि उनसे द्वेष करने लगता है।

विषयों से द्वेष और विषयों से लोलुपता, दोनों का जन्म इच्छावश होता है। जब तक इच्छा हुई, खूब भोग-विलास किया, इसी प्रकार इच्छा हुई तो वह विषयों का शत्रु बन गया। यह इच्छा निर्मुक्ति व्यक्ति को सदैव उलझाती है।

अष्टावक्र मुक्त व्यक्ति की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! **मुक्त** व्यक्ति की जीवनशैली अत्यंत **सहज** और **सरल** होती है। आत्मस्वरूप पाने के बाद उसे कुछ और पाने की इच्छा ही नहीं होती। इच्छाविहीनता की यह स्थिति उसके चित्त की चंचलता को समाप्त कर देती है। उसके अंतर्मन में इच्छा और अनिच्छा का भाव ही समाप्त हो जाता है। उसे किसी पदार्थ से न तो प्रीति होती है और न ही घृणा। वह **समदर्शी** हो जाता है।

राजन! उसके सामने भांति-भांति के मुग्धकारी विषयों की अंतहीन कड़ियां हैं, किंतु उसमें न विषयों के प्रति लोलुपता जाग्रत होती है और न उनके प्रति द्वेष।

राजन! जिसने आत्मदर्शन कर लिया, वह कभी भी विषयासक्त नहीं होता। उसका मन निर्लेप स्थिति को प्राप्त होता है, अतः वह प्राप्य-अप्राप्य की चिंता नहीं करता। उसे प्रारब्ध से जो कुछ मिलता है, उसे ही भोगता है।'

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिवसंस्थितः॥१८॥

भावार्थः शून्यचित्त व्यक्ति आत्मस्थित होता है। वह शंका-समाधान, हित-अहित और विकल्पना से अनभिज्ञ होता है।'

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी के साथ कठिनाई यह है कि वह **स्वयं** को **कुटिल** बनाता है और **जीवन** को **जटिल**। वासना की लोलुपता के कारण उसकी धन, वैभव और संपन्नता लोलुपता में वृद्धि होती है। वह कुटिलता और छल-प्रपंच से यश और वैभव बटोरता है। यहीं से उसके जीवन में जटिलताओं का उदय होता है। उसे लगता है, समय हाथ से निकलता जा रहा है, अतः उसकी व्यस्तताएं भी बढ़ जाती हैं। लाभ-हानि और प्राप्य-अप्राप्य की चिंता से वह सदा उद्विग्न रहता है। उद्विग्नता से समस्याएं पैदा होती हैं। उसे समझ में नहीं आता कि उनका समाधान कैसे करे। हित साधन और स्वार्थ सिद्धि की कल्पनाओं से उसका मस्तिष्क बोझिल होता जाता है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति और व्याप्ति में सर्वत्र अपनी उपस्थिति देखकर शेष कल्पनाओं से मुक्त होता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'राजन! कल्पनाओं से मुक्त व्यक्ति का मन-मस्तिष्क शांत, निर्मल और निश्चिंत हो जाता है। मस्तिष्क की कल्पनाएं चित्त को चंचल और व्यग्र बनाती हैं। उसकी दृष्टि लुभावने पदार्थ देखती है, मस्तिष्क उनकी कल्पनाओं में खो जाता है और चित्त व्यग्रता से उन्हें पाने को मचल उठता है।

राजन! आत्मज्ञानी दृष्टि शून्य होता है, अतः उसे मुग्ध-अमुग्ध कुछ दिखाई नहीं देता, अतः चित्त अविचलित और शांत रहता है। उसमें यश की कामना नहीं उठती, वैभव की इच्छा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसे किसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। समस्या ही नहीं तो उसे समाधान-शंका की चिंता भी नहीं होती।

राजन! आत्मज्ञानी हित-अहित की नहीं सोचता, उसे समाधान-शंका का द्वंद्व नहीं सताता। वह विकल्पनाओं से अनभिज्ञ होता है। इसका रहस्य यह है कि उसका चित्त शून्य होता है और वह आत्मस्थिति को प्राप्त होता है।'

निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः।
अंतर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न॥१९॥

भावार्थः जिसकी सर्व आशाएं अंतर्मन में नष्ट हो गई हैं और आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं, जिसे इसका निश्चय होता है, वह निर्मोही व अहंकारहीन होता है तथा क्रियाशील होता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

विवेचनाः यहां अष्टावक्र पुनः आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी के अंतर को स्पष्ट करते हैं।

अष्टावक्र की दृष्टि में आत्म और अनात्म स्वरूप के मध्य जो बड़ा अंतर है, वह है कर्मण्यता। दोनों कर्मशील हैं। आत्मस्वरूप कर्म करता है, किंतु फल की इच्छा नहीं, इसलिए वह कर्म में लिप्त नहीं होता। इसके विपरीत अनात्मस्वरूप कर्म करता है और अनगिनत फलों की इच्छा से विक्षिप्त होता है। यही कारण है कि वह कर्मों में आकंठ लिप्त होता है। कष्टसाध्य श्रम करता है। जैसे-जैसे चित्त की नई-नई कामनाओं से फलों का लोभ बढ़ता जाता है, कर्मों में उसकी लिप्तता भी बढ़ती जाती है।

आत्मज्ञानी का चित्त कामनाविहीन होता है, अतः उसे फलों का लोभ नहीं। वह निर्लिप्त होकर कर्म करता है।

अष्टावक्र राजा जनक को यह भेद समझाते हुए कहते हैं-'हे राजन! व्यक्ति आत्मज्ञान का तभी अर्जन कर पाता है, जब उसकी कामनाएं तिरोहित हो जाती हैं। जब तक कामनाएं उसे उद्वेलित करेंगी, तब तक कष्टकारी कर्म करेगा, अपनी सत्ता को सबसे अलग और श्रेष्ठ मानेगा। उसके लिए देहसुख सर्वोपरि होता है, ऐसी स्थिति में वह आत्मदर्शन कर पाने में नितांत असमर्थ होता है।

और जो आत्मदर्शन कर पाने में समर्थ होता है उसकी समस्त इच्छाएं और कामनाएं नष्ट हो जाती हैं। वह किसी की आशा नहीं करता, किसी से निराश नहीं होता। उसका अंतर्मन निर्मल और स्वच्छ होता है, क्योंकि उसमें सारी आशाएं गलकर लुप्त हो गई हैं।

राजन! ऐसे आत्मज्ञानी को यह दृढ़ निश्चय होता है कि आत्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं। मुझमें, तुझमें और सबमें **आत्मा** व्याप्त है। **तू** आत्मा में है, **आत्मा** तुझमें है। आत्मा से भिन्न कहीं कुछ नहीं, कोई द्वैत नहीं, सब अद्वैत में समाहित हैं।

राजन! ऐसा आत्मज्ञानी निर्मोही और अहंकारहीन होता है। उसको किसी से मोह नहीं, किसी के प्रति अहंकार नहीं। वह कर्मण्य अवश्य होता है, किंतु कर्मों में लिप्त नहीं होता और प्रारब्ध को भोगता है।'

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवार्जितः।
दशांकामपिसम्प्राप्तोभवेद्गलितमानसः॥२०॥

भावार्थः जिसका मानस गलित है, वह मन के आलोक व शांति तथा स्वप्न व जड़ता से विवर्जित (वंचित) होकर भी अलौकिक दशा को प्राप्त होता है।

विवेचनाः यदि मन में हर प्रकार की आशा गलकर नष्ट हो जाए तो मन

निर्मल हो जाता है तथा आलोक और शांति व्याप्त हो जाती है। आत्मज्ञानी की यही स्थिति होती है।

आत्म-अज्ञानी की स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है। उसके मन में कामनाओं की फसल सदैव लहलहाती रहती है, जिसे वह आजीवन काटता और भोगता है। वह सूर्य के तीव्र प्रकाश में अवश्य जीता है, किंतु उसकी दृष्टि सत्य-असत्य को परख नहीं पाती, क्योंकि उसका मन अंधकार से आच्छादित रहता है। यश और वैभव की लिप्सा से वह सदैव अशांत रहता है। उसकी भोग-विलास की भूख निरंतर बढ़ती जाती है, वह कभी संतृप्त नहीं हो पाता। उसे मुग्धकारी स्वप्न देखने में आनंद आता है।

ऐसा आत्म-अज्ञानी **संज्ञान** होते हुए भी **जड़** होता है, क्योंकि वह **भ्रमों** और **भ्रांतियों** में जीता है। जबकि आत्मज्ञानी भ्रम और भ्रांति से मुक्त होता है, अत: उसकी जड़ता भी समाप्त होती है।

अष्टावक्र का कहना है कि व्यक्ति मात्र कामनाओं से विमुख हो जाए तो इसी से वह आत्मस्वरूप की अनुभूति कर सकता है, चाहे मन में आलोक और शांति न भी हो।

यह आत्मज्ञानी की अलौकिक दशा होती है। इसी का वर्णन करते हुए अष्टावक्र कहते हैं–'हे राजन! जिसका मानस गलित है, उसके मन की समस्त आशाएं, इच्छाएं और वासनाएं भी गलकर नष्ट हो जाती हैं। इसी से वह आत्मानुभूति को प्राप्त होता है। आत्मावत होकर शांत और आलोकित हो जाता है।

राजन! आत्मज्ञानी के मन में भले ही प्रकाश और शांति का अभाव हो, वह स्वप्न और जड़ता से वंचित हो जाता है। उसे मुग्धकारी स्वप्न देखने की चाह नहीं होती, वह जड़ता से उखड़कर सर्वत्र विकीर्ण हो जाता है।

राजन! वस्तुत: जो आत्मज्ञान के आलोक व शांति से महिमामंडित हो जाए, उसे मन के प्रकाश व शांति की क्या आवश्यकता? ऐसी अलौकिक दशा को प्राप्त कर वह स्वयं का प्रकाश और शांति हो जाता है।'

❑❑

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्‌भवात भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शांताय तेजसे॥१॥

भावार्थः जिसके बोधोदय से भ्रांतियां स्वप्नवत् होती हैं, उस सुखरूपी, शांत और तेजस्वी को नमन है।

विवेचनाः जो आत्मबोध नहीं कर पाता, उसे भ्रांतियां सत्य प्रतीत होती हैं। संसार व संसार के जीव-जड़ नश्वर व क्षणभंगुर हैं, किंतु आत्मबोध के अभाव में उसे सबकुछ शाश्वत और नित्य नजर आता है। वह वासनाओं से संलिप्त होता है और इसी में जीवन की सार्थकता मानता है। उसे यह भी प्रतीत होता है कि सभी व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसी भ्रम के कारण वह किसी को शत्रु के रूप में देखता है, तो किसी को मित्र के रूप में। उसे यह भी भ्रम होता है कि उसके यश और वैभव में जितनी वृद्धि होगी, उतना ही वह तेजस्वी और श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

इसके विपरीत अष्टावक्र उसे **श्रेष्ठ** और **तेजस्वी** मानते हैं, जो **आत्मबोध** से प्लावित होता है। उनकी दृष्टि में आत्मज्ञान के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं, **आत्मावत** के अतिरिक्त कुछ भी **शुद्ध** और **निर्मल** नहीं तथा **आत्मस्वरूप** के अतिरिक्त कोई **निरपेक्ष** और **निरंजन** नहीं।

ऐसी आत्मा का परिचय देते हुए अष्टावक्र कहते हैं-'हे राजन! जिसे आत्मबोध हो जाए, उसे किसी अन्य बोध की आवश्यकता नहीं। आत्मबोध से उसकी समस्त भ्रांतियां दूर हो जाती हैं और आत्म-आलोक में वह सत्य का भलीभांति अवलोकन करने में समर्थ होता है। उसके समक्ष संसार व संसार के जीव-जड़ की नश्वरता और क्षणभंगुरता प्रकट हो जाती है। उसे आकार की अनित्यता और निराकार की नित्यता का भान हो जाता है।

राजन! ऐसा है आत्मबोध का अलौकिक रूप। जिसका बोधोदय होता है, वह भी अलौकिक दशा को प्राप्त हो जाता है। स्वयं के और संसार के प्रति उसकी भ्रांतियां तिरोहित हो जाती हैं। जिस प्रकार स्वप्न देखते समय उसके दृश्य सत्य प्रतीत होते हैं और आंख खुलते ही उनकी मिथ्या का भान हो जाता है, उसी प्रकार बोधोदय से ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं।

राजन! **बोधोदय** से सत्य का साक्षात्कार करनेवाला ही सुखी, शांत और तेजस्वी होता है। ऐसे आत्मस्वरूप को नमन है।'

अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोतिपुष्कलान्।
नहिसर्वपरित्यागमन्तरेण सुखीभवेत्॥२॥

भावार्थः विपुल धन अर्जित करनेवाला पुरुष समस्त भोग तो अवश्य प्राप्त करता है, किंतु सबका परित्याग किए बिना सुखी नहीं होता।

विवेचनाः व्यक्ति सोचता है, सब दुखों का कारण एकमात्र अभाव है। अभाव न रहे तो सर्व सुखों की प्राप्ति संभव है। अतः वह कर्मों में लिप्त होकर धन और यश अर्जित करने के उपाय करता है। अत्यंत कष्ट सहकर श्रम करता है। जब विपुल धन अर्जित कर लेता है, तब उसे पता चलता है कि सुख से तो वह अब तक वंचित है।

इस सत्य से परिचित होने पर भी उसकी विषयासक्ति दूर नहीं होती, उसकी धन व यश की लिप्सा में निरंतर वृद्धि होती जाती है, क्योंकि इसी में वह जीवन की सार्थकता देखता है। जितना धन अर्जित करता है, उतना ही दुखी होता है। मन में नाना-प्रकार के भय व शंकाएं उत्पन्न होती हैं। अपने अतिरिक्त सबको हेय मानता है, दूसरों का वैभव देख उसे ईर्ष्या होती है।

अष्टावक्र की दृष्टि में यह सब दुख के अतिरिक्त कुछ नहीं। वह कहते ' धन से खुशियां क्रय नहीं की जा सकती। खुशी क्रय की वस्तु नहीं, मन की दशा है। ऐसी दशा को आत्मज्ञानी ही प्राप्त हो सकता है।

अष्टावक्र धन की निरर्थकता का वर्णन करते हुए राजा जनक से कहते हैं--'हे राजन! ऐसे धन को अर्जित करने के लिए रात-दिन कष्टकारी श्रम करने का क्या लाभ, जिससे व्यक्ति को चिंता और दुख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्ति नहीं होती। यही नहीं, धन पाकर व्यक्ति ईर्ष्या, काम, क्रोध और लोभ के विकारों से भी ग्रस्त होता है।

राजन! वस्तुतः श्रमसाध्य कर्मों से विपुल धन अवश्य अर्जित किया जा सकता है, उससे समस्त भोगों को भी प्राप्त किया जा सकता है। जिस भौतिक पदार्थ पर दृष्टि जाए, पलक झपकते उसे क्रय भी किया जा सकता है, किंतु अंततः वास्तविक प्रसन्नता की अनुभूति तब भी नहीं होती है।

राजन! वास्तविक प्रसन्नता के लिए जब तक धन व वैभव का परित्याग नहीं किया जाता, जब तक कामनाओं के सम्मोहन से स्वयं को मुक्त नहीं किया जाता, तब तक प्रसन्नता पाना संभव नहीं।

राजन! **धनत्याग**, **यशत्याग** और **इच्छात्याग** के बाद ही व्यक्ति **आत्मबोध** को प्राप्त होता है। आत्मबोध से ही सुखानुभूति संभव है।'

कर्त्तव्यदु:खमार्त्तण्डज्वालादग्धांतरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥३॥

भावार्थ: कर्मों के दुखद सूर्य की ज्वाला से जिसका अंतर्मन दग्ध है, उसे शांति की अमृतधारा की वर्षा के बिना सुख कहां?

विवेचना: वैभव और धन की लालसा में व्यक्ति कष्ट सहता है। न रात देखता है, न दिन, हर पल दुष्कर कर्मों में संलिप्त रहता है। सुख की प्रत्याशा में निरंतर दुखों को प्राप्त होता है। किंतु धन का लोभ, यश की लालसा उसे विश्राम करने का अवसर ही प्रदान नहीं करती। अधिक धन, अधिक वैभव, अधिक यश की आकांक्षा में वह अंतिम सांस तक कर्मरत रहता है। नई-नई योजनाएं बनाता है, नित नई-नई कल्पनाएं करता है।

सच तो यह है कि धनाकांक्षी व्यक्ति अंतिम काल तक इस तथ्य से अनभिज्ञ होता है कि वास्तविक सुख क्या है। आजीवन उसका अंतर्मन कठोर कर्मों के दुखद सूर्य की ज्वाला से दग्ध रहता है। असहनीय ताप से उसका सर्वांग झुलस जाता है।

अष्टावक्र का कथन है कि **सुख** की **लालसा** से उपार्जित धन **दुखों** के **सूर्य** को प्रज्ज्वलित करता है।

दुखों के स्थान पर वास्तविक सुख कैसे प्राप्त किए जा सकते हैं? इसके उत्तर में अष्टावक्र कहते हैं-'हे राजन! जिसे देखो, वह भौतिक पदार्थों से मोहित है। सब सोचते हैं, भौतिक पदार्थों को उपलब्ध कर लिया तो चतुर्दिक सुखों की वर्षा होगी, किंतु यह सत्य नहीं। विपुल धन से भौतिक पदार्थों का संग्रह तो किया जा सकता है, भोग-विलास के अवसर भी बार-बार प्राप्त होते हैं, किंतु ये दुख के पर्याय हैं, सुख के नहीं।

राजन! ऐसे व्यक्ति कष्टसाध्य श्रमों से आजीवन पीड़ित होते हैं। कठोर कर्मों के दुखरूपी सूर्य की ज्वालाएं उनके अंतर्मन को जलाकर भस्म कर देती हैं।

राजन! ऐसे व्यक्ति को केवल शांति का वरण करने से सुखोपलब्धि होती है। और शांति उसे तभी मिल सकती है, जब उसका अंतर्मन इच्छाओं-वासनाओं

से रहित होकर, शांत पड़ जाता है। इस वासनामुक्त अंतर्मन की शांति से ही उसे आत्मबोध की अनुभूति होती है।

राजन! इसलिए कहता हूं कि दग्ध अंतर्मन वाले को शांति की अमृतधारा के बिना सुख की प्राप्ति संभव नहीं।'

भवोऽयं भवनामात्रो न किंचित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानांभावाभावविभाविनाम्।।४।।

भावार्थः यह भव (संसार) भावना मात्र है, परम-अर्थ कुछ भी नहीं, अतः भाव-अभाव में स्थित स्वभाव को अभाव नहीं।

विवेचनाः जो सांसारिक लिप्साओं से अभिभूत होता है, उसके लिए संसार ही सबकुछ है, इसे ही वह परमार्थ मानता है। वस्तुतः संसार भावना के अतिरिक्त कुछ नहीं। संसार के बाह्य रूप से लोगों को वैसा ही दृष्टिगोचर होता है, जैसी उसकी भावना होती है। व्यक्ति खुश है तो सारा संसार उसे प्रसन्न और उत्साहित प्रतीत होता है, यदि दुखी है तो सारे संसार में उसे शोकमग्नता, मलिनता और जर्जरता ही दिखाई देती है।

व्यक्ति की जैसी भावना होती है वैसे ही संकल्प-विकल्प वह करता है। अर्थात यह संसार संकल्पों और विकल्पों की कर्मस्थली है और इसका परमार्थ से कोई संबंध नहीं।

अष्टावक्र की दृष्टि में **परमार्थ** केवल एक ही है; और वह है **आत्मा**। आत्मा का भाव ही व्यक्ति को स्वभाव की प्रतीति कराता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'राजन! इस संसार को आत्म-अज्ञानी परमार्थ के रूप में देखता है, जबकि संसार परमार्थ नहीं, केवल भावना है, जहां व्यक्ति अपने संकल्पों-विकल्पों को मूर्त रूप देता है।

राजन! आत्मभाव से संपन्न व्यक्ति स्वभावी हो जाता है। परमार्थ का ज्ञान उसे संसार की वास्तविकता से परिचित कराता है। वह **भव** को **भावना** के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता। उसके चित्त में भाव-अभाव का द्वंद्व भी नहीं उठता। भाव-अभाव की चिंता उसे सताती है, जिसे आकांक्षाएं उद्वेलित करती हैं। जिसका चित्त शांत, सौम्य और अविचलित होता है, भाव-अभाव की भावनाओं से युक्त इस संसार में स्थित होते हुए भी उसके स्वभाव को किसी अभाव की अनुभूति नहीं होती।'

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम्।।५।।

भावार्थः निर्विकल्प, निरायास, निर्विकार, निरंजन आत्मपद न दूर है, न संकुचित, यह सर्वत्र उपलब्ध है।

विवेचना: मोहग्रस्त व्यक्ति आत्मा की प्रतीति नहीं कर पाता। उसे तो यह भी विश्वास नहीं होता कि वह **आत्मा** का अंश है, स्वयं का **परमात्मा** है। वह परमात्मा की कल्पना क्षितिज में विचरण करने वाली किसी अदृश्य शक्ति के रूप में करता है। उसे आत्मा दिखाई नहीं देती, अत: उसके अस्तित्व पर सहज ही विश्वास नहीं हो पाता।

आत्मा निराकार होती है और आत्मज्ञानी इस तथ्य से भलीभांति परिचित होता है कि समस्त चराचर आत्मा से निसृत है, आत्मांश है और अंत में आत्मा में ही विलीन होती है। आत्मज्ञानी आत्मपद पर विराजमान होता है और **स्वयं** में आत्मा और **आत्मा** में स्वयं को पाता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'जो मोहमाया से स्वतंत्र होता है, वह आत्मपद को प्राप्त होता है।

अष्टावक्र जानते हैं कि कई जिज्ञासु आत्मपद पाना चाहते हैं, किंतु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ होते हैं कि उसे पाया कैसे जाता है? वह राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! आत्मा स्वयं में संपूर्ण है और आत्मस्वरूप संपूर्णता को प्राप्त है। आत्मा की भांति आत्मस्वरूप भी निर्विकल्प हो जाता है, अर्थात संकल्प-विकल्प नहीं करता। आत्मपद नितांत निरायास है, अर्थात उसे पाने के लिए प्रयास नहीं करने पड़ते, कामनारहित होते ही आत्मपद अनायास ही मिल जाता है। आत्मपद निर्विकार है, उसे कोई विकार-विकृति स्पर्श तक नहीं कर पाती, वह शुद्ध, निर्मल और दोषमुक्त है।

राजन! आत्मपद किसी से दूर नहीं, वह सीमित परिधि में संकुचित भी नहीं। वह ब्रह्मांड के ओर-छोर तक व्याप्त है, सबमें समाहित है, सर्वत्र उपलब्ध है।

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रत:।
वीतशोका विराजंते निरावरणदृष्टय:।।६।।

भावार्थ: निरावृत्त दृष्टि और व्यामोह मात्र से विरत स्वरूप को प्राप्त ज्ञानी ही आत्मपद पर सुशोभित होता है।

विवरण: मोहग्रस्त व्यक्ति की आंखों पर आवरण चढ़ा होता है, अत: वह सत्य के दर्शन नहीं कर पाता। उसे **अनित्य में नित्य** का आभास होता है। **क्षणभंगुरता** को **शाश्वत** मानता है। यही कारण है कि वह **वासनाओं** का दास होता है।

आत्म-अज्ञानी जब तक व्यामोह से विरत नहीं होता, तब तक विकारों से मुक्त नहीं हो पाता और उसकी आंखों पर सदा आवरण चढ़ा रहता है। वह

आज़ीवन अंधेरे में भटकता रहता है। उसके चतुर्दिक सूर्य का प्रकाश अवश्य होता है, किंतु आत्मज्ञान के आलोक के अभाव में वह जीवन के वास्तविक उद्देश्यों का साक्षात्कार नहीं कर पाता, केवल कामनासिद्धि ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। ऐसा आवृत्त दृष्टि और व्यामोहग्रस्त व्यक्ति कभी भी आत्मपद को प्राप्त नहीं होता।

अष्टावक्र मानते हैं कि स्वभाव अर्थात आत्मभाव की अनुभूति के लिए सर्वप्रथम दृष्टि को निरावृत्त करना नितांत आवश्यक है। नेत्रावरण हटने के बाद ही पता चलता है कि वासनाओं से संलिप्तता का सुख अनित्य और क्षणभंगुर है। वह व्यामोह के बंधनों से छूटकर आत्मावत हो जाता है और ऐसी सुखानुभूति करता है, जो नित्य और शाश्वत होती है।

अष्टावक्र कहते हैं–'हे राजन! निस्संदेह आत्मपद दूर नहीं है, सर्वत्र उपलब्ध है, किंतु इसकी प्राप्ति निरायास तभी संभव है, जब व्यक्ति दृष्टि से भ्रांतियों का आवरण हटा दे। तब उसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि किसी की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, सब एक सत्ता से संबद्ध हैं, वह सत्ता है आत्मा की। आत्मा से आबद्ध होकर वह एक नहीं हैं, अनेक हैं। **वह** सबमें है, **सब** उसमें हैं। कोई किसी से विलग नहीं। उसकी व्यामोह की दशा समाप्त हो जाती है।

राजन! आत्मभाव जब स्वभाव को प्राप्त होता है, तब दृष्टि निरावृत्त हो जाती है, वह व्यामोह मात्र से विरत हो जाता है और **आत्मपद** पर सुशोभित होता है।'

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥७॥

भावार्थः समस्त कल्पनामात्र, आत्मा सनातन और मुक्त है, इससे विज्ञ होकर ही धीर ज्ञानी क्या बालवत व्यवहार कर सकता है?

विवेचनाः बालवृत्ति बड़ी चंचल होती है। वह सदा लोलुप होती है, केवल कामना करती है। जो कुछ उसकी दृष्टि में पड़ता है, उसे प्राप्त करने की इच्छा से मचलती है, कभी संतुष्ट नहीं होती। बालक जिसकी इच्छा करता है, यदि उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती तो रोता है, हाथ–पैर पटकता है।

बालक की यह वृत्ति सहज होती है। बालक का यह स्वभाव प्राकृतिक है, क्योंकि उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती। उसे अच्छे–बुरे का ज्ञान नहीं होता, वह केवल बाल–सुलभ जिज्ञासा के क़ारण सबको पाना चाहता है, यहां तक कि चांद को भी।

आयु के साथ–साथ बुद्धि भी विकसित होती है तो वह चांद को पाने की

भले ही लालसा न करे, किंतु उसे भी विश्व के लुभावने दृश्य मुग्ध करते हैं, वह भी बालवत उनकी कामना करता है। कामना की यह प्रवृत्ति उसे भोग-विलास से संयुक्त कर देती है।

इस स्थिति में उसकी दृष्टि पर आवरण पड़ जाता है और वह व्यामोहग्रस्त हो जाता है। उसके लिए आत्मपद अत्यंत दूर हो जाता है। वह कल्पना भी नहीं कर पाता कि सबकुछ **मिथ्या** है। यह संसार और कुछ नहीं केवल **कल्पना** है।

अष्टावक्र ने बार-बार रेखांकित किया है कि संसार के मोहपाश में बंधने का अर्थ है, स्वयं से ही विमुख हो जाना, स्वयं को ही विस्मृत करना। इस स्थिति में वह स्वयं से, आत्मा से शून्य हो जाता है और बाह्य संसार के अनित्य दृश्य उसे मुग्ध करते हैं। तब वह बालकों जैसा हठी, इच्छुक और अतृप्त हो जाता है। उसकी बालवृत्ति सारे संसार को अपनी मुट्ठी में भरने को अकुलाती है।

अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि व्यक्ति की यह बालवृत्ति आत्मघातक है। इससे निवृत्त होकर ही वह स्वभाव को उपलब्ध करता है।

अष्टावक्र बालवृत्ति से छुटकारा पाने का उपाय बताते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! आत्म-अज्ञानी संसार को सत्य और सनातन मानता है, जबकि यह मिथ्या और नश्वर है। आत्मज्ञानी की दृष्टि ही **मिथ्या** को भेद कर **सत्य** के दर्शन करती है और वह संसार की वास्तविकता से अवगत हो जाता है।

राजन! इसे अंतिम सत्य मान कि यह संसार कल्पनामात्र है। आत्म-अज्ञानी भी कल्पनाओं में जीते हैं। सुख-दुख की कल्पनाओं से हर्षित और शोकमग्न होते हैं। वासनाओं की कल्पना करते हैं और उन्हें मूर्त रूप देने की कल्पना में ही सारी आयु व्यतीत करते हैं। ऐसा काल्पनिक जीवन जीकर उन्हें क्या सिद्ध होता है? कुछ भी नहीं। ऐसे कल्पनाजीवी व्यक्ति कभी भी जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त नहीं होते हैं।

आत्मज्ञानी आवागमन के चक्र से मुक्त और मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा इसलिए संभव होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि से आवरण हट चुका होता है और वह व्यामोह से रहित होता है। वह भ्रांति में नहीं जीता, संसार को कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता।

आत्मज्ञानी सारी कल्पनाओं से छुटकारा पाकर सर्वस्व में आत्मा को भासता है। उसे संसार की नश्वरता और आत्मा की शाश्वतता का विश्वास होता है।

अतः राजन! जिसे इसका आभास हो जाए कि जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह समस्त मिथ्या और कल्पना है तो उसे आत्मा के सनातन और मुक्त होने का विश्वास हो जाता है। इस ज्ञान से उसे स्वयं के सनातन और मुक्त होने की अनुभूति होती है। तदंतर उसके द्वारा बालवत व्यवहार करने का प्रश्न ही कहां उठता है?'

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूति करोति किम्॥८॥

भावार्थः आत्मा ब्रह्म है और भाव-अभाव कल्पित हैं। जिसे इसका निश्चय हो जाता है, वह निष्काम क्या जानता है, क्या बोलता है, क्या करता है?

विवेचनाः ब्रह्मांड में चतुर्दिक आत्मा का विस्तार है, अतः **आत्मा** ही ब्रह्म है और **ब्रह्म** ही आत्मा है। आत्मा ही संपूर्ण है, आत्मा ही सत्य है। आत्मा के लिए भाव-अभाव कुछ नहीं।

भाव-अभाव की कल्पना व्यामोहग्रस्त व्यक्ति करता है, जो स्वयं आत्मा का अंश होता है, किंतु इस तथ्य से अनभिज्ञ होता है। इस कारण प्राप्य-अप्राप्य और भाव-अभाव से संतप्त रहता है। जबकि यह मात्र भावनाएं हैं, जो काल्पनिक हैं। सत्य है तो सिर्फ आत्मा, जो सनातन और मुक्त है। इस ज्ञान के अभाव में ही व्यक्ति निष्काम को प्राप्त नहीं होता और सतत् कष्टसाध्य श्रम करता है।

अष्टावक्र का मत है कि आत्मा और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं। व्यक्ति आत्मज्ञान से स्वयं को आत्मा से संयुक्त कर देता है, फलस्वरूप वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'हे राजन! जिसे इस तथ्य का निश्चय हो जाता है कि आत्मा **ब्रह्म** है, ऐसा जीवात्मा **ब्रह्ममय** हो जाता है। उसकी प्राप्य-अप्राप्य आदि से संबंधित अवधारणाएं तिरोहित हो जाती हैं। उसकी दृष्टि में भाव-अभाव की भावनाएं काल्पनिक हो जाती हैं। तब वह **निष्काम** हो जाता है, किंतु **अकर्मण्य** नहीं।

राजन! जब वह निष्काम और निराकांक्षित आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है तो उसकी दृष्टि निर्लेप हो जाती है। इस परम आत्मपद पर आसीन होने के बाद उसके लिए कुछ और जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, कुछ भी बोलना उसके लिए निरर्थक हो जाता है और कुछ भी करने को निःशेष हो जाता है।

राजन! तू ही बता, आत्मावत और ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त धीर ज्ञान क्या जाने, क्या बोले और क्या करे?'

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पना:।
सर्वमात्मेतिनिश्चित्यतूष्णीभूतस्ययोगिन:।।९।।

भावार्थ: सर्वस्व आत्मा है, जिसे ऐसा निश्चय हो जाए, उसकी मौनयोगी की भांति 'मैं यह हूं' और 'मैं यह नहीं हूं' की कल्पनाएं क्षीण हो जाती हैं।

विवेचना: सबमें ब्रह्म है, संपूर्ण जगत आत्माच्छादित है। यह परम सत्य है और जो इस सत्य को प्राप्त होता है, उसे कुछ जानने की आवश्यकता नहीं। वह संपूर्ण ज्ञान संपन्न होता है।

आत्म-अज्ञानी भ्रांतियों में जीता है और उन्हें ही सत्य के रूप में स्वीकार करता है। वह जानने को आतुर होता है और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी चाहता है। किंतु उसके साथ कठिनाई यह है कि वह सदा '**मैं यह हूं**' और '**मैं यह नहीं हूं**' की अहंकारपूर्ण दंभोक्तियों से मुक्त नहीं होता, अंत: द्वंद्व की स्थिति में समाधान के स्वर उसके कानों में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान संपन्नता के लिए नितांत आवश्यक है कि शिष्य भलीभांति गुरु उपदेशों का श्रवण करे, किंतु जिसका चित्त वासनाओं से आतुर हो और निरंतर लाभ-हानि की सोचे, वंह गुरुवचनों के प्रति एकाग्र नहीं हो पाता।

आत्मज्ञानी आत्मस्वरूप पाकर निरंजनता में लीन होता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'हे राजन! आत्मपद पर आसीन व्यक्ति इस तथ्य से सुविज्ञ होता है कि आत्मा सनातन, सत्य व मुक्त है। सबमें आत्मा अवस्थित है, आत्मा से विहीन कोई नहीं। इस सत्य को जो असंदिग्ध मानता है और जिसे इसका निश्चय हो जाता है तो वह कुछ भी निरर्थक बोलने की इच्छा से मुक्त होता है।

राजन! ऐसा आत्मपदस्थ मौन योगी की भांति आत्ममंथन में लीन होता है। उसे 'मैं यह हूं' अथवा 'मैं वह नहीं हूं' आदि दंभोक्तियां करने का मोह नहीं सताता। उसके अहंकार की भावनाएं क्षीण पड़ जाती हैं, वह **मैं** की धारणा से उठकर केवल **आत्मांश** हो जाता है।

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।
नसुखंन च वा दु:खमुपशांतस्य योगिन:।।१०।।

भावार्थ: प्रशांत योगी को न विक्षेप होता है और न एकाग्र, न उसे अतिबोध होता है और न मूढ़ता, न वह सुख में है, न दुख में।

विवेचना: आत्मज्ञानी मौन योगी का रूप धारण कर जानने, बोलने व करने की इच्छा से विहीन होता है।

किंतु आत्म-अज्ञानी की स्थिति ऐसी है कि वह आजीवन जानने, बोलने व

करने की इच्छा से द्वंद्वग्रस्त होता है। वह अपनी मूढ़ता को बौद्धिकता समझता है, वासनाओं के अतिबोध की विह्वलता उसे चैन से जीवनयापन नहीं करने देती। वह कभी एकाग्रचित्त नहीं रह पाता, सदा विक्षेप की स्थिति में होता है, अर्थात आकुल होकर कभी यहां, कभी वहां दौड़ता-भागता है। अंत में खाली हाथ जैसे आया था, उसी भांति खाली हाथ भवसागर से कूच कर जाता है।

यदि वह एकाग्रचित्त होकर आत्मज्ञान को प्राप्त होता तो इस प्रकार के आवागमन के नारकीय चक्र से उसे सदा के लिए मुक्ति मिल जाती। किंतु उस अभिमानी को अपने देह-सुख की चिंता से ही मुक्ति नहीं तो अपनी मुक्ति की चिंता कैसे करे।

अष्टावक्र आत्मपद को प्राप्त व्यक्ति की तुलना शांत व मौन योगी से करते हुए राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! प्रशांत योगी निर्लेप होता है, उसी प्रकार आत्मा की प्रतीति करनेवाला भी प्रशांत योगीवत् सिद्ध होता है। उसे किसी भी अनुभूति की आवश्यकता नहीं, वह कुछ भी अनुभूत नहीं करना चाहता। करना भी क्यों चाहे, उसे **आत्मपद** जो प्राप्त है।

अत: राजन! वह विक्षेप नहीं होता, अर्थात विकलता से वह स्वयं को इधर-उधर बिखरने नहीं देता, उसे एकाग्र होने की भी आवश्यकता नहीं होती। वह अतिबोध से विरत होता है, किंतु कभी मूढ़ भी नहीं होता। उसे न सुख में सुख का बोध होता है और न दुख में दुख का। आत्मस्वरूप के बाद वह समस्त सांसारिक क्रियाकलापों से परे, सर्वत्र में व्याप्त हो जाता है।'

स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः॥११॥

भावार्थ: निर्विकल्प स्वभाव के लिए स्वराज्य और भिक्षावृत्ति, लाभ और हानि, जन और वन में विशेष अंतर नहीं।

विवेचना: निस्संदेह भिक्षाटन सर्वाधिक हीन प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति भिक्षा के स्थान पर राज्यारोहण ही करना चाहेगा, क्योंकि वहां भोग-विलास, यश, अधिकार और शासन आदि लुभावनी संभावनाएं हैं, जबकि भिक्षावृत्ति में याचना, अभाव, हीनता, कुंठा और प्रताड़ना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति हानि की भी कल्पना नहीं करना चाहेगा। इसकी संभावना मात्र से उसका सर्वांग कांप उठता है, जबकि लाभ के विचार से ही आह्लाद से रोमांचित हो उठता है। लाभ में उपलब्धि है और हानि में संपत्ति क्षय और अपयश। लाभ व्यक्ति को अधिक संपन्नता तथा भोग-विलास के साधन प्रदान करता है।

ऐसा व्यक्ति वन में क्यों जाना चाहेगा? वन में **योगी** जाते हैं, **भोगी** नहीं। भोगी समाज में ही रहना चाहता है, ताकि जन-जन के सामने उसकी संपन्नता तथा यश का प्रदर्शन हो सके।

अष्टावक्र का कहना है कि अज्ञानी राज्य, भिक्षा, लाभ-हानि और जन-वन में इसलिए भेद करता है, क्योंकि वह सदा संकल्पों-विकल्पों में उलझा रहता है।

इसके विपरीत अष्टावक्र ज्ञानी की दशा का वर्णन करते हुए राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! आत्मपद पर बैठा ज्ञानी निर्लोभी और दृष्टिशून्य होता है। सबकुछ उसे एक समान प्रतीत होता है, अर्थात वह समदर्शी हो जाता है। कुछ भी विशेष नहीं, कुछ भी अविशेष नहीं।

राजन! ज्ञानी का स्वभाव निर्विकल्प होता है, उसके चित्त में कोई संकल्प-विकल्प नहीं उठता। अतः उसके लिए आकांक्षा और अनाकांक्षा का कोई महत्त्व नहीं होता। उसका आत्मभाव उसे स्वराज्य और भिक्षावृत्ति, लाभ और हानि तथा जन और वन के अंतर की अनुभूति से मुक्त कर देता है। प्रारब्ध उसे जिस स्थिति में रखना चाहता है, मौन योगी की तरह वह सब स्वीकार कर लेता है।'

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तस्य योगिनः॥१२॥

भावार्थः यह किया, वह नहीं किया, इन द्वंद्वों से मुक्त योगी के लिए धर्म कहां, काम कहां, अर्थ कहां, ज्ञान कहां?

विवेचनाः सामान्य प्राणी आजीवन इसी द्वंद्व में उलझा रहता है कि ऐसा क्या किया जाए कि अकूत अर्थोपलब्धि हो, संपूर्ण सुखों की प्राप्ति हो और अपार यश का भागी बने। लिप्सा की घातक प्रेरणाशक्ति से वह अनवरत कष्टकारी उद्योग करता रहता है। कितना काम पूरा कर लिया, कितना काम अधूरा रह गया, कितना काम शेष रह गया और कौन-सा नया काम प्रारंभ करना है, इनके ताने-बानों को सुलझाने में ही उसका सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किंतु स्थिति यथावत बनी रहती है, वह मृत्युपर्यंत द्वंद्वमुक्त नहीं हो पाता। द्वंद्वों की दाहक पीड़ा उसे जीवन के वास्तविक सुखों से वंचित कर देती है।

अष्टावक्र कहते हैं-'व्यक्ति जीवन के वास्तविक सुखों का वरण करना चाहता है तो आत्मपद को प्राप्त होना आवश्यक है। तभी उसकी संपूर्ण लिप्साएं तिरोहित होंगी और वह किए और अनकिए कृत्यों की चिंताओं से पीड़ित नहीं होगा।

अष्टावक्र कहते हैं–'हे राजन! यह कर लिया, वह नहीं कर सका, यह चिंता चित्त को उद्वेलित कर देती है। उद्वेलन कभी भी किसी को चैन से जीवन-यापन नहीं करने देता। प्रत्येक पल वह धर्म के बारे में सोचता है, काम से दग्ध होता है और अर्थ संचय की योजनाएं बनाता है। ऐसा उसके साथ एक जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में होता है।

राजन! जो आत्मपद को प्राप्त होता है, वह बार-बार पीड़ा भोगने को पृथ्वी पर अवतरित नहीं होता। **आत्मपद** की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम **द्वंद्वमुक्त** होना अनिवार्य है। तभी **आत्मज्ञान** संभव है। उसका आत्मभाव उसे यह करने और वह न कर सकने के द्वंद्व से मुक्त कर देता है। ऐसा मुक्त किसी अन्य ज्ञान की लालसा नहीं करता और उसके अन्य समस्त भाव तिरोहित हो जाते हैं। वह न सायास धर्मप्रवृत्ति में लीन होता है और न कामप्रवृत्ति में। उसके लिए अर्थप्राप्ति का प्रयास निरर्थक हो जाता है। जो अनायास होता है, उसे होने देता है।'

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना।
यथाजीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥१३॥

भावार्थः जीवनमुक्त योगी के लिए इहलोक में कुछ भी करणीय नहीं है और न ही उसके हृदय में रंजना है। वह यथाजीवन जीता है।

विवेचनाः अज्ञानी व्यक्ति जीवन से मुक्त होने की कल्पना भी नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि में मुक्त होने का अर्थ है मृत्यु। जबकि अष्टावक्र की स्पष्ट मान्यता है कि जीवन मुक्ति का अर्थ है, असार विश्व की भ्रांतियों से छुटकारा पाना। ये भ्रांतियां हैं–देहसुख, भोगविलास, धनसंपन्नता और यश-वैभव की आत्मघाती कामनाएं।

इन कामनाओं को मूर्त रूप देने के लिए वह इहलोक में समस्त करणीय-अकरणीय कर्म करने से नहीं चूकता। जिसके हृदय में रंजना होगी, मोह होगा, वासना होगी, अनुराग होगा, वह अपनी स्वार्थसिद्धि के निमित्त छल-प्रपंच और रक्तपात करने से भी नहीं हिचकता।

अष्टावक्र बार-बार रेखांकित करते हैं कि **अज्ञानी** व्यक्ति की ऐसी स्थिति आत्मघाती होती है। वह स्वयं ही **स्वयं का क्षय** करता है।

अष्टावक्र राजा जनक को जीवनमुक्ति का अर्थ समझाते हुए कहते हैं–'हे राजन! जीवनमुक्ति का यह तात्पर्य नहीं है कि कर्त्तव्यों से विमुख होकर घर-परिवार त्याग कर वन को प्रस्थान किया जाए। जीवनमुक्ति का अर्थ है, चित्त पर अंकुश, ताकि कामनाओं के वशीभूत होकर वह कर्मों में संलिप्त न हो।

राजन! जीवनमुक्ति से ज्ञानी कुछ भी सायास करने की इच्छा से रहित हो जाता है। ऐसे योगी की दृष्टि इहलोक का कोई पदार्थ रंजित नहीं करता, लुभाता नहीं। ऐसी स्थिति में उसे कुछ पाने की, किसी पदार्थ की कामना करने की इच्छा ही नहीं होती। तब उसके लिए इहलोक में कुछ भी करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। उसे प्रारब्ध ने जैसा जीवन दिया है, उसी में संतुष्ट-असंतुष्ट की स्थिति से परे जीवन-यापन करता है।'

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः।।१४।।

भावार्थः सर्वसंकल्पों के सीमांत पर विश्रांत महात्मा को मोह कहां, विश्व कहां, ध्यान कहां और मुक्ति कहां?

विवेचनाः यहां अष्टावक्र बता रहे हैं कि जो आत्मपद को प्राप्त होता है, वह किस अलौकिक स्थिति को सिद्ध करता है।

आत्मज्ञानी समस्त संकल्पों-विकल्पों से स्वतंत्र होकर विश्राम को प्राप्त होता है। इसके विपरीत आत्म-अज्ञानी प्रत्येक दिन विश्राम की इच्छा करता है, किंतु प्रत्येक नए दिन में उसकी व्यस्तता बढ़ती जाती है, उसके सायासों में वृद्धि होती जाती है और अंत में वह श्रांति से चूर-चूर हो जाता है। किंतु इस पर भी हाथ-पैर चलाता हुआ अपने सायास क्रम को स्थगित नहीं करता। उसके लिए मोह ही सबकुछ है। उसे विश्व के बिना जीने की सार्थकता कहां? केवल प्राप्ति के ध्यान को ही वह परम ध्यान मानता है, पर मुक्ति की इच्छा से भी कातर होता है।

आत्मज्ञानी मुक्ति की इच्छा नहीं करता, किंतु अनजाने में ही वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मज्ञानी की अलौकिक स्थिति का वर्णन करते हुए अष्टावक्र कहते हैं-'हे राजन! चित्त में उठनेवाले संकल्प और विकल्प ही व्यक्ति के स्वभाव का निर्धारण करते हैं। यदि वह फलप्राप्ति की आकांक्षा से कर्मों में संलिप्त होगा तो संकल्पों-विकल्पों के लिए निरंतर भागता रहेगा और क्लांत और श्रांत होकर कभी भी निश्चिंतता का जीवन व्यतीत नहीं कर सकेगा।

जो ज्ञानी सर्वसंकल्पों को त्याग देता है, वह अंत में आत्मभाव को प्राप्त होता है। ऐसे महात्मा के चित्त में संकल्प-विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं होता। उसके चित्त की सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसे किसी **मोह** की प्रतीति नहीं होती। उसे विश्व **विराट आत्मा** में समाहित प्रतीत होता है। आत्मध्यानी होने के बाद उसका ध्यान कहीं अन्यत्र भटकने की

स्थिति में नहीं होता। वह मुक्ति की आकांक्षा से भी रहित होता है, किंतु उसे यह ध्यान नहीं होता कि वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

राजन! यही है महात्मा के विश्राम की परम स्थिति।'

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥१५॥

भावार्थः जिसे विश्व जैसा दृष्टिगोचर हो रहा है, वह यह जाने कि वैसा नहीं है, किंतु जो देखता हुआ भी नहीं देखता, ऐसा वासनारहित व्यक्ति क्या करे?

विवेचनाः आत्मज्ञान के अभाव में व्यक्ति को विश्व की माया मोहित करती है। वह सारी माया को दोनों हाथों से समेटकर सुखों का उपभोग करना चाहता है।

अष्टावक्र का कथन है कि विश्व जैसा दिखाई देता है, वस्तुतः वह वैसा है नहीं। कुछ लोगों को यह आभास भी है कि विश्व की मोहमाया दृष्टिभ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इस पर भी वे मोहमाया मुक्त होने का प्रयास नहीं करते। उन्हें लगता है कि मोहमाया के बीच जीवन व्यतीत करना व्यक्ति की विवशता है क्योंकि **जीवन** का दूसरा नाम ही **मोहमाया** है।

अष्टावक्र के मतानुसार व्यक्ति की इस भ्रांति का कारण है आत्मज्ञान का अभाव।

आत्मज्ञान से व्यक्ति को भलीभांति आभास होता है कि विश्व के दृश्यों का उसके लिए कोई अर्थ नहीं, इसलिए मोहमाया का उसे बोध तक नहीं होता। मोहमाया के बोध से ही व्यक्ति कर्मों से संलिप्त होता है, सुखोपलब्धि के आयास करता है।

अष्टावक्र आत्मपद को प्राप्त महात्मा की दृष्टिशून्यता के बारे में बताते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! खुली आंखों से विश्व जैसा दृष्टिगोचर होता है, अंतःदृष्टि से देखा जाए तो वह वैसा नहीं है। किंतु अंतःदृष्टि से देखने की क्षमता है किसमें? **अंतःदृष्टि** से तो वही देख पाने में समर्थ होता है, जो **आत्मपद** को प्राप्त होता है।

राजन! आत्मभाव से दृष्टि निरावृत्त हो जाती है। आंखों से भ्रांतियों का आवरण हट जाता है और अंतःदृष्टि के सम्मुख समस्त सचाइयां प्रकट हो जाती हैं। वह विश्व के समस्त पदार्थ देखता अवश्य है, किंतु किसी के प्रति लुब्ध नहीं होता, क्योंकि वह वासनारहित होता है।

राजन! सच तो यह है कि वासनारहित व्यक्ति विश्व को देखता हुआ भी

नहीं देखता। उसके सामने प्रश्न यह होता है कि वह देखकर भी उनका करे तो क्या करे?

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिंतयेत्।
किं चिंतयति निश्चिंतो द्वितीयं यो न पश्यति॥१६॥

भावार्थः जिसने परमब्रह्म का अवलोकन कर लिया, वह 'मैं ब्रह्म हूं' यही सोचता है, किंतु जिसे यह निश्चय है कि द्वितीय कोई नहीं, वह क्या सोचे?

विवेचनाः आत्मज्ञानी सर्वज्ञान को प्राप्त है। अब उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। जिसने सत्य जान लिया, उसे शेष जानने को क्या रह जाता है?

अष्टावक्र आत्मज्ञानी के और अधिक विशद रूप की चर्चा करते हैं कि आत्मज्ञानी आत्मा की प्रतीति कर लेता है। वह अपने देह के अस्तित्व से विस्मृत हो जाता है और आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। उसे समझते देर नहीं लगती कि पंच तत्वों से निर्मित यह शरीर आत्मा का साक्ष्य स्वरूप है। वह किसी के द्वारा संचालित नहीं। स्वयं का परमात्मा भी वही है। वह **कर्ता** नहीं, केवल **दृष्टा** है। कामनाविहीन है, उसे फलों की चाह नहीं, अतः कर्मों में संलिप्त नहीं।

वह प्रारब्ध के भोगों पर आश्रित है। प्रारब्ध से प्राप्त यथाजीवन यथावत व्यतीत करता है।

इतना ही नहीं, अष्टावक्र उसके व्यापक स्वरूप का बखान करते हुए राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! तूने आत्मा की प्रतीति कर ली। समस्त वासनाओं से मुक्त होकर तूने आत्मपद को प्राप्त कर लिया। चतुर्दिक तुझे ब्रह्म का विस्तार दृष्टिगोचर हो रहा है। कण-कण में ब्रह्म की व्याप्ति से तू अवगत है। तूने ब्रह्म को पा लिया, अतः तू भी ब्रह्म हो। ब्रह्म तुझमें है। तू ब्रह्म है, अतएव तुझे आभास हो गया कि तू ही ब्रह्मरूप है।

राजन! यह सत्य है कि जो परम ब्रह्म को देख लेता है, वह यही सोचता है कि वह ब्रह्मरूप है। किंतु सच तो यह है कि **मैं** और **ब्रह्म** में भी दो की प्रतीति होती है, इसमें भी द्वैत की भावना है। राजन! जब **मैं** का अस्तित्व है, तब तक द्वैत की कल्पना जीवित है। केवल बाह्य सर्वस्व और सर्वत्र है, द्वितीय कुछ और नहीं है। जिसे इसका भान हो जाए, उसके लिए कुछ भी सोचने को शेष नहीं रह जाता।'

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तुनविक्षिप्तः साध्याभावात्करोतिकिम्॥१७॥

भावार्थ: जिसने आत्मविक्षेप को देख लिया, वह मन को वश में करता है। उदारमना विक्षिप्त नहीं होता है, वह साध्य के अभाव में क्या करे?

विवेचना: जो चतुर्दिक आत्मा का अवलोकन करता है, वह ब्रह्मांड के ओर-छोर में स्वयं को भी व्याप्त पाता है। आत्मलीन होने के बाद स्वयं को सबमें समाहित देखकर सोचता है, **कुछ** उससे अलग नहीं, **वह** कुछ से अलग नहीं। सबमें उसे अपना प्रतिबिंब दिखता है। न किसी से शत्रुता और न किसी से मित्रता। न किसी के प्रति मोह और न किसी के प्रति द्वेष। ऐसी स्थिति में वह लाभ-हानि की भावनाओं से मुक्त होता है।

वस्तुत: लाभ-हानि की भावनाओं से ही चित्त विक्षिप्त होता है और उस में कामनाएं जन्म लेती हैं। यही कामनाएं व्यक्ति को आत्मज्ञान का वरण नहीं करने देतीं। किंतु आत्मज्ञान होते ही वह चित्त के विक्षेप को वश में करता है, उसकी इंद्रियां शांत पड़ जाती हैं।

आत्मज्ञानी इससे भी आगे की अलौकिक स्थिति को प्राप्त होता है। इस बारे में अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं–'इसमें संदेह नहीं जो आत्मज्ञानी आत्मा को संपूर्ण ब्रह्मांड में देखता है तो उसे पता चलता है कि एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं। विश्व का जो चर-अचर है, वह सब आत्मा का ही अंश है। अत: वह आत्मविक्षेप पर अंकुश लगाने में सक्षम हो जाता है।

राजन! उदारमना ज्ञानी विक्षिप्त नहीं होता, अत: उसके लिए कुछ भी सिद्ध करने को नहीं होता। **साध्य** ही नहीं तो वह किसकी **साधना** करे।

राजन! उदारमना व अविक्षिप्त ज्ञानी आत्मपद पर आसीन होकर साध्यों से परे हो जाता है, अर्थात उसके लिए करने को कुछ भी नहीं होता।'

धीरो लोकंविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति॥१८॥

भावार्थ: लोक व्यवहार से विपरीत होकर जो लोकवत रहता हुआ न स्वयं की समाधि देखता है और न विक्षेप और न बंधन की, वही धीर-ज्ञानी होता है।

विवेचना: धीर ज्ञानी संसार में संसारवत रहता अवश्य है, किंतु सांसारिक बंधनों से मुक्त होता है। ज्ञानी और अज्ञानी में यही अंतर है। अष्टावक्र की दृष्टि में अज्ञानी लोकवत तो रहता ही है, लोकव्यवहार में संयुक्त भी होता है। इस प्रकार वह सांसारिक बंधनों से आबद्ध होता है और मोहमाया को जीवन का पर्याय मान लेता है।

ज्ञानी ऐसे जीवन को निस्सार मानता है। जीवन की मोहमाया उसे इसलिए

आकृष्ट नहीं करती, क्योंकि वह अपने चित्त का निरोध कर चुका होता है। इस स्थिति में संसार को देखता हुआ भी वह संसार को नहीं देखता। देखे भी तो क्या, सर्वत्र तो उसे अपना ही रूप नजर आता है, सर्वत्र में वह अपना ही प्रतिबिंब देखता है?

इसलिए वह संसार में रहते हुए भी सांसारिक व्यवहारों में लिप्त नही होता। संसारवत रहते हुए भी वह सांसारिक बंधनों से जकड़ा नहीं होता।

अष्टावक्र ऐसे धीर, ज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं–'हे राजन! जो आत्मपद को प्राप्त होता है, वह परम सत्य से परिचित हो जाता है। **आत्मसत्य** को जानने के बाद उसे सबकुछ **भ्रांत** और **असत्य** प्रतीत होता है। संसार से उसकी दृष्टि विलग होकर **आत्मदर्शन** में स्थिर हो जाती है।

यही कारण है कि धीर ज्ञानी लोकव्यवहारों से विपरीत होता है। लोकविपर्यण होकर भी वह लोकवत रहता है, किंतु लोकबंधनों से नहीं बंधता।

उसकी बाह्य दृष्टि शून्य हो जाती है और अंत:दृष्टि विकीर्ण। वह समाधिस्थ हो जाता है, किंतु उसे अपनी समाधि का आभास तक नहीं होता।

राजन! यही वह स्थिति है कि लोकवत रहते हुए भी ज्ञानी न अपनी समाधि देख पाता है, न विक्षेप और न ही बंधन। उसकी ये सारी प्रवृत्तियां विलुप्त हो जाती हैं।'

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥१९॥

भावार्थः जो ज्ञानी तृप्त है, वह भाव-अभाव से विहीन तथा निर्वासना है लोकदृष्टि में कर्म करते हुए भी वह कुछ नहीं करता।

विवेचनाः ऐसा नहीं है कि आत्मपद को प्राप्त होने के बाद ज्ञानी अकर्मण्य हो जाता है। उसके चित्त में कामना नहीं तो उसके लिए कुछ करना भी आवश्यक नहीं। वह **कर्म** करता है, किंतु किसी **फल** की प्रत्याशा में नहीं यही कारण है कि वह कर्मों से संलिप्त नहीं होता।

यही ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर है। अष्टावक्र की दृष्टि में अज्ञानी वासनाओं के वशीभूत काम करता है, इसलिए चित्त को नियंत्रित नहीं कर पाता और कर्म संलिप्तता को जीवन का महत्ती कर्त्तव्य मानता है। इसके विपरीत ज्ञानी चित्त को नियंत्रण में रखता है, फलस्वरूप वासनारहित हो जाता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा विचलित नहीं करती। आत्मदर्शन से आकंठ तृप्त होता है।

अष्टावक्र तृप्त ज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं–'राजन जो आत्मावत होता है, वह लोकवत रहते हुए लोकव्यवहारों से मुक्त होता है। उसका आत्मभाव संपन्न स्वभाव लोकव्यवहारों को आत्मा का चैतन्यस्वरूप मानता है। किंतु आत्मज्ञानी उनसे संयुक्त नहीं होता, जबकि आत्म-अज्ञानी की उनसे संयुक्ति हो जाती है। यही कारण है कि अज्ञानी सदा अतृप्त रहता है और ज्ञानी तृप्त।

राजन! तृप्त ज्ञानी आवश्यकतारहित है, क्योंकि वह वासनारहित होता है और भाव-अभाव की भावना से मुक्त। वह लोक में रहता है, कर्म करता है, किंतु फल की उसे चिंता नहीं होती।

राजन! संसारी लोग उसे काम करते हुए देखते हैं। उन्हें प्रतीत होता है, यह भी इच्छा से प्रेरित होकर काम करता है। लोकदृष्टि में ज्ञानी का व्यवहार भी सामान्य लोकव्यवहार से पृथक नहीं होता, क्योंकि संसारी लोग अपनी दृष्टि के अनुसार ही दूसरे के कर्म व्यवहार का आकलन करते हैं। अतः वह लोकदृष्टि के अनुसार **कर्म** करता हुआ भी **कर्म** नहीं करता।'

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ व नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्॥२०॥

भावार्थः धीर के सामने जब जैसा कर्म आ पड़ता है, उसे करके सुख में स्थित होता है। उस धीर को प्रवृत्ति और निवृत्ति का दुराग्रह नहीं होता।

विवेचनाः अष्टावक्र पहले भी बता चुके हैं कि धीर ज्ञानी प्रयासपूर्वक कर्म नहीं करता। वस्तुतः उसके कर्म किसी चाह की प्रेरणा से नहीं होते, अतः समयानुसार जैसा कर्म उसके सामने अनायास आता है, उसे कर्त्तव्यवत निभाता है।

इसके विपरीत अज्ञानी जो कुछ भी करता है, प्रयासपूर्वक करता है। उसके चित्त में अनगिनत आकांक्षाएं होती हैं, जो उसे हर पल कर्म से संलिप्त करती हैं। उसके हर कर्म में फल पाने की अभिलाषा होती है, यही कारण है कि वह कष्टसाध्य श्रम करने से भी नहीं हिचकता।

आयास और **अनायास** कर्मों का यही अंतर है। अनायास कर्म ज्ञानी करता है, क्योंकि वह प्रारब्ध से प्राप्त फलों-कुफलों को भोगता है। जबकि अज्ञानी आयासपूर्वक कर्म करता है, उसे प्रारब्ध के फलों पर विश्वास नहीं। वह सोचता है, जितना अधिक कठोर श्रम करेगा, उतना अधिक फल का भोग करेगा।

अष्टावक्र धीर ज्ञानी की कर्मपद्धति के बारे में बताते हुए राजा जनक से

कहते हैं—'हे राजन! धीर ज्ञानी निर्लेप होता है, वह किसी प्रकार की प्रत्याशा की अनुभूति से आकुल-विकल नहीं होता। उसके सम्मुख जिस प्रकार का कर्म आ पड़ता है, उसे चुपचाप निपटाता है और सुख में स्थित होता है। उसे प्रारब्ध पर विश्वास होता है, वह प्रारब्ध के फलों पर निर्भर रहकर आत्मानंद में लीन रहता है।

राजन! अज्ञानी भाव-अभाव और प्राप्य-अप्राप्य के द्वंद्व में आजीवन उलझा रहता है और दुखों में जीता हुआ वास्तविक आत्मानंद की कभी अनुभूति नहीं कर पाता। किंतु धीरज्ञानी आत्मानंद को पाकर प्रवृत्ति-निवृत्ति दुराग्रह से मुक्त हो जाता है, क्योंकि उसे भाव-अभाव की प्रतीति नहीं होती।'

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥२१॥

भावार्थः वासनारहित, निरालंबी, स्वच्छंद और बंधनमुक्त ज्ञानी सांसारिक वायु से क्षिप्त सूखे पत्ते की भांति चेष्टा करता है।

विवेचनाः इस सूत्र में अष्टावक्र पुनः ज्ञानी की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि उसे आयासपूर्वक कर्म करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वह सांसारिक कर्म करता है, किंतु उसमें उद्धत नहीं होता, उद्वेलित नहीं होता, उत्तेजित नहीं होता। उसका चित्त शांत होता है और प्रवृत्ति-निवृत्ति विहीन शांतिपूर्वक अपने कर्त्तव्य पालन करता है।

लोगों की दृष्टि ज्ञानी के सांसारिक कामों को भी सामान्य व्यक्ति के लोकव्यवहार की भांति देखती है, किंतु उसके लोकव्यवहार में सामान्य लोगों की तरह **लिप्सा** नहीं होती।

ज्ञानी की कर्मपद्धति कैसी होती है, इस बारे में अष्टावक्र कहते हैं—'हे राजन! ज्ञानी कर्म से क्यों संलिप्त नहीं होता? क्योंकि उसका चित्त **कामनाओं** के स्थान पर **आत्मा** की प्रतीति करता है। इस कारण वह **वासनारहित** होता है। जब वासना नहीं तो कर्म संलिप्तता क्यों? वह किसी का अवलंबन नहीं लेता। उसे अवलंबन लेने की आवश्यकता भी नहीं? आत्मावलंबन के बाद क्या उसे किसी अन्य आवलंबन की आवश्यकता है? वह अपना परमात्मा आप है, इसलिए स्वावलंबी है। उसे बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं; वह निज के प्रकाश से आलोकित है। उसे कोई काल्पनिक परमात्मा अपनी इच्छाओं से परिचालित नहीं करता। वह स्वच्छंद है, इच्छाओं का दास नहीं, परशक्ति के अधीन नहीं, वह अपनी अंतःशक्तियों से प्रेरित और क्रियाशील है। बंधनमुक्त है, इच्छाओं व कामनाओं से मुक्त।

राजन! ऐसे धीर ज्ञानी की कर्मशीलता बड़ी सौम्य, सहज और प्रयासरहित होती है। वह उद्धत होकर कर्मों पर धावा नहीं बोलता, वह सदा विश्राम को प्राप्त होता है।

राजन! जिस प्रकार सांसारिक वायु से पत्ता क्षिप्त होता है, इधर-उधर कांपता है, उसी प्रकार प्रारब्ध की प्रेरणा से वह पत्तावत चेष्टा करता है।'

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादिता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥२२॥

भावार्थः असंसारी को न कभी हर्ष होता है और न विषाद। वह सदा शीतलमना विदेह की भांति विराजित होता है।

विवेचनाः असंसारी अर्थात ज्ञानी को बाह्य पदार्थों से सुख या दुख नहीं होता। वह आत्मानंद को प्राप्त होता है, अतएव सांसारिक हर्ष-विषाद का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। अज्ञानी अर्थात संसारी की भांति उसे लाभ से आह्लाद की अनुभूति नहीं होती और न ही हानि से वह विषण्णता को प्राप्त होता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वह लाभ-हानि की भ्रांत धारणाओं से स्वतंत्र हो चुका होता है।

असंसारी का परिचय देते हुए अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! असंसारी का अर्थ है, जो सांसारिक बंधनों से आबद्ध न हो, जिसकी संसार के मायामोहों से विरक्ति हो चुकी हो। जिसका मोहमाया से विकर्षण हो चुका हो, वह किसी आकर्षण को अनुभूत नहीं करता। ऐसी स्थिति में वह किसके प्रति हर्षित हो और किससे विषादित।

राजन! जैसा कि तुझे पहले से ही विदित है, वह कुछ पाने की आशा नहीं रखता और कुछ खोने से निराश नहीं होता। यह खोना-पाना तो संसारी का भ्रम है, असंसारी प्राप्य-अप्राप्य की चिंता नहीं करता, क्योंकि आत्मचिंत्य का चित्त चिंतारहित होता है। उसकी कार्यपद्धति में प्रवृत्ति-निवृत्ति का कोई स्थान नहीं है। **यह करना है** या **यह नहीं करना है**, इस दुराग्रह से वह मुक्त होता है। वह शांतचित्त सांसारिक कर्मों का असंसारी की भांति निर्वहन करता हुआ प्रारब्ध से प्राप्त भोग को भोगता है।

राजन! इस स्थिति में वह शीतलमन को सिद्ध होता है। ऐसा शीतलमना ज्ञानी देह की अनुभूति से अभिभूत नहीं होता। देह का उसे आभास ही नहीं होता। वह विदेही हो जाता है और आत्मस्वरूप में विराजित होता है।'

कुत्रापिन जिहासास्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥२३॥

भावार्थ: शीतलता से आच्छादित जिसके चित्त में आत्मा रमती है, ऐसे धीर को न कहीं त्याग की इच्छा होती है और न कुछ पाने की आशा।

विवेचना: जिस धीर ज्ञानी के चित्त में आत्मा रमती है, वहां सांसारिक भोगों की इच्छा तिरोहित हो जाती है। वह शीतलमना हो जाता है। उसका मन शीतलता से आच्छादित हो जाता है।

शीतलमना ज्ञानी निर्मोही और निरपेक्ष होता है, अत: आशा-प्रत्याशा और निराशा-दुराशा के प्रभाव उसे स्पर्श नहीं कर पाते। आशा-निराशा के द्वंद्व में वही उलझता है, जो प्राप्ति-अप्राप्ति की चिंता से व्यथित होता है। इस व्यथा से वह जटिल जीवन को प्राप्त होता है, क्योंकि अधिक प्राप्ति के व्यामोह में वह कठोर श्रम करता है और उसकी व्यथा में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है। उसका शरीर क्लांत पड़ जाता है, अशक्तता और जर्जरता से शरीर निढाल पड़ जाता है, किंतु वह सांसारिक कर्मों की संलिप्तता से मुक्ति पाने का प्रयास नहीं करता।

इसके विपरीत शांतचित्त को कर्मों की व्यथा नहीं सताती। वह संयम और सौम्यता से वही कर्म करता है, जो अनायास उसके सामने आ पड़ते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं—'हे राजन! **कामनाहीनता** को प्राप्त ज्ञानी के चित्त में **आत्मा** रमण करती है, अत: वहां **शीतलता** छा जाती है। जिस प्रकार कठोर कर्मों का तप्त सूर्य अज्ञानी को दग्ध करता है, उसी प्रकार चेष्टारहित कर्मों का शीतल चंद्रमा ज्ञानी को प्रशांत और शीतल करता है। ऐसे चित्त में न **पाने** का आग्रह होता है और न **खोने** की आशंका।

राजन! जो **विदेह** हो जाए, जिसे देह का बोध ही न हो, उस आत्मावत ज्ञानी को न त्याग की इच्छा होती है और न कुछ पाने की।'

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानिता॥२४॥

भावार्थ: प्रकृति से ही जो शून्यचित्त है और प्रारब्धानुसार कर्म करता है, ऐसे धीर ज्ञानी का अज्ञानी की भांति न मान है और न अवमान।

विवेचना: मान-अवमान की भावनाओं से अज्ञानी विचलित होता है। समाज में मान-सम्मान की स्थिति पाने के लिए वह भांति-भांति के उद्योग करता है। सम्मान पाकर वह इतराता है और उसके अहंकार में वृद्धि होती है। यदि उसका अवमान हुआ तो उसके अहंकार रूपी सर्प का फन विष उगलता है। अज्ञानी आजीवन मान-अवमान के भ्रांत दंभ से स्वयं का ही अहित करता है।

ज्ञानी को मान-अवमान की अनुभूति नहीं होती। वह निश्छल और निरपेक्ष

होता है। न उसे मान पाने की आकांक्षा होती है और न वह अवमान से भयभीत होता है।

अष्टावक्र के मतानुसार मान-अवमान से अज्ञानी विचलित होता है, क्योंकि वह देह-धर्म को प्राथमिकता देता है और देह ही मान-अवमान या यश-अपयश से सुख और दुख का अनुभव करता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं-'हे राजन! अज्ञानी **देह** की आवश्यकतानुसार **कर्म** करता है, जबकि ज्ञानी **प्रारब्धानुसार**। ज्ञानी की देह किसी प्रकार की इच्छा के प्रति आकृष्ट नहीं होती, क्योंकि उसका चित्त शून्य होता है, वहां इच्छा-अनिच्छा का प्रवेश वर्जित है। ज्ञानी प्रारब्ध के भोग पर आश्रित होता है, अत: उसके लिए मान-अवमान की दशा का कोई अर्थ नहीं। मान-अवमान से तो वह विचलित होता है, जिसके चित्त में इच्छाएं होती हैं। उसकी इच्छाएं पूरी होती है तो **सम्मानित** होता है, पूरी नहीं होती हैं तो **अवमानित**।'

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न॥२५॥

भावार्थ: यह कर्म देह ने किया है, मुझ शुद्धरूप ने नहीं, ऐसा विचार करनेवाला कर्म करता हुआ भी नहीं करता।

विवेचना: प्राणिमात्र कर्म से मुक्त नहीं। पृथ्वी पर जिसका अवतरण हुआ है, वह कर्म करने को बाध्य है। बिना **कर्म** के **गति** नहीं। किंतु कर्म करना और कर्म में संलिप्त होना, कर्म की दो अलग-अलग दशाएं हैं।

जो व्यक्ति **देहसुख** के लिए कर्म करता है, कर्म उस पर **हावी** हो जाता है। वह कष्टसाध्य श्रम करते हुए क्लांत भी हो जाता है। किंतु जो ज्ञानी प्रारब्ध पर आश्रित होता है, वह **अपरिहार्य** कर्म करता है, और उसे किसी प्रकार की **थकान** नहीं होती। उसे लगता ही नहीं कि वह कुछ कर रहा है।

अष्टावक्र का कथन है कि जिसे यह विश्वास हो जाए कि वह जो कर्म कर रहा है, उसमें उसकी कोई संलिप्ति नहीं है, बल्कि समस्त कर्म देह द्वारा किए जा रहे हैं, उसके शुद्धरूप द्वारा नहीं। उसे काम करते हुए भी ऐसा प्रतीत होगा कि वह कुछ भी नहीं कर रहा है।

अतद्वादोव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवंमुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥२६॥

भावार्थ: जीवनमुक्त ज्ञानी इसके विपरीत 'मैं करता हूं' कहकर कर्म करते हुए भी मूर्ख नहीं होता, अतएव वह सांसारिक कर्म करते हुए भी सुख-संपन्नता से शोभा को प्राप्त होता है।

विवेचनाः ज्ञानी का जीवन अभिलाषाओं से मुक्त होता है। उसकी देह द्वारा किए गए कर्मों के बारे में यदि वह यह भी न कहे कि इन्हें मैं नहीं करता तो वह मूर्ख नहीं, क्योंकि उसका चित्त कामनाशून्य होता है।

अष्टावक्र का कथन है कि जीवनमुक्त प्राणी अपने अत:करण की शुद्धता के कारण सांसारिक व्यवहारों का निर्वहन करते हुए भी सुखी-संपन्न होकर शोभा को प्राप्त होता है।

नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति॥२७॥

भावार्थः नाना-प्रकार के विचारों से मुक्त होकर जो विश्रांति को प्राप्त है, ऐसा धीर ज्ञानी न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है और न देखता है।

विवेचनाः जिसे संसार के दृश्य लुभाते हैं, जो स्वयं की सत्ता को श्रेष्ठ और सत्य मानता है, वही संकल्प-विकल्प करता है, वही कहता है कि मैं सबकुछ जानता हूं, उसे ही सुनने की आवश्यकता पड़ती है और वही चतुर्दिक देखता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या हेय और और क्या रुचिकर।

किंतु जो अच्छे-बुरे और हेय व रुचिकर के भेद से मुक्त होता है, उसे चतुर्दिक सिर्फ आत्मा दृष्टिगोचर होती है। इस स्थिति में वह एकमात्र आत्मा में सबको समाहित पाता है। **सर्वत्र** में आत्मा और **आत्मा** में सर्वत्र का ज्ञान होते ही वह भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों से मुक्त हो जाता है। उसकी दृष्टि **अद्वैत** हो जाती है।

अष्टावक्र कहते हैं—'जो द्वैत भावनाओं से पीड़ित हैं, वही नाना-प्रकार के विचारों के द्वंद्व में उलझते हैं। आत्मदर्शी विचारों से मुक्त होते ही विश्राम को प्राप्त होता है, उसकी सारी क्लांति तिरोहित हो जाती है। आत्मज्ञान के बाद न वह संकल्प-विकल्प की कल्पनाएं करता है, न उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसके लिए न तो कुछ सुनने को शेष रह जाता है और न ही देखने को।

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यंब्रह्मैवास्ते महाशयः॥२८॥

भावार्थः ज्ञानी असमाधि में भी विक्षिप्त व जिज्ञासु नहीं होता। सबकुछ कल्पित है, ऐसा निश्चित जानकर वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञानी को समाधि लेने की आवश्यकता नहीं होती। **समाधि** लेना भी **अभिलाषा** की अभिव्यक्ति है। ज्ञानी समस्त अभिलाषाओं से **मुक्त** होता है। वह अज्ञानी की तरह श्रमसाध्य कर्म करते हुए क्लांत नहीं होता कि

अंत में विश्राम पाने की इच्छा से समाधि लेने की आवश्यकता अनुभव करे।

अष्टावक्र का मत है कि ज्ञानी सांसारिक कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए, अर्थात समाधिरहित होते हुए भी न विक्षिप्त होता है और न ज्ञान-पिपासु। आत्मज्ञान से उसे विदित होता है कि समस्त जगत कल्पित और मिथ्या है। इस सत्य से निश्चित वह ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति करता है।

यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेणनकिंचिद्धि कृतं कृतम्॥२९॥

भावार्थ: जिसके अंत:करण में अहंकार का अहसास है, वह कर्म न करता हुआ भी कर्म करता है, जबकि अहंकारहीन धीर ज्ञानी कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता।

विवेचना: जिसका चित्त अहंकार के मिथ्या ज्ञान से विचलित और चंचल होता है, वह कर्म न करे, किंतु उसके चित्त में हर क्षण संकल्पों-विकल्पों की आंधी चलती रहती है। वह नई-नई योजनाएं बनाने में व्यस्त होता है।

अष्टावक्र का स्पष्ट मत है कि अज्ञानी का **अहंकार** उसे कभी विश्राम नहीं करने देता। उसके हाथ काम न करते हों तो मन की उद्धत कल्पनाओं से वह सदा क्लांत होता है। इसके विपरीत अहंकारहीन आत्मावत होता है। वह जगत में स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के अहंकार से स्वतंत्र होता है, अत: लोगों की दृष्टि में वह भले ही कर्म करता हुआ प्रतीत हो, किंतु उसे नहीं लगता कि वह कुछ कर रहा है।

नोद्विग्नं न च संतुष्टं कर्तृत्वमदवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥३०॥

भावार्थ: मुक्तचित्त न उद्विग्न होता है, न संतुष्ट, वह कर्त्तव्यरहित और स्पंदनहीन होता है। आशा और संदेह से शांतचित्त में मुक्ति विराजती है।

विवेचना: जिसका चित्त सांसारिक मोहमाया से विचलित होता है, उसे ही कामनाएं उद्विग्न करती हैं। वही भोग-विलासों से तुष्ट होता है और अगले पल अतृप्त। उसे आशा और संदेह के द्वंद्व से कभी शांति का अनुभव नहीं होता।

अष्टावक्र मानते हैं कि व्यक्ति अपने पतन का उत्तरदायी स्वयं है। यदि वह चित्त को मोहमाया से मुक्त कर दे तो वह परम शांति को प्राप्त होकर आत्मदर्शन कर सकता है।

अष्टावक्र कहते हैं-'जिसका चित्त मुक्त होता है, उसे उद्विग्नता नहीं सताती। वह संतोष-असंतोष के भेद को भूल जाता है। कर्त्तव्य निर्वहन करते हुए भी उसे **कर्म** करने की अनुभूति नहीं होती। वह स्पंदन होता है, अर्थात

सुख-दुख की प्रतिक्रियाएं व्यक्त नहीं करता। वह आशा-निराशा के द्वंद्व से परे हो जाता है। उसे किसी प्रकार का संदेह दग्ध नहीं करता। वस्तुतः ऐसे ही शांत चित्त में **मुक्ति** विराजती है।

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यंच्त्तिं न प्रवर्त्तते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते॥३१॥

भावार्थः जिसका चित्त निष्क्रिय अथवा चेष्टा में प्रवृत्त नहीं, किंतु वह स्थिर होकर बिना किसी निमित्त के चेष्टाएं करता है।

विवेचनाः सांसारिक मोहमाया से ग्रस्त चित्त का व्यक्ति यश व संपन्नता के लोभ से निरंतर क्रियाशील होता है, भांति-भांति की चेष्टाएं करता हुआ कर्मों से लिप्त होता है।

इसके विपरीत, अष्टावक्र कहते हैं–'जिसका चित्त निष्क्रिय होता है, अर्थात संकल्पों-विकल्पों से रहित होता है, वह किसी प्रकार की चेष्टाओं और उद्योगों में संलिप्त नहीं होता। हां, वह संलिप्ति के बिना चेष्टाएं अवश्य करता है, किंतु किसी लोभवश नहीं। उसकी सारी क्रियाएं बिना किसी निमित्त, हेतु अथवा प्रयोजन के होती हैं। उसे **फल** की आशा ही नहीं तो वह क्यों **कर्मों** से संलिप्त होकर व्यर्थ ही क्लांत हो।

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढताम्।
अथवा याति संकोचममूढः कोऽपि मूढवत्॥३२॥

भावार्थः मंदबुद्धि यथार्थता को सुनकर मूढ़ता को प्राप्त होता है अथवा संकोच को। किंतु अमूढ़ ज्ञानी मूढ़वत होते हुए समाधिस्थ होता है।

विवेचनाः जगत की यथार्थता क्या है? यही कि जगत मिथ्या है, इसके दृश्य काल्पनिक हैं। किंतु अज्ञानी इनसे लुब्ध होता है और मोहमाया को ही जीवन का पर्याय मानता है।

अष्टावक्र का कथन है कि ऐसे लोगों की बुद्धि मंद होती है। इन्हें जगत की यथार्थता का ज्ञान दिया जाए तो इसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

वास्तविक मूढ़ता और अमूढ़ता का अर्थ समझाते हुए अष्टावक्र कहते हैं–'मंदबुद्धि को **यथार्थता** का उपदेश देना निरर्थक है। इसे सुनकर भी वह मूढ़ता में लिप्त रहता है और अपने संकुचित विचारों से मुक्त नहीं हो पाता। इसके विपरीत जो ज्ञानी होता है, वह मूढ़ता से मुक्त होता है, वह लोगों की दृष्टि में भले ही मूढ़वत हो, किंतु वह समाधि को प्राप्त होता है।

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं नपश्यंतिसुप्तवत्स्वपदेस्थिताः॥३३॥

भावार्थः मूढ़, एकाग्रता अथवा निरोध का भीषण अभ्यास करता है, किंतु धीर-ज्ञानी स्वपद में स्थित सुप्तवत किसी कर्म को नहीं देखता।

विवेचनाः सांसारिक बंधनों में जकड़ा हुआ मूढ़ व्यक्ति अपने चित्त पर अंकुश लगाना चाहता है, चित्त को एकाग्र करना चाहता है, किंतु अथक प्रयास करने पर भी उसे सफलता नहीं मिल पाती। इसके विपरीत ज्ञानी किसी प्रकार का प्रयास नहीं करता, किंतु वह एकाग्रता को प्राप्त करता है, उसके चित्त की प्रवृत्तियां नियंत्रण में होती हैं।

अष्टावक्र कहते हैं—'मूढ़ का चित्त सदैव विचलित होता है, वह समाधि भी ले तो चित्त की चंचलता उसे व्याकुल करती है। बहुत प्रयास करने पर भी वह चित्त को एकाग्र व नियंत्रित कर पाने में असमर्थ होता है। जबकि धीर ज्ञानी चेष्टाहीन होता है, उसे प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार सुप्त व्यक्ति को करने योग्य कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी का चित्त स्वपद, आत्मपद को पाकर सुप्तवत-सा कोई भी ऐसा कर्म नहीं देखता, जो करने योग्य हो। अर्थात वह किसी प्रकार की **चेष्टाओं** में लिप्त नहीं होता।

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्त्वनिश्यमात्रेण प्राज्ञो भवति निवृत्तः।।३४।।

भावार्थः मूढ़ अप्रयत्न अथवा प्रयत्न से निवृत्ति को प्राप्त नहीं होता। किंतु प्रज्ञ व्यक्ति मात्र तत्त्व का निश्चय करके निवृत्त होता है।

विवेचनाः मूढ़ व्यक्ति जब तक सांसारिक कर्मों में लिप्त रहेगा, वह मोहपाश से कभी मुक्त नहीं हो सकता। वह कभी संतृप्त नहीं होता, अतः वृत्तियों में संलिप्त रहना उसकी बाध्यता है। जबकि आत्मज्ञानी निवृत्ति को प्राप्त होता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'मूढ़ अज्ञानी भले समाधिस्थ हो जाए, अनेक साधनाएं करे, किंतु किसी प्रकार के प्रयास से उसका चित्त शांत नहीं होता। मूढ़ के सारे अप्रयत्न अथवा प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं और वृत्तियों पर अंकुश लगाने में असमर्थ होता है। किंतु ज्ञानी मात्र **आत्मतत्त्व** की प्रतीति करता है तो उसकी समस्त वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। वह **आत्मस्वरूप** को प्राप्त कर **निवृत्त** हो जाता है।

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूण निष्प्रणांच निरामयम्।
आत्मानं तं न जानंतितत्राभ्यासपराजनाः।।३४।।

भावार्थः जो अभ्यास करते हैं, ऐसे व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच और निरामय आत्मा को नहीं जान पाते।

विवेचना: जिसे देहाभिमान हो, वह देहसुख को ही महत्त्व देता है। ऐसा मूढ़ व्यक्ति कितना भी प्रयास करे, भले ही कई अभ्यासों का आश्रय ले, किंतु वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं कर पाता। जिसका चित्त वासनाओं से सदा चंचल होता है, उसके द्वारा आत्मदर्शन कर पाना संभव ही नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए कोई कष्टसाध्य श्रम नहीं करना पड़ता, मात्र आत्मतत्त्व की प्रतीति ही पर्याप्त है, इसी से सर्वत्र **आत्मदर्शन** करना सहज होता है।

अभ्यासपरायण व्यक्ति सदा सांसारिक कर्मों में संलिप्त रहते हैं, अतः आत्मा की प्रतीति कभी नहीं कर पाते। जो शुद्ध है, प्रबुद्ध है, सुप्रिय है, संपूर्ण है, प्रपंचों से परे है–वह निरामय है अर्थात सुख-दुख से मुक्त है।

अष्टावक्र का मत है, जो आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है, वह भी शुद्ध, बौद्धिक, प्रिय, पूर्ण प्रपंच रहित और हर्ष-विषाद से स्वतंत्र होता है।

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।
धन्योविज्ञानमात्रेणमुक्तास्तिष्ठत्यविक्रियः॥३६॥

भावार्थ: विमूढ़ व्यक्ति अभ्यासरूपी कर्मों से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता, किंतु ज्ञानी मात्र ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त होता है।

विवेचना: अभ्यासरूपी कर्म क्या है? समाधि, साधनाएं, यज्ञ, योग और तप। विमूढ़ व्यक्ति सोचता है कि इस प्रकार के अभ्यासरूपी कर्म करके वह मोक्ष को प्राप्त होगा, किंतु यह उसका भ्रम है। विमूढ़ व्यक्ति का चित्त वासनाग्रस्त होता है। **मोक्ष** प्राप्ति का प्रयास भी उसकी **वासना** ही है। किंतु योग, साधना और समाधि में उसका चित्त अंकुश में नहीं होता, ऐसी स्थिति में वह वासनाओं की चिंता से व्यथित होता है, अतः मोक्ष का वरण नहीं कर पाता।

अष्टावक्र कहते हैं–'विमूढ़ व्यक्ति भले ही नाना-प्रकार के अभ्यासरूपी कर्म करे, किंतु वह मोक्ष सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चित्त सें लाभ-हानि की चिंता का लोप नहीं होता। ज्ञानी मोक्ष के लिए कोई प्रयास नहीं करता, मोक्ष की इच्छा भी नहीं करता, फिर भी मोक्ष को प्राप्त होता है। कैसे?

ज्ञानी केवल आत्मज्ञान का वरण करता है, वह किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता, कोई अभ्यास नहीं करता। केवल आत्मज्ञान से वह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

मूढो नाप्नोति तद्‌ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरोहि परब्रह्मस्वरूपभाक्॥३७॥

भावार्थः मूढ़ व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्म होने की इच्छा करता है, ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता। धीर ज्ञानी अनिच्छित होकर परब्रह्म स्वरूप को भजता है।

विवेचनाः देहाभिमानी मूढ़ व्यक्ति सोचता है कि प्रयास करके वह जिस प्रकार सांसारिक पदार्थ प्राप्त करता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म को भी प्राप्त कर लेगा।

वस्तुतः ब्रह्म कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं। प्रत्येक जीव-जड़ ब्रह्म से निसृत ब्रह्मस्वरूप है, जो इस तत्त्व को अनुभूत करता है, उसे ब्रह्मदर्शन प्राप्त हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'मूढ़ व्यक्ति योग, अभ्यास और साधनाओं से ब्रह्म होने की कामना करता है, किंतु साधनाओं से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्म तो वह स्वयं ही है। ब्रह्म से **वह** है, उसी से **ब्रह्म** है। बस, इसकी प्रतीति ही पर्याप्त है। ज्ञानी इसकी प्रतीति करने में सक्षम होता है, क्योंकि उसके चित्त में इच्छाओं का लोप हो चुका है। वह पूर्णतः अनिच्छित होता है। इस प्रकार **ब्रह्म** को प्राप्त होकर परब्रह्म स्वरूप भजता है।

निराधारग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः॥३८॥

भावार्थः मूढ़ व्यक्ति ही निराधार और दुराग्रही संसार का पोषक है। ज्ञानी अनर्थ के इस मूल का मूलोच्छेद करते हैं।

विवेचनाः हानि-लाभ की अवधारणाएं निराधार हैं। सुख-दुख की भावनाएं **दुराग्रह** के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किंतु मूढ़ व्यक्ति इन्हीं को सांसारिक कर्मों की धुरी मानता है। यही कारण है कि अष्टावक्र मूढ़ व्यक्तियों को संसार की भ्रांतियों का पोषण करनेवाला मानते हैं और ज्ञानी को इस अनर्थ का **मूलोच्छेदक**।

अष्टावक्र कहते हैं–'इस संसार में जितनी भी आधारहीन भ्रांतियां तथा दुराग्रहपूर्ण विचार हैं, उनका पोषण मूढ़ व्यक्ति ही करता है। उसे लगता है, जीवन का दूसरा नाम है सुख-दुख भोगना तथा लाभ-हानि ही जीवन-व्यापार है। किंतु यह अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि भ्रांत जीवन-व्यापार व्यक्ति को सत्य से परिचित नहीं होने देता। किंतु ज्ञानी आत्मतत्त्व को प्राप्त कर सत्य से परिचित होता है, अतः वह इस अनर्थ के वीभत्स मूल को देख लेता है। ज्ञानी का आत्मज्ञान अनर्थ के इस मूल का स्वतः मूलोच्छेदन करता है।

न शांति लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वंविनिश्चत्यसर्वदाशांतमानसः॥३९॥

भावार्थ: मूढ़ व्यक्ति जिस प्रकार शांति की कामना करता है, उस प्रकार उसे शांति लाभ नहीं हो सकता। धीर ज्ञानी तत्त्व को प्राप्त कर सर्वदा शांत चित्त हो जाता है।

विवेचना: मूढ़ व्यक्ति जब भोग-विलासों से ऊब जाता है और श्रमसाध्य संघर्ष उसे क्लांत कर देता है तो वह शांति की कामना से नाना-प्रकार के आयोजन करता है, योगाभ्यास और साधनाओं की शरण लेता है। किंतु ऐसी क्रियाओं से शांति-लाभ संभव नहीं। अज्ञानी योगाभ्यास में भी लाभ-हानि की चिंता से मुक्त नहीं होता।

शांति पाने के लिए अभ्यास नहीं, मात्र **तत्त्वज्ञान** ही यथेष्ट है। ज्ञानी व्यक्ति आत्मतत्त्व को आत्मसात करता है। उसके चित्त की समस्त वासनाएं भाग जाती हैं और चित्त की चंचलता लुप्त हो जाती है। आत्मतत्त्व से ज्ञानी यह जानने में समर्थ हो जाता है कि जिस चित्त पर वासनाओं का अधिकार होता है, वह व्यक्ति को कभी भी शांति का आभास नहीं होने देता। ऐसा व्यक्ति निरंतर वासनाओं का पीछा करता हुआ अशांत और क्लांत होता है। आत्मज्ञानी तत्त्व को प्राप्त होता है, अत: उसका चित्त सदैव शांत होता है।

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
धीरास्ते तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।।४०।।

भावार्थ: जो दृष्टि का अवलंबन लेता है, उसे आत्मदर्शन कहां? धीर ज्ञानी देखता नहीं, किंतु अव्यय और अविनाशी आत्मा देखता है।

विवेचना: अज्ञानी की दृष्टि जो कुछ देखने में समर्थ होती है, उसे ही सत्य मानती है। जो दृष्टिगोचर नहीं होता, वह उसके लिए नितांत असत्य है। अज्ञानी केवल अपने **बाह्य चक्षु** का आश्रय लेता है, जहां तक वह दृश्य देख पाता है, वहीं तक उसका संसार सीमित होता है।

ज्ञानी बाह्य चक्षु से नहीं देखता। आत्मज्ञान से उसकी **अंत:दृष्टि** खुल जाती है और बाह्य दृष्टि शून्य हो जाती है।

अष्टावक्र कहते हैं—'जो अज्ञानी होता है, वह सीमित परिधि में विचरण करता है। उसे सांसारिक दृश्य देखने से ही अवकाश नहीं तो वह आत्मदर्शन कैसे कर सकता है। ज्ञानी दृष्टिशून्य हो जाता है, उसे सांसारिक दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते। वह आत्मानुभूति करता है और इस प्रकार उसे अव्यय-अविनाशी आत्मा के दर्शन हो जाते हैं।

क्व निरोधी विमूढोऽस्य यो निर्बन्धे करोतिवै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिम:।।४१।।

भावार्थः जो अज्ञानी बलपूर्वक निर्बंध होना चाहता है, उसे चित्त का निरोध कहां? स्वयं में रमते हुए धीर ज्ञानी का चित्त निरोध वास्तविक है।

विवेचनाः अज्ञानी एक ओर भोग-विलासों में संलिप्त रहता है, दूसरी ओर चित्त को नियंत्रित भी करना चाहता है। इसके लिए वह नाना-प्रकार के कठोर प्रयास भी करता है। किंतु जिसका चित्त वासनाओं का दास हो, वह भला चित्त पर अंकुश लगाने में कैसे समर्थ हो सकता है। उसी का चित्त अंकुश में रहता है, जिसकी वासनाओं का लोप हो गया है।

अष्टावक्र का कथन है कि सांसारिक बंधनों से आबद्ध अज्ञानी निर्बंध अवश्य होना चाहता है, इसके लिए बलपूर्वक प्रयास भी करता है, किंतु वह चित्त का निरोध नहीं कर पाता। वस्तुतः चित्त-निरोध के लिए प्रयास अपेक्षित नहीं है। चित्त की **शुद्धता** ही व्यक्ति को **निर्बंध** कर देती है।

ज्ञानी निर्बंध होता है, चूंकि उसका चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त निरोध की अपेक्षा नहीं करता, उसका स्वमेव निरोध हो जाता है। आत्मरमण करनेवाला ज्ञानी चित्त निरोध का प्रयास नहीं करता, उसका चित्त निरोध, वास्तविक और स्वाभाविक है।

भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः॥४२॥

भावार्थः कोई भाव को मानता है, किसी को 'कुछ नहीं है' का बोध होता है। जो विरला दोनों को ही नहीं मानता, वह निराकुल होता है।

विवेचनाः सांसारिक कर्मों में लिप्त रहनेवाले लोग सदैव द्वंद्व में उलझे रहते हैं। किसी को लगता है कि संसार ही सत्य है, संसार के दृश्य भोग्य हैं। वह यश-अपयश व संपन्नता की कामना से सदैव संघर्षरत रहता है।

किसी को प्रतीत होता है कि संसार मिथ्या है, दृश्यों में कुछ नहीं रखा। यह उसका आत्मज्ञान नहीं होता, अपितु भोग-विलास से उसकी विरक्ति होती है। विरक्त होते हुए भी वह जीवन-व्यापार करने को बाध्य है।

अज्ञानी व्यक्ति विभिन्न विचारों का मंथन करते हैं, कभी उन्हें संसार **'कुछ नहीं है'** प्रतीत होता है तो कभी संसार में ही **सबकुछ** दृष्टिगोचर होता है।

अष्टावक्र का कथन है कि अज्ञानी ही भाव-अभाव के द्वंद्व से व्याकुल होता है। किंतु कोई विरला ही आत्मभाव को प्राप्त होता है और उसके लिए भाव-अभाव की भावनाओं का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वह **निराकुल** होता है क्योंकि उसका चित्त व्याकुलता से मुक्त होता है।

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः।
न तु जानांत संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः॥४३॥

भावार्थः कुबुद्धि से ग्रस्त व्यक्ति शुद्ध और अद्वैय आत्मा की भावना करते तो हैं, किंतु मोहवश उसे जान नहीं पाते और आजीवन अनिवृत्त ही होते हैं।

विवेचनाः जो व्यक्ति सांसारिक वृत्तियों का दास होता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। ऐसा नहीं है कि उसने आत्मा की भावना न की हो अथवा उसकी शुद्धता अथवा अद्वैक्ता से अपरिचित न हो। किंतु भावना करने मात्र से कोई आत्मदर्शन नहीं कर लेता।

अष्टावक्र कहते हैं–'सांसारिक वृत्तियां व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्तियां क्षीण कर देती है। वह कुबुद्धि से ग्रस्त होता है। उसने आत्मा और उसके शुद्ध व अव्यक्त स्वरूप के बारे में सुना तो होता है, किंतु सांसारिक मोहमाया के कारण आत्मा को जान नहीं पाता, फलतः वह आजीवन निवृत्त नहीं होता। यह ऐसी स्थिति है, जिसमें वह जीवनभर दुख और कष्ट झेलता है।

मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा॥४४॥

भावार्थः ज्ञान-पिपासु व्यक्ति की बुद्धि आलंबन का आश्रय लेती है। मुक्त व्यक्ति की बुद्धि सर्वदा निरालंब और निष्काम होती है।

विवेचनाः जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह किसी का आश्रय लेने की इच्छा से भी मुक्त हो जाता है। स्वात्म होने का अर्थ यही है कि वह स्वावलंबी है, अपना परमात्मा आप है, अतः उसकी बुद्धि किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं करती।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञान-पिपासा उसे सताती है, जो आत्मज्ञान से वंचित है। आत्मज्ञान के अभाव में वह ज्ञान पाने की इच्छा तो रखता है, किंतु ज्ञानोपदेशों को सुनकर वह उन्हें हृदयंगम नहीं कर पाता, क्योंकि हृदय में सतत् कामनाओं का ज्वार-भाटा उठता-गिरता रहता है। उसकी बुद्धि सदैव दूसरों का अवलंबन लेने को बाध्य होती है। वह निर्णय लेने में असमर्थ होता है। दूसरे का आश्रय लिए बिना कुछ भी कर पाने में सक्षम नहीं होता।

इसके विपरीत आत्मज्ञान से संपन्न व्यक्ति की बुद्धि आत्मस्फूर्त व स्वतःस्फूर्त होती है। उसे किसी का आश्रय नहीं चाहिए, वह **आत्माश्रय** है। फलतः उसकी मुक्त बुद्धि निरालंब और निष्काम होती है। अर्थात वह स्वाश्रयी व कामनारहित होता है।

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्रसिद्धये।।४५।।

भावनाः विषय-व्याघ्र को देखकर भयाक्रांत व्यक्ति शरण पाने और चित्त के निरोध व एकाग्रता हेतु गुहा में प्रवेश करते हैं।

विवेचनाः वस्तुतः सांसारिक बंधनों में जकड़ा हुआ व्यक्ति भोग-विलास में इतना मग्न होता है कि इसके अतिरिक्त वह किसी अन्य में रुचि नहीं ले पाता। अंततः घनघोर भोग-विलास से वह स्वयं ही विरक्त हो उठता है। तब वह संसार से ऊब जाता है, वह शांति की खोज में यत्र-तत्र भटकता है, किंतु गुहा में समाधि लेने पर भी उसके चित्त की चंचलता का लोप नहीं होता।

अष्टावक्र कहते हैं—'विषयासक्त व्यक्ति को एक दिन अपनी ही विषय-वासनाएं व्याघ्र की भांति प्रतीत होती हैं। तब वह उनसे भयभीत हो जाता है। संसार से उसका जी उचाट हो जाता है, वह शरण लेने के लिए व्याकुल हो जाता है। चित्त-निरोध और एकाग्रता की उत्कट आकांक्षा उसे विह्वल कर देती है। तब वह गुहा में जाता है, किंतु वहां भी उसे शांति नहीं मिलती।

निर्वासनं हरिं दृष्टवा तूर्ष्णीं विषयदंतिनः।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।।४६।।

भावार्थः विषयरूपी हाथी वासनारहित सिंह को देखते ही चुपचाप पलायन कर जाता है, अथवा अशक्त होकर चाटुकार की भांति उसकी सेवा करता है।

विवेचनाः वासनारहित व्यक्ति के सम्मुख विषय टिक नहीं सकते। जिस व्यक्ति के चित्त में वासना नहीं, वह **दृष्टिशून्य** हो जाता है, उसे विषय प्रतीत ही नहीं होते।

अष्टावक्र कहते हैं—'वासनारहित व्यक्ति सिंह की भांति वीर और सक्षम होता है तथा विषय हाथी की भांति मदमस्त। ऐसे विषयरूपी मदमस्त हाथी पर वही व्यक्ति सवार होता है, जिसका चित्त वासनाओं से विचलित होता है। किंतु यही विषयरूपी हाथी जब वासनारहित सिंह को देखता है तो चुपचाप भागने को बाध्य हो जाता है अथवा अशक्त चाटुकार सेवक की भांति उसकी सेवा करता है।

अर्थात वासनारहित व्यक्ति विषयासक्त नहीं होता। वह विषयों में संलिप्त हुए बिना प्रारब्ध से प्राप्त विषयों को भोगता है। इसके विपरीत अज्ञानी व्यक्ति विषयासक्त होकर भोग-विलास में संलिप्त होता है।

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।
पश्यञ्शृण्वस्पृशंजिघ्रन्न श्नन्नास्तेयथासुखम्।।४७।।

भावार्थ: निःशंक संदेहमुक्त और धीर-गंभीर मना ज्ञानी मुक्ति के लिए योगाभ्यास धारण नहीं करता। वह देखता, सुनता, स्पर्श करता तथा खाता हुआ यथासुखी होता है।

विवेचना: अष्टावक्र ने आत्मज्ञानी होने के लिए ऐसा परामर्श कदापि नहीं दिया कि व्यक्ति को घर-बार त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहिए अथवा वनों, पहाड़ों व गुफाओं में जाकर योग-साधनाएं करनी चाहिए। उनका स्पष्ट मत है कि संसार में रहते हुए ही वह आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। बस, आवश्यक यह है कि वह सांसारिक कर्म करे, किंतु उनमें संलिप्त न हो। **आत्मज्ञान** के मार्ग पर सबसे बड़ी बाधा है **विषयासक्ति**। जिसके चित्त में वासनाओं का जंगल उग आया है, वह कभी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अज्ञानी नाना-प्रकार के उपायों से मुक्ति पाने का प्रयास करता है, योगाभ्यास करता है, किंतु जिसका चित्त **शुद्ध** नहीं है, वह **मुक्त** कैसे हो सकता है?

अष्टावक्र कहते हैं–'मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम चित्त का शुद्धिकरण करना चाहिए। वासनारहित चित्त ही शुद्ध, स्वच्छ और निर्मल होता है। न उसमें किसी प्रकार की शंका रह पाती है और न किसी प्रकार का संदेह। शंका और संदेह से अज्ञानी का चित्त पीड़ित होता है, ज्ञानी का नहीं। ज्ञानी धीर, गंभीर मना होता है, आत्मशक्ति से संपन्न, अपना नियामक आप होता है।

ऐसा धीर-गंभीर ज्ञानी मुक्ति के लिए प्रयास नहीं करता। वन-प्रांतरों व गुफाओं में नहीं जाता। योग-साधनाओं का आश्रय नहीं लेता। घर-परिवार त्याग कर संन्यासी नहीं बनता। वह घर-परिवार में ही रहता है। समस्त सांसारिक कर्मों का निर्वहन करता हुआ, फल की इच्छा नहीं करता, मुक्ति की इच्छा भी नहीं करता, किंतु मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मज्ञानी संसार में रहते हुए सबकुछ देखता है, किंतु किसी दृश्य से मोहित नहीं होता। वह सुनता है, किंतु आग्रही नहीं होता। वह स्पर्श करता है, किंतु उससे संलिप्त नहीं होता। वह खाता है, किंतु भोग-विलास नहीं करता। इस प्रकार मुक्ति पाकर यथासुखी होता है।

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा न पश्यति॥४८॥

भावार्थ: वास्तविकता का श्रवण मात्र करते ही शुद्ध-बुद्ध और निराकुल ज्ञानी आचार-अनाचार और उदासीनता की ओर नहीं देखता।

विवेचना: ज्ञानी की प्रकृति बड़ी अनुपम और अलौकिक होती है। एकमात्र

वास्तविक ज्ञान है—आत्मज्ञान। इसे हृदयंगम करते ही वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। उसे अन्य किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। आत्मभाव के अतिरिक्त उसके अन्य भाव निःशेष हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसका चित्त शांत पड़ जाता है और उसकी आकुलता तिरोहित हो जाती है।

ऐसे धीरमना ज्ञानी का परिचय देते हुए अष्टावक्र कहते हैं—'जो व्यक्ति इच्छारहित होता है, वह आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व ही यथार्थ ज्ञान है, यही एकमात्र वास्तविक सत्य है। इस सत्य को जो सिद्ध कर लेता है, उसे किसी अन्य सत्य का आग्रह नहीं रहता।

अष्टावक्र का कहना है कि जो **आत्मतत्त्व** की वास्तविकता का साक्षात्कार कर लेता है, ऐसे ज्ञानी की **बुद्धि शुद्ध** और **चित्त शांत** हो जाता है। वह निराकुल होता है, व्याकुलता और आकुलता से मुक्त। उसके लिए न आचार का महत्त्व है, न अनाचार का और न ही उदासीनता का। वह कर्म लिप्त हुए बिना कर्त्तव्य निर्वहन करता है।

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥४९॥

भावार्थः जब जैसा भी शुभ अथवा अशुभ कर्म आ पड़ता है, तब ज्ञानी उसे आग्रहरहित होकर करता है। उसकी चेष्टाएं बालवत होती हैं।

विवेचनाः शिशु आग्रहरहित होता है। उसके चित्त में किसी प्रकार की इच्छाएं नहीं होतीं। वह कर्महीन और चेष्टारहित होता है और प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोगता है।

आत्मज्ञानी भी बालवत होता है। वह फल की चिंता किए बिना कर्त्तव्य निर्वाह करता है और प्रारब्ध से प्राप्त भोगों पर निर्भर होता है। वह संसार में रहता है, इसलिए उसे भांति-भांति के कर्मों का सामना करना पड़ता है। कुछ काम उसकी रुचि के होते हैं, कुछ कामों से उसे विरक्ति होती है, किंतु वह प्रत्येक प्रकार के काम करने को बाध्य होता है।

अष्टावक्र इस बात को राजा जनक से इस प्रकार कहते हैं—'हे राजन! जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, उसे भी देहधर्म निभाना पड़ता है। यह ठीक है कि उसे विदित होता है कि उसकी देह आत्मा का साक्ष्य स्वरूप है, अतः जब तक देह है, ज्ञानी कर्म करने को विवश है। उसका आत्मस्वरूप स्वतंत्र और शाश्वत है और देह नश्वर। आत्मस्वरूप को किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं, किंतु देह प्रारब्ध के अधीन है।

ज्ञानी के सम्मुख प्रारब्ध की ओर से जैसा भी कर्म आ पड़ता है, चाहे वे

शुभ हो या अशुभ, उसे वह चुपचाप निभाता है और उसका फल प्रारब्ध पर छोड़ देता है। संसार में रहना है और वह भी भांति-भांति के लोगों के साथ, तो शुभ और अशुभ कर्म का चुनाव करना किसी के लिए संभव नहीं। अत: जैसा भी कर्म आ पड़े, उसे ज्ञानी आग्रहरहित हो सहजता से करता है।'

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी इस प्रकार चुपचाप कार्यों को निपटाता है, जैसे एक शिशु। अर्थात शुद्ध चित्तवाले ज्ञानी की समस्त चेष्टाएं शिशुवत प्रतीत होती हैं। उसकी चेष्टाओं में प्रयास नहीं होता, उसकी चेष्टाएं प्राकृतिक, स्वाभाविक और सहज होती हैं।

स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात्परमं पदम्॥५०॥

भावार्थः ज्ञानी स्वतंत्रता से सुख को और परमता तथा निवृत्ति को प्राप्त होता है, ऐसे में उसे परमपद को प्राप्ति होती है।

विवेचनाः जिस ज्ञानी को आत्मा की प्रतीति होती है, वह देहधर्म निभाते हुए भी आत्मा की भांति स्वतंत्रता को प्राप्त होता है। स्वतंत्रता की अनुभूति उसे अलौकिक स्वरूप प्रदान करती है।

अष्टावक्र कहते हैं–'स्वतंत्रता को अनुभूत करनेवाला ज्ञानी किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता, स्वयं ही सुख को प्राप्त होता है। परमज्ञान से संपन्न होता है। उसकी सारी वृत्तियां विनष्ट होती हैं और वह परमपद को प्राप्त होता है।

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदाक्षीणाभवन्त्येवसमस्ताश्चित्तवृत्तयः॥५१॥

भावार्थः जब स्वात्म को अकतृत्व और अभोक्तृत्व का ज्ञान होता है, तब उसकी समस्त चित्तवृत्तियां क्षीण हो जाती हैं।

विवेचनाः ज्ञान अथवा अज्ञान को प्राप्त होना, चित्तवृत्तियों पर निर्भर करता है। जिसकी चित्तवृत्तियां वासनाओं से सम्मोहित हैं, वह अज्ञानता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। जिसके चित्त में वृत्तियां ही नहीं होतीं, वह शुद्ध होता है, उसमें वासनाओं का प्रवेश नहीं होता। ऐसे स्वच्छ व निर्मल चित्त वाला व्यक्ति ज्ञान से स्वत: ही संपन्न होता है। इसलिए अष्टावक्र बार-बार चित्त की वृत्तियों से मुक्त होने का आग्रह करते हैं।

आत्मज्ञानी दृष्टिशून्य हो जाता है, अत: उसे सांसारिक दृश्य सम्मोहित नहीं करते। इस प्रकार उसके चित्त की वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। किंतु जब तक **देह** है, तब तक **कर्म** निर्वहन की विवशता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'ज्ञानी कर्म निर्वहन अवश्य करता है, किंतु उसके स्वात्म को **अकर्ता** और **अभोक्ता** का बोध हो जाता है। उसे करने और भोगने की लालसा व्याकुल नहीं करती। शुभ-अशुभ जो करने को सामने आ पड़ता है, उसे करता है। प्रारब्ध से जो भोग मिलता है, उसे भोगता है। कर्तापन और भोक्तापन का भाव ही चित्त में वृत्तियां पैदा करता है। किंतु अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व के भाव से जब मुक्त होता है तो उसकी समस्त चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं।

उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु सस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढस्य कृत्रिमा॥५२॥

भावार्थः धीर ज्ञानी की उच्छृंखलता भी वास्तविक स्थिति में शोभायमान है, किंतु सस्पृह चित्त के मूढ़ की कृत्रिम शांति भी शोभायमान नहीं।

विवेचनाः ज्ञानी हर स्थिति में स्वाभाविक प्रतीत होता है, उसे कृत्रिमता स्पर्श तक नहीं कर पाती। वह अधीरता में भी आत्मावत होता है, और आकुलता में भी आत्मावत। वह अधीरता और आकुलता से आहत नहीं होता।

अष्टावक्र कहते हैं—'धीर ज्ञानी चूंकि स्पृहामुक्त होता है, इच्छारहित होता है, अतः उसकी उच्छृंखलता, उसकी बेचैनी भी उसे विचलित नहीं करती, वह अकृत्रिम स्थिति में भी विराजमान और शोभायमान होता है।

किंतु जिसका चित्त स्पृहायुक्त है, इच्छाओं से चंचल है, उसकी शांति कृत्रिम होती है, इसलिए वह शोभा को प्राप्त नहीं होती।

विलसंति महाभोगैर्विशंति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः॥५३॥

भावार्थः संकल्पों-विकल्पों से रहित, बंधनविहीन, स्वतंत्र बुद्धि वाला, धीर ज्ञानी कभी महाभोगों का विलास करते हैं तो कभी गिरि-गह्वरों में प्रवेश करते हैं।

विवेचनाः आत्मज्ञानी की प्रत्येक प्रकार की कल्पना तिरोहित हो जाती है। वह शांति और शुद्धता को प्राप्त होता है। वह **इच्छाहीन** कर्म करता हुआ **प्रारब्ध से भोग** प्राप्त करता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'जो व्यक्ति आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, वह संकल्पों-विकल्पों की कल्पना नहीं करता। वह बंधनमुक्त होता है। उसकी बुद्धि स्वतंत्र हो जाती है। वह देहसुख की कामना नहीं करता, केवल देहधर्म निभाता है। वह कर्म करता है, किंतु फल की अपेक्षा नहीं करता। वह प्रारब्ध से कभी याचना नहीं करता कि उसे यह चाहिए या वह चाहिए। प्रारब्ध से सुख

मिले या दुख, दोनों को चुपचाप भोगता है। प्रारब्ध से उसे कभी महाभोग प्राप्त होता है, जिनका विलास करता है। कभी प्रारब्ध से गिरि-गह्वरों में प्रवेश करता है।

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्यनकापिहृदिवासना॥५४॥

भावार्थः ब्राह्मणों, देवताओं व तीर्थों की पूजा करने और सुंदर नारी, राजा और प्रियपात्र को देखने से भी ज्ञानी के हृदय में कोई वासना उत्पन्न नहीं होती।

विवेचनाः अज्ञानी प्रत्येक काम को लोभवश करता है। वह फल की आशा किए बिना कोई काम कर ही नहीं सकता। उसकी हर क्रिया में स्वार्थ होता है। तीर्थों की यात्रा करता है तो वह भी किसी कामनापूर्ति की इच्छा से। ब्राह्मणों की सेवा-सत्कार करने के पीछे भी उसकी कार्यसिद्धि की आकांक्षा होती है। देवताओं की अभ्यर्थना भी वह स्वार्थवश ही करता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी कामनारहित होता है। उसका चित्त वासनाविहीन होकर शुद्धता को प्राप्त होता है। अतः वह निस्वार्थ भाव से तीर्थयात्रा करता है। ब्राह्मणों का सेवा-सत्कार किसी कामना के वशीभूत होकर नहीं करता। देवताओं की अभ्यर्थना विशुद्ध भक्तिभाव से करता है।

यही नहीं, अष्टावक्र का कथन है कि ऐसे ज्ञानी का हृदय सुंदर नारी, राजा अथवा किसी प्रियपात्र को देखकर वासनाओं से अकुलाता नहीं। अर्थात न तो वासना से प्रेरित होकर पूजन करता है और न ही मोहमाया से उसे वासना की प्रतीति होती है।

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्यधिक्कृतोयोगीनयातिविकृतिंमनाक्॥५५॥

भावार्थः ज्ञानी योगी सेवकों, पुत्रों, पत्नी, नातियों और संबंधियों से उपहास व धिक्कार पाकर भी तनिक विकार को प्राप्त नहीं होता।

विवेचनाः हर्ष और विषाद, क्षोभ और उल्लास तथा क्रोध व अहंकार के भावों से अज्ञानी पीड़ित होता है। ज्ञानी अभिमानरहित होता है, अतः वह **अप्रिय** बात से न तो **क्रोधित** होता है और न **प्रिय** बात से **हर्षित**।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञान से संपन्न धीर व्यक्ति सामान्यजन की भांति प्रतिक्रिया प्रकट नहीं करता। वह आत्मनिष्ठा से निरपेक्ष हो जाता है। कई बार निकट संबंधी, यहां तक कि सेवक तक उपहास करने की धृष्टता करते हैं, किंतु आत्मज्ञानी कोई उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता।

अष्टावक्र ज्ञानी को ऐसा योगी मानते हैं, जिसका सेवक, संतान, स्त्रियां,

नाती और सगोत्री उपहास करते हैं, हंसी उड़ाते हैं, यहां तक कि उसे धिक्कारते भी हैं, किंतु आत्मस्थित ज्ञानी के मुख पर तनिक भी **विकार** का भाव नहीं झलकता।

संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशांतांतांतादृशा एवजानते।।५६।।

भावार्थः ज्ञानी योगी संतुष्ट होते हुए भी संतुष्ट नहीं होता, खिन्न होते हुए भी विषण्ण नहीं होता। उसकी इन आश्चर्यजनक दशाओं को उसके जैसा ज्ञानी ही समझ सकता है।

विवेचनाः ज्ञानी की दृष्टि और सामान्यजन की दृष्टि में बहुत अंतर होता है। ज्ञानी **आत्मदृष्टि** से देखता है, जबकि सामान्यजन **लोकदृष्टि** से। सामान्यजन दृश्यों की भव्यता देखकर लुब्ध होता है अथवा उनकी वीभत्सता उसे विचलित करती है। जबकि आत्मदृष्टि को आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। दृश्य की भव्यता और वीभत्सता उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखती।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी को संतुष्टि-असंतुष्टि की अनुभूति नहीं होती। सामान्यजन को प्रतीत होता है कि ज्ञानी संतुष्ट है, जबकि लोकधारणा के अनुसार वह संतुष्ट नहीं होता। सामान्यजन को वह कभी खिन्न प्रतीत होता है, जबकि वह खिन्न भी नहीं होता।

आत्मज्ञानी की इन आश्चर्यजनक दशाओं को सामान्यजन समझ पाने में असमर्थ होते हैं। इन्हें तो वही समझ सकता है जो उस जैसा आत्मज्ञानी होता है।

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यंति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।।५७।।

भावार्थः संसार कर्त्तव्यों का दूसरा नाम है, इसे शून्याकारी, निराकारी, निर्विकारी और निरामय ज्ञानी नहीं देखता है।

विवेचनाः संसार में जो आया है, उसे कर्त्तव्यों का निर्वहन अवश्य करना होता है। कर्त्तव्यों का ही दूसरा नाम संसार है। सामान्यजन और ज्ञानी के कर्त्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं। सामान्यजन कर्मों का निर्धारण लाभ-हानि को देखते हुए करते हैं। जिस कर्म में लाभ की प्राप्ति है, वही कर्म उन्हें रुचिकर प्रतीत होते हैं। जिस कर्म में हानि की संभावना हो, उसे हाथ तक नहीं लगाते। उनके कर्म के अन्य प्रेरणास्रोत होते हैं–लोभ, ईर्ष्या और क्रोध।

ज्ञानी के कर्त्तव्य निर्वहन में फल की इच्छा नहीं होती, वह देहधर्म के कारण कर्म करता है और प्रारब्ध से प्राप्त फल ग्रहण करता है। उसे संसार के दृश्य नहीं दिखाई देते। उसे संपूर्ण जगत आत्मा की भांति शून्याकार और

निराकार प्रतीत होता है, उसी में वह अपना प्रतिबिंब देखता है। आत्ममय और आत्मदर्शी बनकर उसके विकार और सुख-दुख के भाव तिरोहित हो जाते हैं। उस निर्विकारी और निरामय ज्ञानी को संसार की प्रतीति होती ही नहीं।

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥५८॥

भावार्थः मूढ़ व्यक्ति अकर्मण्य होते हुए भी सर्वत्र संकल्प-विकल्प करते हुए व्यग्र होता है और कुशल ज्ञानी कर्मण्य होते हुए भी निराकुल होता है।

विवेचनाः ज्ञानी और अज्ञानी की कार्यशैली में अंतर होता है। अज्ञानी सदैव कर्मरत रहता है। उसका मस्तिष्क एक पल के लिए भी विश्राम नहीं करता। वह हर पल नए-नए विचार करता रहता है। सोते-जागते उसे एक ही प्रश्न व्यथित करता है कि वह अपनी इच्छाओं को मूर्तस्वरूप कैसे प्रदान करे?

ज्ञानी को इच्छाएं व्यथित नहीं करती। उस पर कर्म हावी नहीं होते। वह काम करते-करते थकता नहीं। अतः लगता है, मानो अकर्मण्य है।

अष्टावक्र कहते हैं—'मूढ़ व्यक्ति कभी काम निरत नहीं होता। जब वह काम नहीं भी कर रहा होता है, तब भी उसका चेहरा तनावग्रस्त होता है, क्योंकि उसके चित्त में संकल्पों-विकल्पों का तूफान उमड़ रहा होता है। इसके विपरीत ज्ञानी शांतचित्त होता है। उसके चेहरे पर कोई तनाव या विकार नहीं होता। काम करते हुए भी नहीं लगता कि वह काम कर रहा है। अज्ञानी के फल की कामना से किए कर्म और ज्ञानी के इच्छारहित कर्म में यही भेद है।

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुक्ते व्यवहारेऽपिशांतधीः॥५९॥

भावार्थः ज्ञानी व्यवहार में भी सुख से बैठता, सोता, आता व जाता है तथा सुख से बोलता और खाता है।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी कैसा भी व्यवहार करते हुए व्यग्र होता है। एक पल को उसे शांति नहीं मिल पाती। उसका सारा समय भाग-दौड़ में व्यतीत होता है। वह न चैन से सो पाता है और न चैन से खा पाता है। उसके आने-जाने से स्पष्ट प्रकट होता है कि वह उतावला है।

अष्टावक्र कहते हैं कि इसके विपरीत ज्ञानी लोक व्यवहार में सुखपूर्वक बैठता है, किसी प्रकार की शीघ्रता से व्याकुल नहीं होता। रात को निश्चिंत होकर सोता है। कोई चिंता उसे नहीं सताती। सुखपूर्वक आता-जाता है। सबसे सुखपूर्वक बोलता है। खाते समय भी परम शांत रहता है। उसके व्यवहार में कोई हड़बड़ी नहीं होती।

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षांभ्यो गतेक्लेशःस शोभते॥६०॥

भावार्थः व्यवहार करनेवाला जो ज्ञानी स्वभाव से लोकवत दुखी नहीं होता, वह समुद्र की भांति अक्षोभ्य और क्लेशरहित शोभायमान होता है।

विवेचनाः दुखी होना, क्षोभ प्रकट करना अथवा क्लेश की अनुभूति करना ज्ञानी को शोभा नहीं देता। वह ऐसे विकारों से मुक्त होता है। आत्म-अज्ञानी दुख, क्षोभ या क्लेश से पीड़ित होता है।

अष्टावक्र सच्चे ज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं–'आत्मज्ञानी का व्यवहार अत्यंत सौम्य होता है। वह जो कुछ करता है अत्यंत शांत चित्त से करता है। राजन! सच्चा ज्ञानी वही है जो लोक-व्यवहार करते समय स्वभाव से सामान्यजन की भांति दुखी न हो। दुख-सुख की अनुभूति न करनेवाला शांत समुद्र की भांति क्षोभ से संतप्त नहीं होता और क्लेशरहित होता है। ऐसा ज्ञानी ही शोभा को प्राप्त होता है।'

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरूपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥६१॥

भावार्थः मूढ़ की निवृत्ति भी प्रवृत्तिस्वरूप होती है, किंतु ज्ञानी की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के समान फल देती है।

विवेचनाः आत्मज्ञानी और आत्म-अज्ञानी की प्रवृत्तियों और निवृत्तियों में बहुत अंतर होता है। आत्म-अज्ञानी कभी-कभी संसार से विरक्त होकर अपनी प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का प्रयास करता है। किंतु इस प्रयास में वह सफल नहीं होता? आत्मज्ञान के अभाव में निवृत्ति का उपक्रम करते हुए भी उसका चित्त प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता। उसकी लालसाएं उसे उकसाती रहती हैं। निवृत्ति होने की लालसा भी चित्त की वृत्ति है।

इसके विपरीत आत्मज्ञानी निवृत्त होने की लालसा नहीं करता, किंतु उसका चित्त वृत्तियों से मुक्त होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'मूढ़ कभी निवृत्त होने की स्थिति को प्राप्त नहीं होता। इच्छापूर्वक निवृत्त होने का उपक्रम भी स्वयं में प्रवृत्तिस्वरूप ही है। निवृत्ति की भ्रांति में भी वह लालसाओं और लाभ-हानि की भावनाओं से मुक्त नहीं होता। जबकि आत्मज्ञानी की संपूर्ण प्रवृत्तियां लालसारहित होती है, वह लाभ-हानि की चिंता से ग्रस्त नहीं होता है। यही कारण है कि वह अपनी **प्रवृत्तियों** से **निवृत्ति** के फल पाता है, जबकि उसने निवृत्ति के फल की आकांक्षा भी नहीं की होती।

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्वरागः क्व विरागिता॥६२॥

भावार्थः मूढ़ का वैराग्य भी प्रायः परिग्रह की भांति दृष्टिगोचर होता है, किंतु जिसकी आशाएं देह में गल गई हैं, ऐसे ज्ञानी को राग कहां और विराग कहां?

विवेचनाः मूढ़ अज्ञानी भले ही वैराग्य लेकर वन में चला जाए, किंतु वह मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष की इच्छा से लिया गया वैराग्य भी परिग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं। यही नहीं वह वैराग्य की स्थिति में भी सांसारिक गतिविधियों से विमुख नहीं हो पाता। उसकी **देह आशाओं** से दग्ध होती है और **चित्त चिंताग्रस्त**।

अष्टावक्र कहते हैं–' अज्ञानी को वैराग्य में देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह अनुराग से मुक्त नहीं। उसका मुख चिंता से क्लांत होता है और आंखों में अतृप्ति की झलक होती है। इससे यही प्रतीत होता है कि उसकी चित्तवृत्तियां शांत नहीं हुई हैं।

किंतु आत्मज्ञानी को वैराग्य लेने की आवश्यकता नहीं। उसे वैराग्य धारण की इच्छा भी नहीं होती। उसकी देह किसी आशा से उत्कंठित नहीं होती, उसकी चित्तवृत्तियां शांत पड़ जाती हैं। अतः वह राग-विराग की भावनाओं से मुक्त होता है।

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टरूपिणी॥६३॥

भावार्थः मूढ़ की दृष्टि सर्वदा भावना-अभावना से आसक्त होती है, किंतु स्वस्थचित्त ज्ञानी भावन-अभावन करते हुए भी उसके लिए अदृश्य रूपी होते हैं।

विवेचनाः मूढ़ ही संकल्पों-विकल्पों के जोड़-तोड़ में संबद्ध होता है। उसे ही भाव-अभाव के द्वंद्व सताते हैं। वही सोच-विचार में उलझता है और शारीरिक व मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है।

अष्टावक्र का कथन है कि यदि व्यक्ति भावनाओं-अभावनाओं के आत्मघाती चक्रव्यूह से मुक्त हो जाए तो उसकी चित्तवृत्तियां शांत पड़ सकती हैं और वह **आत्मानुभूति** करने में सफल हो सकता है। किंतु देहाभिमान के कारण वह सदैव संकल्प-विकल्प में संलिप्त रहता है।

संकल्प-विकल्प ज्ञानी भी करता है, किंतु उसमें फल की इच्छा नहीं होती। प्रारब्ध से जो संकल्प-विकल्प उसके सामने आ पड़ते हैं, उनका निदान

करता है। अतः उसके लिए संकल्प-विकल्प अदृश्य होते हैं। उन्हें **देखता** हुआ भी **नहीं देखता**, **कर्म** करता हुआ भी **कर्म नहीं** करता। ऐसे अलौकिक ज्ञानी का चित्त स्वस्थ व शुद्ध होता है।

सर्वारंभेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।
नलेपस्तस्यशुद्धस्य क्रियमाणेऽपिकर्मणिः।।६४।।

भावार्थः जो ज्ञानी मुनि शिशुवत निष्काम भाव से कार्यारंभ करता है, ऐसा शुद्धस्वरूप कर्मों से संलिप्त नहीं होता।

विवेचनाः निस्संदेह ज्ञानी भी संकल्प-विकल्प करता है किंतु उनमें किसी प्रकार की कामना नहीं होती। वह सबको प्रारब्ध का भोग मानकर ग्रहण करता है। जिस प्रकार शिशु की चेष्टाएं कामनारहित होती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी की भी होती हैं।

अष्टावक्र का कथन है कि आत्मज्ञान के अभाव में जो व्यक्ति वासनाओं के वशीभूत कर्म करता है, वह विकारग्रस्त व अविवेकी होता है। विकाररहित और विवेकशील ज्ञानी कभी भी वासनानुभूति नहीं करता। उसकी समस्त क्रियाएं शिशु की भांति निष्काम और निराकांक्षित होती हैं। उसकी चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं, अतएव वह शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है। इस स्थिति में वह कर्म करते हुए भी कर्मों में संलिप्त नहीं होता।

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषुयः समः।
पश्यंशृण्वन्स्पृशांजिघ्रन्न श्नन्निस्तर्षमानसः।।६५।।

भावार्थः ऐसा आत्मज्ञ धन्य है, जो सर्वभावों में सम होता है और देखता, सुनता, सूंघता, खाता हुआ भी तृष्णाहीन मनःस्थिति में होता है।

विवेचनाः मूढ़ व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता। वह कितना भी भोग-विलास करे, उसकी तृष्णा समाप्त नहीं होती। उसके चित्त में वासनाओं का सागर सदैव उमड़ता रहता है और वह आजीवन उसमें डूबता-उतराता है। किंतु जिसे आत्मतत्त्व का ज्ञान है, वह परमतृप्त होता है। उसके चित्त को कोई वासना दग्ध नहीं करती।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्म-अज्ञानी संसार के दृश्यों को जितना देखता है, उसकी देखने की इच्छा उतनी ही बढ़ती जाती है। संसार के स्वर उसे मधुर लगते हैं, उन्हें सुनता हुआ वह कभी क्लांत नहीं होता। सुगंध उसे आजीवन मुग्ध करती है। भोगविलास की निरंतरता उसे कभी तृप्त नहीं होने देती। इसके विपरीत जिस आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, उसके लिए समस्त भाव एक समान होते हैं। संकल्पों-विकल्पों के प्रति भी वह समदर्शी हो जाता है। ऐसा

आत्मज्ञ प्रारब्धानुसार देखता, सुनता, सूंघता और खाता है। वह अधिक की लालसा नहीं करता, इसलिए परम तृप्ति को प्राप्त होता है।

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येवधीरस्यनिर्विकल्पस्यसर्वदा॥६६॥

भावार्थः आकाश की भांति सर्वदा निर्विकल्प धीर ज्ञानी का संसार कहां, आभास कहां, साध्य कहां और साधना कहां?

विवेचनाः सामान्यजन आत्मज्ञान के अभाव में संसार की भ्रांतियों से परिचित नहीं हो पाता। अतएव वह सर्वदा संकल्प-विकल्प करता है। संसार के पदार्थ उसे **लुब्ध** करते हैं और वह उन्हें **उपलब्ध** करने की नई-नई योजनाएं बनाने में लिप्त होता है। वह समस्त साध्य सिद्ध करना चाहता है। स्वर्ग की कामना भी उसके लिए साध्य है। साध्यों की सिद्धि के लिए सारे साधनों का उपयोग करता है। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु यज्ञादि साधनों का आश्रय लेता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'जो आत्मज्ञानी होता है, वह आत्मसिद्ध होता है, उसे कोई इच्छा विचलित नहीं करती। जब **इच्छा** ही नहीं तो वह किसकी **आकांक्षा** से क्या संकल्प-विकल्प करे।

अष्टावक्र की दृष्टि में ज्ञानी दृष्टिशून्य होता है। वह आकाशवत हो जाता है। आकाश शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं, इस प्रकार आत्मचित्त ज्ञानी भी शून्य हो जाता है।

अष्टावक्र राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन! शून्याकाश की भांति आत्मज्ञानी सदैव विकल्परहित होता है। संसार उसे लुब्ध नहीं करता। बल्कि उसे आकाश की प्रतीति तक नहीं होती। वह समस्त साध्यों से परे होता है। स्वर्ग-नरक की अवधारणाएं उसकी दृष्टि में कल्पित होती हैं। मोक्ष को प्राप्त ज्ञानी के लिए क्या स्वर्ग और क्या नरक। अतएव वह स्वार्थवश किसी को प्रसन्न करने के लिए साधनाओं का आश्रय नहीं लेता।'

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्त्तते॥६७॥

भावार्थः पूर्णतः आत्मस्वरूप को प्राप्त ज्ञानी निस्वार्थ संन्यासी विजयी होता है और पूर्ण स्वरूप में वास्तविक भाव से समाधि को प्राप्त होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञान के अभाव में व्यक्ति कभी निस्वार्थी हो ही नहीं सकता। उसके सारे कर्मों का आधार अर्थप्राप्ति ही होती है। तदंतर सांसारिक भोग-विलासों से विरक्ति होती है तो समाधि लेता है। किंतु उसकी यह समाधि

कृत्रिम होती है, क्योंकि समाधि की स्थिति में भी वह अर्थप्राप्ति के प्रपंचों में लिप्त होता है। समाधि भी वह स्वार्थवश ही लेता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञान से संपन्न व्यक्ति आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, अन्य स्वरूपों से वह अनभिज्ञ होता है। आत्मविज्ञ को किसी अन्य ज्ञान व रूप की प्रतीति नहीं होती। वह अर्थप्राप्ति की इच्छा से निरपेक्ष होता है। ऐसा परम आत्मस्वरूप निस्वार्थ संन्यासी की भांति इंद्रियजित होता है। ऐसे विजयी और पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करनेवाले को समाधि लेने की आवश्यकता नहीं। किंतु वह समाधि लिए बिना ही वास्तविक समाधि को प्राप्त होता है।

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥६८॥

भावार्थः इसमें बहुत कुछ कहने को क्या है? जिसे तत्त्व का ज्ञान है, वह भोग-मोक्ष से निराकांक्षित सदैव राग-विराग से मुक्त होता है।

विवेचनाः जो सत्य है, उसे आत्म-अज्ञानी ही असत्य मानने की भूल करते हैं। सत्य को सिद्ध करने के लिए कोई उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। **तत्त्व** की उपलब्धि के पश्चात आत्मज्ञानी को किसी **अन्य** की अपेक्षा नहीं रह जाती। सामान्यजन सांसारिक भोग-विलासों की आकांक्षा तो करता ही है, अंत में मोक्ष की आकांक्षा से भी विह्वल होता है। किंतु जिसका चित्त प्रवृत्तियों से मलिन हो, वह मोक्ष कैसे सिद्ध कर सकता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मतत्त्व की अलौकिकता के विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। जो आत्मज्ञ है, अर्थात जो आत्मतत्त्व के ज्ञान को प्राप्त है, वह सर्वविज्ञ है। उसके चित्त में निर्मलता होती है, अतः वह भोग-विलास की इच्छा से विह्वल नहीं होता। वह इस सीमा तक इच्छारहित होता है कि मोक्ष की कामना ही नहीं करता। ऐसा निराकांक्षी महापुरुष राग-विराग की भावनाओं से संयुक्त नहीं होता।

महदादि गजद्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते॥६९॥

भावार्थः द्वैत जगत का महत्त्व आदि नाममात्र को भिन्न है, इसे छोड़कर शुद्ध बोधरूप के लिए करने को क्या अवशेष है?

विवेचनः जगत को द्वैतरूप में देखनेवाले को यह भिन्न प्रतीत होता है। चराचर की भिन्नता उसे सत्य प्रतीत होती है। पदार्थों के विभिन्न रूप देखकर वह मोहग्रस्त होता है। वह स्वयं को भी दूसरे से भिन्न मानता है। जबकि अष्टावक्र का मत है कि भिन्न कुछ नहीं। यह विभिन्नता नाममात्र की है, सबकुछ एकमात्र आत्मा से संबद्ध आत्ममय है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञान के अभाव में मूढ़ व्यक्ति जगत को खंड-खंड रूप में देखता है, जबकि आत्मज्ञ को जगत अद्वैत रूप में दृष्टिगोचर होता है। संपूर्ण जगत आत्मा से निसृत है, **जगत** से आत्मा है, **आत्मा** से जगत है। आत्ममय होकर ज्ञानी किसी अन्य से जुड़ने की आकांक्षा नहीं करता, किंतु वह सबसे जुड़ा हुआ होता है। सबमें उसे अपना ही प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। वह इस सत्य का साक्षात्कार करने में सक्षम होता है कि द्वैत कुछ नहीं, दो स्वरूपों का कोई अस्तित्व नहीं, सब एकाकार एकात्म हैं। द्वैत के भ्रम से अज्ञानी को जगत भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है, जबकि आत्मदर्शी इन्हें अनदेखा करता है। तब उसे किसी दृश्य का मोह नहीं होता, कुछ पाने की कामना शेष नहीं रह जाती। वह शुद्ध बोधरूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए करने को कुछ भी शेष नहीं रहता।

भ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।।७०।।

भावार्थः यह सब भ्रम व भ्रांतियां कुछ भी नहीं हैं, जिसे इसका निश्चय हो जाता है, वह अलक्ष्य, स्फूर्त, शुद्ध स्वभाव होकर शांति को सिद्ध करता है।

विवेचनाः लक्ष्य का जो निर्धारण करता है, वह आत्म-अज्ञानी होता है। उसे ही जगत के भ्रम सत्य प्रतीत होते हैं। वह जगत की मोहमाया से ग्रस्त होकर एक लक्ष्य निश्चित करता है कि वह संपन्नता और यश को सिद्ध करेगा। इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए वह भांति-भांति की योजनाएं बनाता है, संकल्प-विकल्प और श्रमसाध्य कर्म करता है। अंत में क्लांत होकर सोचता है कि व्यर्थ ही मायाजाल में जकड़ा हुआ मृगतृष्णा में भटकता रहा। परंतु उसके चित्त की प्रवृत्तियां फिर भी क्षीण नहीं होतीं, क्योंकि वह मोक्ष की आकांक्षा से विचलित होता है।

अष्टावक्र कहते हैं, जगत और जगत के लुब्धकारी पदार्थ भ्रम और भ्रांतियों के अतिरिक्त कुछ नहीं। इनसे अज्ञानियों को जो **सुख** मिलता है, वह भी **भ्रम** ही है। आत्मज्ञ इस तथ्य से भलीभांति परिचित होता है कि सुख-दुख की अनुभूतियां भ्रम होती हैं और यह जगत भी मात्र भ्रांति के अतिरिक्त कुछ नहीं। जो इस सत्य को हृदयंगम कर लेता है वह आकाशवत् इच्छाविहीन हो जाता है। आत्मदर्शन के अतिरिक्त वह कुछ और नहीं देखता। शत्रु-मित्र का भाव लुप्त हो जाता है। आत्मलक्ष्य के प्रति केंद्रित होते ही उसके अन्य सभी लक्ष्यों का मोह तिरोहित हो जाता है। आत्मस्फूर्ति उसे शुद्ध करती है, चित्तवृत्तियां

शांत पड़ जाती हैं। वह आत्मस्वभाव शांति को सिद्ध करने में सक्षम होता है।

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्वविधिः क्व चवैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा।।७१।।

भावार्थः शुद्ध स्फुरण रूप का ज्ञानी दृश्य भाव नहीं देखता, अतः उसके लिए कहां विधि, कहां त्याग अथवा कहां शांति है?

विवेचनाः दृश्य भावों से आत्म-अज्ञानी आक्रांत होता है। वही जगत के लुभावने दृश्यों से मुग्ध होकर उनकी सिद्धि के लक्ष्य और योजनाएं निर्धारित करता है।

आत्मज्ञ दृष्टिशून्य होता है, अतएव दृश्यों की मुग्धकारी भावना से मुक्त भी।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मतत्त्व से संपन्न ज्ञानी आत्मरूप पाने के बाद और क्या पाने की इच्छा करे? वह लक्ष्यविहीन है, अतएव किस **सिद्धि** के लिए **कर्मों** में संलिप्त हो। आत्मदर्शी शुद्ध स्फुरण रूप को प्राप्त होता है। वह दृश्य भाव से मुक्त होकर चतुर्दिक केवल आत्मदर्शन करता है। ऐसी स्थिति में उपलब्ध करने को कुछ नहीं रह जाता, अतः किस कर्मसिद्धि के लिए विधि-विधान अथवा योजनाएं रचे? क्या त्याग करे या ग्रहण करे? आत्मशांत होकर किस शांति की इच्छा करे?

स्फुरतोऽनंतरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता।।७२।।

भावार्थः अनंतरूपी स्फुरण को प्रकृति दृष्टिगोचर नहीं होती, ऐसे ज्ञानी का कहां बंधन, कहां मोक्ष, कहां हर्ष और कहां विषाद।

विवेचनाः आत्म-अज्ञानी की दृष्टि सीमाबद्ध होती है। जहां तक उसकी दृष्टि जाती है, वहीं तक उसका जगत सीमित होता है। उसे केवल प्रकृति दृष्टव्य होती है, प्रकृति के आर-पार आत्मा का अस्तित्व वह नहीं देख पाता। उसे कभी हर्ष उन्मादित करता है तो कभी विषाद विक्षिप्त। वह बंधनों में जकड़ा हुआ भी मोक्ष की आकांक्षा से विह्वल होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञान से व्यक्ति की दृष्टि व्यापक हो जाती है। वह जगत व अपनी प्रकृति से अनभिज्ञ हो जाता है। **आत्मावत** होकर वह समस्त **ब्रह्मांड** में फैल जाता है। उसे देह की अनुभूति नहीं रह जाती, वह **अनंतरूपा** हो जाता है, जिसका स्फुरण अनंत में व्याप्त होता है।

इस अलौकिक स्थिति में आत्मज्ञ परम स्वतंत्रता को प्राप्त होता है, उसके लिए न बंधन का महत्त्व रह जाता है और न मोक्ष का, वह न हर्ष से उन्मादित होता है और न विषाद से विक्षिप्त।

बुद्धिपर्यंतसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः।।७३।।

भावार्थः जिस ज्ञानी की बुद्धि संसार को मात्र माया कल्पित करती है, ऐसा आत्मज्ञ मोहरहित, निरहंकार तथा निष्काम से शोभित होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञान का अभाव व्यक्ति को कभी निष्काम नहीं रहने देता। वह सतत् कर्म में संलिप्त रहता है। कर्म इसलिए करता है, चूंकि संसार की माया उसे लुभाती है। माया के कारण ही वह लोभ, काम, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, लाभ, हानि, हर्ष, विषाद से ग्रस्त रहता है। अपने अभिमान के आगे वह शेष लोगों को हेय दृष्टि से देखता है।

इसके विपरीत अष्टावक्र आत्मज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से कहते हैं—'हे राजन्! आत्मज्ञान से संपन्न व्यक्ति की बुद्धि इस तथ्य से भली-भांति अवगत होती है कि संसार की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, वह नश्वर और अनित्य है। संसार के दृश्य माया के अतिरिक्त कुछ नहीं। उसकी दृष्टिशून्यता किसी दृश्य को नहीं देख पाती क्योंकि उसकी बुद्धि को आभास हो गया है कि यह कल्पित है, भ्रम है।

ऐसे आत्मज्ञ की चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं, अतः न उसे **मोह** की अनुभूति होती है, न **अहंकार** की। ऐसा निष्कामी निरंजनस्वरूप से शोभायमान होता है।'

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा।।७४।।

भावार्थः अनश्वर, संतापहीन आत्मस्वरूप को देखनेवाले ज्ञानी के लिए कैसी विद्या, कैसा विश्व, कैसी देह अथवा कैसा 'मैं' का अहं।

विवेचनाः जो आत्मज्ञान से रहित होता है, वह जगत की नश्वरता को सत्य मानकर उसी में उलझा रहता है। यह उलझन उसे गंभीर संतापों से विक्षिप्त कर देती है।

किंतु आत्मज्ञानी जगत मिथ्याओं से अवगत होता है। अष्टावक्र कहते हैं—'आत्मस्वरूप की प्रतीति करके वह सांसारिक मोहमाया से मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति उसे शाश्वतता का बोध कराती है, उसके समस्त क्षोभ तिरोहित हो जाते हैं। वह अनश्वर और संतापरहित हो जाता है। आत्मज्ञान पाने के बाद उसे लगता है अब किसी अन्य विद्या की आवश्यकता नहीं। कामनाहीनता से उसका देहबोध निःशेष हो जाता है। जिसे देह बोध नहीं, उसे मैं का अहं भी नहीं होता।

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान्प्रलापां श्चकर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात्॥७५॥

भावार्थः जो मंदबुद्धि इच्छानिरोध के कर्म त्यागता है, उसी क्षण से मनोरथ और प्रलाप करने में व्यस्त हो जाता है।

विवेचना: मंदबुद्धि व्यक्ति की स्थिति बड़ी विचित्र होती है, जिसे वह स्वयं ही समझ पाने में असमर्थ होता है। वह राग-विराग से कभी मुक्त नहीं होता। कभी भोग-विलासों के अनुराग से उल्लसित होता है तो कभी विषय-वासनाओं से ऊबकर विरागी हो जाता है। तब वह इच्छाओं से मुक्त होने का यथासंभव प्रयास करता है, अतः सप्रयास चित्तनिरोध के उपाय करता है। नहीं जानता कि चित्तनिरोध भी **कामना** है और कामनाओं पर **प्रयास** द्वारा **अंकुश** नहीं लगाया जा सकता।

अष्टावक्र ऐसे मंदबुद्धि के बारे में राजा जनक को बताते हैं—'हे राजन! इच्छाओं का निरोध करना भी इच्छा है। मंदबुद्धि चित्त पर अंकुश लगाने के अनेक प्रयास करता है। समाधि तक लगाता है। वन-प्रांतरों में जाकर तप भी करता है। कठोर उपाय करता है। किंतु जैसे ही वह इन उपायों का त्याग करता है, उसी पल उसकी चित्तवृत्तियां प्रबल हो जाती है। अनेक कामनाओं को सिद्ध करने की उसकी इच्छा बलवती होती जाती हैं। वह पुनः संकल्पों-विकल्पों के महासागर में कूद पड़ता है। सांसारिक माया उसे पुनः मोहित करती है और तत्क्षण मनोरथ व प्रलाप करने में व्यस्त हो जाता है।'

मंदः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादंतर्विषयलालसः॥७६॥

भावार्थः मंदबुद्धि आत्मतत्त्व को सुनकर भी मूढ़ता नहीं त्यागता। वह यत्न द्वारा बाह्य रूप से निर्विकल्प होता है, जबकि अंतर्मन विषयलालसी ही रहता है।

विवेचना: मंदबुद्धि भोग-विलास से इतना तृप्त होता है कि अन्य विषयों के प्रति उसकी कोई रुचि नहीं रह जाती। ऐसा नहीं है कि आत्मा का उसने कभी नाम न सुना हो, अथवा आत्मतत्त्व के महत्त्व से अनभिज्ञ हो। किंतु विषय-वासनाओं की प्रीति उसे आत्मानुभूति नहीं करने देती।

अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मतत्त्व के उपदेश सुनकर भी उसे आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। बस, कभी-कभी भोग-विलासों से ऊबकर संकल्पों-विकल्पों से दूर होने का यत्न करके स्वयं को ही धोखा देता है। वस्तुतः वह प्रयासपूर्वक बाहर से निर्विकल्प होना चाहता है, जबकि उसका

अंतर्मन इच्छाओं से कभी मुक्त नहीं होता। उसके चित्त में निरंतर विषयों की लालसा ठाठें मारती रहती हैं।

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्त्तुं वक्तुमेव न किंचन॥७७॥

भावार्थ: ज्ञान से जिसके कर्म तिरोहित हो गए हैं, वह लोकदृष्टि से काम करता हुआ भी कुछ करने या कहने का अवसर प्राप्त नहीं करता।

विवेचना: आत्मतत्त्व से संपन्न ज्ञानी **कर्म** अवश्य करता है, किंतु **फल** की इच्छा से मुक्त होता है, अतः कर्मों से **लिप्त** नहीं होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञानी जब तक संसार में है, कर्म करने को बाध्य है। किंतु वह अज्ञानियों की भांति विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए कर्म नहीं करता। प्रारब्ध से उसके सामने जो कर्म आ पड़ते हैं, उन्हें निपटाता है और प्रारब्ध से मिले भोग को भोगता है।

इस प्रकार वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता। हां, लोग उसे कर्म करते हुए अवश्य देखते हैं और संभवतः यह भी सोचते हैं कि किसी कामना की पूर्ति हेतु कर्मलिप्त है। जबकि सचाई यह है कि वह लोकदृष्टि से काम करता हुआ भी कुछ करने या कहने का अवसर नहीं पाता।

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा॥७८॥

भावार्थ: सर्वदा निर्भय और निर्विकार धीर ज्ञानी को कहां तम अथवा कहां प्रकाश, कहां हानि। उसके लिए कहीं कुछ भी नहीं।

विवेचना: भय और विकार से अज्ञानी ग्रस्त होते हैं, उसी को हानि का भय सताता है। उसकी धन-संपदा जितनी बढ़ती है, उतना उसका भय और विकार बढ़ता जाता है। संसार से संप्रीति के कारण वह मृत्यु से भयभीत होता है। उसे मृत्युभय इस प्रकार भीतर तक कंपा देता है कि अंतिम समय आने पर भी सहज नहीं रह पाता। **जीवन** तो **सुखद** भोगा ही नहीं होता, **मृत्यु** भी **कष्टमय** होती है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञ सदैव भयमुक्त होता है। उसे किसी वासना-विषय का मोह नहीं होता, अतः विकारों से दूर रहता है। उसके लिए **संसार** और **आत्मा** का भेद मिट चुका होता है, संसार की माया उसे मोहित नहीं करती। ऐसी स्थिति में वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता। मृत्यु उसके लिए वरदान होती है, क्योंकि मृत्यु के बाद वह आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्त हो जाएगा।

अष्टावक्र कहते हैं, जिस ज्ञानी को न भय है और न विकार, उसके लिए क्या अंधकार और क्या प्रकाश। उसके लिए संसार में प्रीतिकर कुछ है ही नहीं तो हानि कैसी?

क्व धैर्यं क्व विवोकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः।।७९।।

भावार्थः अनिर्वचनीय स्वभाव और निःस्वभाव योगी को क्या धैर्य और कैसा विवेक और कहां आतंक।

विवेचनाः आत्मज्ञ सांसारिक भावनाओं से मुक्त होता है। अष्टावक्र कहते हैं–'उसके स्वभाव की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उसका स्वभाव अवर्णनीय और अनिर्वचनीय होता है। वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता, वह देखता हुआ भी नहीं देखता। बल्कि वह स्वभाव और अस्वभाव में कोई भेद नहीं मानता।

अष्टावक्र का मत है कि ऐसा योगी निरंजनता को प्राप्त होता है। उस जैसे योगी का धैर्य-अधैर्य, विवेक-अविवेक तथा आंतक-अनातंक का बोध समाप्त हो जाता है। **आत्मबोध** के बाद वह अन्य समस्त बोधों से मुक्त हो जाता है।

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किंचिन।।८०।।

भावार्थः इसमें बहुत कुछ कहने को क्या है, योगी की दृष्टि में न स्वर्ग है, न नरक, न मुक्ति है। उसके लिए कहीं कुछ भी नहीं।

विवेचनाः आत्मज्ञान के अभाव में सामान्यजन ही स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं करके चिंतित होता है। वह आजीवन विषय-वासनाओं से आसक्त होकर कुकर्म करने से भी नहीं चूकता। जब उसका शरीर अशक्त हो जाता है तो नरक की आशंका से आतंकित होता है। तदंतर स्वर्ग पाने की लालसा से परमात्मा की स्तुति करता है। मुक्ति पाने के लिए कष्टसाध्य योगाभ्यास करता है।

अष्टावक्र कहते हैं–' ज्ञानी की आत्मस्थिति ऐसी अलौकिक होती है कि उसका वर्णन करने के लिए बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। आत्मज्ञानी की दृष्टि इतनी विशाल और विस्तीर्ण हो जाती है कि संसार के सारे भाव-अभाव उसके लिए निरर्थक हो जाते हैं। यहां तक कि **मुक्ति** की परम कल्पना भी उसे विह्वल नहीं करती। अतः वह मुक्ति की कामना भी नहीं करता, बल्कि अनजाने में ही वह **मुक्ति** को प्राप्त होता है। जिसे मुक्ति की प्रत्याशा नहीं, वह भला स्वर्ग-नरक के बारे में भी क्यों सोचना चाहेगा। उसकी दृष्टि में तो यह संसार नश्वर है।

नैवं प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥८१॥

भावार्थः धीर ज्ञानी न लाभ की प्रार्थना करता है और न हानि का अनुशोच करता है, तभी तो उसका चित्त अमृत से परिपूर्ण शीतलता को प्राप्त होता है।

विवेचनाः लाभ-हानि की चिंता कौन करता है? जो विषयासक्त होता है, वही लाभ-हानि की दुश्चिंता से तनावग्रस्त होता है। नई-नई कामनाएं उसके चित्त को मलिन करती हैं। वासनाओं के गरल से उसका चित्त संतप्त होता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'ज्ञानी की चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं, अतः वह विषयासक्त नहीं होता। उसे वासनाओं की प्रतीति नहीं होती, इसलिए वह लाभ-हानि के विकारों से मुक्त होता है। जब उसकी दृष्टि में संसार का किंचितमात्र भी महत्त्व नहीं तो वह किस लाभ की याचना करे और किस हानि की दुश्चिंता से विह्वल हो। उसका शुद्ध, स्वच्छ और निर्मल चित्त **अमृत** से परिपूर्ण होकर **शीतलता** को सिद्ध करता है।

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निंदति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित्कृत्यं न पश्यति॥८२॥

भावार्थः जो निष्काम ज्ञानी होता है वह शांत व्यक्ति की न स्तुति करता है और न दुष्ट की निंदा। वह तृप्त होकर सुख-दुख को एक समान मानता है और कुछ भी करने योग्य नहीं देखता।

विवेचनाः कामनाएं सामान्यजन को ईर्ष्यालु व स्वार्थी बनाती हैं। जो व्यक्ति उसकी वासनासक्ति में बाधा नहीं पहुंचाते उसे वह शांत मानता हुआ उनकी प्रशंसा करता है और जो उसका विरोध करता है, वह उसकी दृष्टि में दुष्ट है और उसे हानि पहुंचाने से भी नहीं चूकता।

अष्टावक्र कहते हैं—'ज्ञानी व्यक्ति की दृष्टि में न कोई दुष्ट है और न कोई शांत। वह शत्रु-मित्र के भाव से स्वतंत्र हो चुका होता है। सबमें उसे **आत्मा** की प्रतीति होती है, सब आत्मांश होते हैं, सबमें उसे **अपना** ही प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। अंतः किसे शत्रु माने और किसे मित्र। उसका द्वैत चिंतन मिट जाता है।

अद्वैत चिंतन करते हुए ज्ञानी को शांत व्यक्ति की प्रशंसा करने की आवश्यकता अनुभूत नहीं होती और न ही दुष्ट व्यक्ति की निंदा करने का उसके मन में विचार उठता है।

वह स्वयं को परम तृप्त मानता है। उसकी दृष्टि में दुख-सुख एक समान हो जाते हैं और उसे संसार में करने योग्य कुछ दिखाई नहीं देता।

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षाभर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥८३॥

भावार्थः हर्ष, व्याधि से मुक्त धीर ज्ञानी संसार से न द्वेष करता है और न ही उसे आत्मा को देखने की इच्छा होती है। न वह मृत होता है और न जीवित।

विवेचनाः हर्ष और विषाद की व्याधियां आत्म-अज्ञान के अभाव से उद्भूत होती हैं। आत्म-अज्ञानी ही लाभ-हानि की मिथ्या अवधारणाओं से ग्रस्त होता है। उसे लाभ से **हर्ष** की अनुभूति होती है और हानि से **विषाद** की।

अष्टावक्र कहते हैं–'जो आत्मज्ञान से संपन्न होता है उसे हर्ष-विषाद की भ्रांतियां विह्वल नहीं करतीं। वह समस्त व्याधियों से मुक्त होकर आत्मपद पर अवस्थित होता है। वह संसार को मायाजाल मानता है, किंतु उसके प्रति किसी द्वेष की भावना नहीं रखता। संसार जैसा भी हो, किंतु उसकी दृष्टि उसके अस्तित्व से अनभिज्ञ है। आत्मानुभूति की ऐसी प्रबल दशा में वह आत्मा को देखने की इच्छा से भी मुक्त हो जाता है। उसका जीवन समरस और निरपेक्ष होता है, अतः वह स्वयं को न मृत समझता है और न जीवित।

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामौ विषयेषु च।
निश्चिंतःस्वशरीरेऽपि निराशः शोभतेबुधः॥८४॥

भावार्थः संतान और पत्नी के प्रति निस्नेह, विषयों के प्रति निष्काम, स्वशरीर के प्रति निश्चिंत और आशारहित ज्ञानी आत्मबोध से शोभित होता है।

विवेचनाः मोहमाया से ग्रस्त व्यक्ति का अंतर्मन अशक्त होता है। ऐसा मन विषयों की कामनाओं और निकट संबंधियों के प्रति स्नेह से शीघ्र विचलित होता है। अपनी देह को सुख पहुंचाने के नित नए आयोजन करता है। वह एक पल भी निश्चिंत नहीं रहता। आशाएं और निराशाएं उसे अनवरत तनावग्रस्त करती हैं।

अष्टावक्र कहते हैं–' आत्मज्ञान से व्यक्ति आत्मशक्ति से संपन्न होता है। उसका मन अंकुश में रहता है और किसी सांसारिक गतिविधि से विचलित नहीं होता। संतान और पत्नी के प्रति वह उदासीन नहीं होता, उनकी वांछित देखभाल करता है, किंतु उनके प्रति अतिरिक्त स्नेह का प्रदर्शन भी नहीं करता। विषयों की कामनाएं उसे उत्पीड़ित नहीं करती, अतः निष्काम हो जाता है। शरीर को सुख पहुंचाने के आयोजनों से वह दूर होता है। प्रारब्ध से उसके शरीर की आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं, अतः वह शरीर के प्रति निश्चिंत होता है।

अष्टावक्र का स्पष्ट विचार है कि **आशारहित** ऐसा ज्ञानी **आत्मबोध** से शोभित होता है।

तुष्टि: सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिन:।
स्वछंदंचरतोदेशान्यत्रास्तमितशायिन:।।८५।।

भावार्थ: जहां सूर्यास्त होता है, ज्ञानी वहीं सोता है। देशों में स्वच्छंद विचरण करता है। यथाप्राप्त को बरतता है। ऐसा धीर ज्ञानी सर्वत्र संतुष्ट होता है।

विवेचना: अष्टावक्र आत्मज्ञानी का परिचय देते हुए राजा जनक से आगे कहते हैं–'हे राजन! आत्मस्वरूप को प्राप्त व्यक्ति सर्वत्र व्याप्त होता है। प्रत्येक स्थान पर उसका अस्तित्व होता है। उसकी स्वतंत्रता कहीं भी बाधित नहीं होती। वह दूर देश में स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करने में सक्षम होता है। ऐसा नहीं है कि रात को उसके लिए घर में ही सोना आवश्यक है। जहां भी सूर्यास्त होता है, वह वहीं सोकर रात व्यतीत करता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी कुछ **विशेष** पाने का प्रयास नहीं करता। **प्रारब्ध** से यथावत जो प्राप्त होता है, उसी को बरतता है, अधिक का लोभ नहीं करता। उसे किसी प्रकार की मोहमाया की प्रतीति नहीं होती, अत: वह सर्वत्र संतुष्ट होता है।'

पततूदेतु वा देहो नास्य चिंता महात्मन:।
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेष संसृते:।।८६।।

भावार्थ: देहसुख नष्ट हो या स्थित रहे, स्वभाव की भूमि पर विश्राम करते हुए शेष संसार को विस्मृत करनेवाला महात्मा चिंतामुक्त होता है।

विवेचना: जो आत्मभाव को प्राप्त नहीं होता, वह देहाभिमान से ग्रस्त होता है। स्वयं के अतिरिक्त किसी को श्रेष्ठ नहीं समझता। संपूर्ण संसार के पदार्थ उसे लुभाते हैं और रात-दिन उन्हीं की स्मृति में मुग्ध होता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान की संपन्नता को प्राप्त व्यक्ति किसी अन्य संपन्नता की अपेक्षा नहीं करता। वह देहाभिमान से रहित होता है। उसे इस बात की किंचित भी चिंता नहीं होती कि देह का नाश होता है या स्थित रहती है, उसे दुख मिलता है या सुख। वह **आत्मस्वरूप** में सतत् **रमण** करता है और **आत्मभाव** की भूमि पर **विश्राम**। उसे संसार की भौतिकता मोहित नहीं करती। वह संपूर्ण विश्व को विस्मृत कर शांति को प्राप्त होता है।

अकिंचन: कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशय:।
असक्त: सर्वभावेषु केवलो रमते बुध:।।८७।।

भावार्थः अकिंचन, निष्कामी, निर्द्वंद्व, संशयविहीन सर्वभावों से अनासक्त ज्ञानी अकेला ही रमण करता है।

विवेचनाः आत्मा का बोध ज्ञानी को एकात्म करता है। वह केवल एक हो जाता है। उसे कहीं भी द्वैत का भान नहीं होता। सबकुछ **आत्मा** है, सर्वत्र **आत्मा** है, **आत्मा** के प्रतिबिंब के अतिरिक्त चराचर और कुछ नहीं है।

यह आत्मबोध उसे अकिंचन का भाव कराता है। अर्थात वह कुछ नहीं, आत्मा सबकुछ है। संसार में कुछ नहीं, सर्वत्र आत्मा है। अतः उसे किसी की आकांक्षा नहीं होती। अकिंचन होने का भाव उसे देह की अनुभूति से मुक्त करता है। अतः कुछ भी न होने के कारण उसे संसार भी अकिंचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार वह निष्काम और कामनारहित हो जाता है। कामना ही नहीं तो लाभ-हानि का द्वंद्व भी नहीं, अतः उसकी चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं और वह निर्द्वंद्व हो जाता है।

संशयग्रस्त वह होता है, जिसकी चित्तवृत्तियां प्रबल होती हैं। वही कामनाओं की पूर्ति हेतु कर्मों में संलिप्त और सदैव संशयग्रस्त रहता है कि दूसरे लोग उससे ईर्ष्या करते हैं अथवा उसे लूटना चाहते हैं। किंतु निष्काम को कैसा संशय? वह सदा संशयविहीन आत्मस्थित होता है। सुख-दुख, लाभ-हानि, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, प्रीति-क्रोध और ईर्ष्या-द्वेष आदि, इन सब से परे होता है। आत्मभाव के अतिरिक्त अन्य समस्त भावों से वह निष्प्रभावित होता है। जब किसी भाव से मोह ही नहीं रहा तो उसे किसी प्रकार की आसक्ति कैसे हो सकती है। वह विषय-वासनाओं से नितांत अनासक्त हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'ऐसा ज्ञानी **स्वात्म** में लीन होता है और **एकात्म** को प्राप्त होकर अकेला ही **सर्वत्र** में रमण करता है।

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः।
सुभिन्नहृदयग्रंथिर्विनिर्धूतरजस्तमाः॥८८॥

भावार्थः मोहरहित के लिए मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण एक समान हैं। उसके हृदय की अज्ञान-ग्रंथि टूट जाती है। वह रज व तम गुणों से रहित होता है। ऐसा ज्ञानी शोभा को प्राप्त होता है।

विवेचनाः मोहग्रस्त व्यक्ति के सामने मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण रखा हो तो वह मिट्टी और पत्थर की ओर देखेगा भी नहीं और स्वर्ण पर टूट पड़ेगा। उसकी दृष्टि भेदभाव से संचालित होती है, वह हेय पदार्थों की ओर नहीं उठती, उसे सदैव उपादेय पदार्थों की खोज होती है। ऐसा इसलिए कि उसके

हृदय में अज्ञान की जो ग्रंथि पड़ गई है, वह टूटती नहीं है। अज्ञान-ग्रंथि से विकारग्रस्त हृदय उसे तम और रज गुणों में संलिप्त कर देता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'जो आत्मतत्त्व के ज्ञान से संपन्न होता है, उसकी दृष्टि भेदरहित हो जाती है। उसके लिए कुछ भी हेय-उपादेय नहीं होता। वह समदर्शी हो जाता है। उसे कुछ भी सम्मोहित नहीं करता। वह इतना **निर्मोही** होता है कि मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में कोई अंतर नहीं देखता। मोह और कामनारहित होने के कारण उसे सबकुछ एक समान प्रतीत होता है।

वह ऐसी अलौकिक स्थिति को इस कारण प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी चित्तवृत्तियां शांत पड़ जाती हैं। उसके हृदय की अज्ञान-ग्रंथि टूट चुकी होती है। उसके सर्वभाव लुप्त हो चुके होते हैं और वह आत्मभाव को प्राप्त होता है।

आत्मभाव की अनुभूति उसे सतोगुण से संयुक्त करती है। उसे सांसारिक माया लुब्ध नहीं करती, क्योंकि वह रज व तम गुणों से रहित होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'इस प्रकार आत्मपद पर आसीन ज्ञानी परम शोभा को सिद्ध करता है।

सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो विप्तस्तृय तुलना केन जायते॥८९॥

भावार्थ: सर्वत्र अनासक्त हृदय में किंचित भी वासना नहीं होती। अत: मुक्तात्मा संतृप्त ज्ञानी की तुलना किससे की जा सकती है?

विवेचना: आत्मतत्त्व से संपन्न ज्ञानी की किसी से तुलना नहीं की जा सकती। आत्मतत्त्व से रहित सामान्यजन का हृदय सभी प्रकार के विषयों से आसक्त होता है। विषय-वासनाएं उसे कभी भी संतृप्ति की अनुभूति नहीं होने देती। वह मृगतृष्णा में भटकता हुआ अंतकाल तक अतृप्त ही रहता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मतत्त्व से संपन्न ज्ञानी अनुपम और अतुलनीय होता है। अब उसकी तृष्णा मृगतृष्णा की भांति उसे भटकाती नहीं। सांसारिक वासनाओं से वह आकृष्ट नहीं होता। उसके हृदय की अज्ञान-ग्रंथी छिन्न-भिन्न हो चुकी है, अतएव उसे किसी प्रकार की विषय-वासनाओं से संलिप्ति की कामना नहीं है। सबसे अनासक्त उसके हृदय को किंचित भी वासना विचलित नहीं करती।

अष्टावक्र कहते हैं–'ऐसा मुक्तात्मा ज्ञानी तृप्त हो जाता है। वह किसी प्रकार की तृष्णा से आकुल-व्याकुल नहीं होता।

वासनाओं से विचलित न होनेवाला, सदा संतृप्त रहनेवाला मुक्तात्मा ज्ञानी अष्टावक्र की दृष्टि में अनुपम होता है। उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते॥९०॥

भावार्थः जो जानता हुआ भी नहीं जानता, देखता हुआ भी नहीं देखता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, ऐसे वासनारहित से इतर अन्य कौन है।

विवेचनाः अज्ञानी व्यक्ति को **भ्रमों** में **सत्य** दृष्टिगोचर होता है। उसे लगता है वह ज्ञानवान है, सबकुछ जानता है, जबकि वह कुछ नहीं जानता और प्रदर्शन ऐसा करता है कि वह सर्वज्ञ है। उसे सर्वत्र प्रीतिकर दृश्य मुग्ध करते हैं, वह विस्फारित दृष्टि से सबकुछ देख लेना चाहता है। वह जब भी बोलता है या तो कामना प्रकट करता है या याचना करता है अथवा अधिकार प्रकट करता है या डांटता-डपटता है। यह उसकी वासना लिप्तता का फल है।

आत्मतत्त्व के ज्ञानी की वासनाएं तिरोहित हो चुकी होती हैं। जो अनासक्त हो, उसे कुछ पाने या भोगने की इच्छा नहीं होती। वह दृष्टिशून्य हो जाता है। उसे सांसारिक दृश्य दृष्टिगोचर तो होते हैं, किंतु वह उन्हें सप्रयास नहीं देखता। अर्थात, वह देखता हुआ भी नहीं देखता।

उसे कुछ भोगने अथवा पाने की भी इच्छा नहीं होती। वह किसी से कुछ मांगता नहीं, याचना नहीं करता, ईश्वर से कुछ देने की प्रार्थना नहीं करता। वह देहाभिमान से मुक्त है, अतः न अधिकार जताता है और न डांटता-फटकारता है। अर्थात वह बोलता है किंतु अज्ञानी की भांति नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं—'जिसे आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया, उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। वह सर्वज्ञ होता है। किंतु आत्म-अज्ञानी की भांति सबकुछ जानने की घोषणा नहीं करता। अर्थात **जानता** हुआ भी ऐसा प्रदर्शन करता है, मानो वह कुछ **जानता** ही नहीं।

अष्टावक्र की दृष्टि में ऐसे ज्ञानी से इतर कोई अन्य वासनारहित निरभिमानी नहीं।

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभनामतिः॥९१॥

भावार्थः जिसके भावों में शोभन-अशोभन की बुद्धि गलित हो गई है, ऐसा निष्काम चाहे भिक्षु हो या राजा, शोभा को प्राप्त होता है।

विवेचनाः अष्टावक्र का मत है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान कोई भी सिद्ध कर सकता है, चाहे वह राजा हो या रंक। यहां पात्र का महत्त्व नहीं, महत्त्व इस बात का है कि कौन आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक यह है कि वह सर्वभावों से मुक्त हो जाए, क्योंकि भावों की प्रतीति से चित्तवृत्तियां चंचल होती हैं।

अष्टावक्र कहते हैं–'जिसकी दृष्टि में सुंदर-असुंदर का भेद समाप्त हो जाता है, उसकी कामनाएं विचलित नहीं होतीं। अतः सुंदरता और असुंदरता के भावों को नष्ट करना ही श्रेयस्कर है। जिसे सांसारिक पदार्थों में सुंदरता-असुंदरता का भान होगा, वही भौतिकता के प्रति आकृष्ट होगा। अतः जिसके भावों में सुंदर-असुंदर का बोध गलित हो गया है, वह निस्संदेह निष्काम व कामनारहित है।

अष्टावक्र की दृष्टि में ऐसा निष्काम भले ही भिक्षु हो अथवा राजा, वह शोभा को प्राप्त होता है।

क्वस्वाच्छंद्यंक्वसंकोचःक्ववातत्त्वविनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्यचरितार्थस्य योगिनाः॥९२॥

भावार्थः छल-कपट रहित, सहजमना और सिद्ध योगी को कहां स्वच्छंदता, कहां संकोच अथवा कहां तत्त्व का निश्चय।

विवेचनाः आत्मतत्त्व से रहित अज्ञानी को संसार की माया का प्रलोभन होता है, अतः उसे सबकुछ पाने की इच्छा सताती है। मन की लालसाएं उसे इतना उकसाती हैं कि प्राप्ति की चाह में वह कुछ भी करने को आतुर होता है। धोखाधड़ी, छल-प्रपंच और षड्यंत्र रचने से भी नहीं चूकता। वासनाएं उसके चित्त को कलुषित करती हैं।

अष्टावक्र कहते हैं–'तत्त्वज्ञानी को कोई प्रलोभन आकृष्ट नहीं करता, अतः वह पाने की चेष्टा भी नहीं करता। जब उसके चित्त में स्वार्थ ही नहीं होता तो वह छल-प्रपंच और षड्यंत्र रचने की कल्पनाएं क्यों करेगा? ऐसा सिद्ध और संतृप्त योगी नितांत सहजमना होता है, वह कभी छल-कपट का आश्रय नहीं लेता।

अष्टावक्र कहते हैं–'ऐसे सिद्ध योगी को **स्वच्छंदता** की इच्छा नहीं होती, किंतु वह चतुर्दिक व्याप्त होकर **स्वच्छंदता** से विचरण करता है। लोकदृष्टि को लगता है कि वह सीमित और संकुचित है, किंतु वह सीमारहित होता हुआ संपूर्ण में विकीर्ण होता है।

इतना ही नहीं, वह आत्मतत्त्व से संपन्न है। आत्मतत्त्व को उसने सप्रयास सिद्ध नहीं किया अपितु स्वाचरण से आत्मतत्त्व स्वतः सिद्ध हो गया। किंतु उसे इसका भान या निश्चय नहीं होता कि वह आत्मपद पर आसीन है।

आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अंतर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते॥९३॥

भावार्थः आत्मविश्रांत, तृप्त, आशाविहीन और शोकरहित ज्ञानी के अंतःकरण में जो अनुभूति होती है, वह कैसे और किससे कही जाए?

विवेचनाः आत्मस्वरूप अवर्णनीय है। उसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती, वह अनुपमेय है। उसकी आत्मस्थिति को शब्दों में अभिव्यक्त करना सहज नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं जो आत्मपद पर आसीन होता है, वह आत्मभाव की भूमि पर शयन करता हुआ विश्राम को प्राप्त होता है। वह संतृप्त होता है, उसकी समस्त तृष्णाएं तिरोहित हो जाती हैं। वह न आशाओं से विचलित होता है और न ही शोक से पीड़ित।

अष्टावक्र कहते हैं–'ऐसे ज्ञानी के अंत:करण की जो अनुभूति होती है, वह अवर्णनीय है। उसे कैसे बताया जाए, उसका वर्णन किससे और किस प्रकार किया जाए। **ज्ञानी** की **अनुभूति** को व्यक्त कर पाना **सहज** नहीं।

सुप्तोऽपि न सुषुतौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदेपदे॥९४॥

भावार्थः प्रत्येक पद पर तृप्त धीर ज्ञानी सोते हुए भी सुप्त नहीं है, स्वप्न में भी सोया हुआ नहीं है, जागते हुए भी नहीं जागता।

विवेचनाः ज्ञानी और अज्ञानी की दैनिक क्रियाओं में अंतर होता है। प्रत्येक पल अज्ञानी की तृष्णा बढ़ती जाती है। अज्ञानी सोता है तो उसके लिए संसार भी सो जाता है, किंतु ऐसी स्थिति में भी कामनाओं के स्वप्न देखने से वह मुक्त नहीं होता। वह जागता अवश्य है किंतु उसका अंत:करण सदा सुप्त रहता है। वह जाग्रत हो जाए तो उसके सारे विकारों का नाश हो जाए। जबकि ज्ञानी की गति इससे भिन्न होती है।

अष्टावक्र कहते हैं ज्ञानी का प्रत्येक पल तृप्ति का पल होता है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण तृप्त होता हुआ ज्ञानी लोकदृष्टि में तो सोता है, किंतु उसका अंत:करण जाग्रत होता है। वह सुप्तावस्था में सुषुप्ति के वश में नहीं होता। उसकी चेतना सक्रिय होती है।

ज्ञानी स्वप्न देखता है, किंतु स्वप्नावस्था में भी आत्मबोध को प्राप्त होता है, अतः जाग्रत होता है। उसके स्वप्न कामनाग्रस्त नहीं होते। वह सर्वत्र अपने प्रतिबिंब में लीन होता है। लोकदृष्टि को प्रतीत होता है कि वह सोता हुआ स्वप्न देख रहा है, किंतु जिसका अंत:करण जाग्रत हो वह स्वप्न देखता हुआ सोया नहीं है।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी जब जागता है, तब जागता हुआ नहीं होता, हालांकि सामान्यजन को यही आभास होता है कि वह जागा हुआ है। वह जागा हुआ अवश्य है, किंतु अज्ञानी की तरह योजनाएं नहीं बनाता, कर्मों से

संलिप्त नहीं होता। उसका इस प्रकार जागना अलौकिक है, क्योंकि वह जाग्रतावस्था में विकारों से दूर आत्मपद को प्राप्त होता है।

ज्ञः सचिंतोऽपि निश्चिंतः सेंद्रियोऽपि निरिंद्रियः।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धि साहंकारोऽनहंकृती॥९५॥

भावार्थ: ज्ञानी सचिंत्य होते हुए भी निश्चिंत होता है, सइंद्रिय होते हुए इंद्रियरहित होता है, सुबुद्धि होते हुए भी निर्बुद्धि होता है, अहंकार सहित होते हुए भी अहंकारहीन होता है।

विवेचना: प्राणिमात्र भावों से ग्रस्त है। किंतु **अज्ञानी** के भाव **रज** और **तम** गुणों से संयुक्त होते हैं, जबकि **ज्ञानी सतगुणों** के भावों में लीन होता है।

जिसके जैसे भाव होते हैं, वह दूसरे को भी उसी भाव से ग्रस्त होने का अनुमान लगाता है। कहा भी है–'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।' वह ज्ञानी को चिंतावत देखता है तो सोचता है कि वह भी कामनाओं को मूर्त रूप देने की योजनाओं में संलिप्त है। जबकि वास्तविकता यह है कि ज्ञानी **सचिंत्य** होते हुए **निश्चिंत** होता है, क्योंकि उसके चित्त को कोई वृत्ति चंचल नहीं करती।

इंद्रियों के बिना किसी प्राणी की कल्पना नहीं की जा सकती। अज्ञानी इंद्रियों के वशीभूत होता है। इंद्रियां जैसा चाहती हैं, अज्ञानी वैसा ही करने को विवश होता है। वह कहता है, मन को नहीं मारना चाहिए, अत: मन को प्रसन्न करने के लिए वह सदैव चेष्टारत रहता है। किंतु ज्ञानी का अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण होता है। जब चित्त में वृत्तियां ही नहीं तो इंद्रियां स्वत: ही क्षीण पड़ जाती हैं। लोकदृष्टि के अनुसार वह इंद्रियों सहित दृष्टिगोचर होता है, किंतु इंद्रियां उसके वश में होती हैं, अत: वह इंद्रियरहित होता है।

ज्ञानी और अज्ञानी की बुद्धि में भारी अंतर होता है। अज्ञानी अपनी बुद्धि का उपयोग छल-प्रपंच और कपट हेतु करता है, लाभप्राप्ति की योजनाएं बनाता है। ज्ञानी की बुद्धि ऐसी सांसारिक नहीं होती। ऐसी बुद्धि से तो अच्छा यही है कि ज्ञानी निर्बुद्धि हो। यही कारण है कि अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी **सुबुद्धि** होते हुए भी **निर्बुद्धि** होता है।

ज्ञानी आत्मज्ञान में समाधिस्थ प्रतीत होता है, जबकि वह समाधि में नहीं होता। इसी प्रकार आत्मपद को पाकर वह परम स्थिति को प्राप्त होते हुए सामान्यजन को अहंकारवत प्रतीत होता है, जबकि वास्तविकता यह है कि वह अहंकारहीन होता है।

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किंचिन्न च किंचन॥९६॥

भावार्थः ज्ञानी न सुखी होता है और न दुखी। न विरक्त होता है और न आसक्त। न स्वतंत्र होता है और न मुक्त। न वह किंचन होता है और न अकिंचन।

विवेचनाः अष्टावक्र पहले भी कह चुके हैं कि ज्ञानी सर्वभावों से मुक्त होता है। उसके चित्त को किसी प्रकार के सांसारिक भाव विचलित नहीं करते। वह निरपेक्ष हो जाता है। **आत्मभाव** को न तो **हर्ष** की अपेक्षा होती है और न **विषाद** की।

अष्टावक्र कहते हैं—'सुख-दुख अज्ञानी की प्रवृत्ति है। वही लाभ से सुखी होता है और हानि से दुखी। किंतु ज्ञानी सुख-दुख के भाव से ऊपर उठ जाता है। आत्मभाव उसे सांसारिक अर्थ में सुख-दुख की प्रतीति नहीं होने देता। अज्ञानी वासना से प्रेरित होकर कर्म करता है, सुफल मिलता है तो प्रसन्न होता है और निष्फल होता है तो अप्रसन्न। ज्ञानी प्रारब्ध से प्राप्त सुख-दुख को भोगता है और स्वात्म में रमण करता है।

स्वात्म में स्थित ज्ञानी को संसार से द्वेष नहीं होता। हां, अज्ञानी अवश्य भोग-विलास की अति से ऊबकर संसार से द्वेष करता है और विरक्त होने का प्रयास करता है, किंतु ज्ञानी सप्रयास विरक्त नहीं होता और न आसक्त। आत्मस्वरूप को पाकर वह **विरक्ति** और **आसक्ति** के भाव से अनभिज्ञ होता है।

आत्मज्ञान उसे स्वतंत्रता और मुक्ति के भावों से मुक्त कर देता है। वह स्वतंत्र और मुक्त अवश्य होता है, किंतु अज्ञानी की भांति उसने सप्रयास मुक्त या स्वतंत्र होने का प्रयास नहीं किया। अज्ञानी प्रयास करके भी मुक्ति और स्वतंत्रता को सिद्ध नहीं कर पाता। जबकि ज्ञानी मुक्ति और स्वतंत्रता को प्राप्त है, किंतु उसे इसका आभास तक नहीं होता। **आत्माभास** के बाद वह और किसका आभास करे।

अष्टावक्र कहते हैं—'आत्मज्ञानी किंचन नहीं होता, यानी कुछ नहीं होता है। आत्मांश होने के बाद उसे किंचन होने की आवश्यकता भी क्यों हो। किंतु वह अकिंचन भी नहीं है, अर्थात आत्मांश होने के बाद वह स्वयं को अकिंचन कैसे माने। वह न स्वयं को किंचन मानता है, न अकिंचन, क्योंकि वह आत्मभाव से किंचन-अकिंचन के भावों को अनुभूत नहीं करता।

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिस्थ्।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः॥९७॥

भावार्थः ज्ञानी विक्षेप में भी विक्षिप्त नहीं, समाधि में भी समाधिस्थ नहीं, जड़ता में भी जड़ नहीं, पांडित्य में भी पंडित नहीं।

विवेचना: लोकदृष्टि जैसा देखती है, उसे उसी रूप में ग्रहण करती है। उसे सांसारिक माया में जीवन व्यतीत करने में जीवन की सार्थकता प्रतीत होती है। वह विक्षेप की स्थिति में विक्षिप्त हो जाता है। वह समाधि लेता है तो उसी की भांति अज्ञानी सोचते हैं कि वह समाधिस्थ है।

अष्टावक्र कहते हैं—'ज्ञानी दृष्टिशून्य होता है। उसे सांसारिक माया, भ्रांति के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होती। वह संसार के प्रलोभनों से मुक्त है, अतः उसे विक्षेप नहीं होता। लोकदृष्टि उसे अवश्य विक्षेप में देखती है, जबकि ज्ञानी विक्षिप्त नहीं होता।

ज्ञान आत्मस्थित होता है और सामान्यजन को प्रतीत होता है कि वह समाधिस्थ है। किंतु वह सप्रयास समाधि नहीं लेता, और न समाधि में स्वयं को लीन पाता है।

उसका आत्मभाव देखकर सामान्यजन को लगता है कि वह जड़ता को प्राप्त है, किंतु वह **जड़ता** में भी **जड़** नहीं होता। वह आत्मज्ञान से संपन्न है। आत्मज्ञान के पश्चात उसे किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। किंतु वह अपने पांडित्य से अनभिज्ञ होता है। वह सांसारिक अर्थों में पांडित्य को प्राप्त नहीं, अतएव वह पंडित भी नहीं होता।

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिवृत्तः।
समः सर्वत्रवैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम्॥९८॥

भावार्थ: यथास्थिति स्वरूप, कृत्य-कर्त्तव्य से निवृत्त, सर्वत्र सम, मुक्त, अतृष्णावश किए, अनकिए कर्मों का स्मरण नहीं करता।

विवेचना: अज्ञानी किसी भी स्थिति में संतुष्ट नहीं होता, वह कर्मों से कभी निवृत्त नहीं होता, हेय-उपादेय में भेद करता है, मोहमुक्त नहीं हो पाता। तृष्णावश वह किए-अनकिए कर्मों को सतत् याद करता रहता है।

अष्टावक्र कहते हैं—'ज्ञानी को प्रारब्ध से जैसी स्थिति प्राप्त होती है, वह उसमें अवस्थित होता है अर्थात वह यथास्थिति स्वरूप होता है। प्रत्येक स्थिति में स्वयं को सामंजस्य से स्थापित कर लेता है। वह अज्ञानी की भांति कर्मों में संलिप्त नहीं होता, क्योंकि वह सांसारिक अर्थों के कृत्य-अकृत्य से मुक्त है। वह समदर्शी हो जाता है। उसको सर्वत्र सबकुछ एक समान दृष्टिगोचर होता है। वह मुक्ति को प्राप्त होता है, किंतु इसका उसे आभास नहीं होता। वह तृषित नहीं होता, क्योंकि उसकी समस्त तृष्णाएं तिरोहित हो चुकी हैं। अतृष्णावश वह किए-अनकिए कर्मों का पोथा खोलकर नहीं बैठता। वह समस्त कृत्यों-अकृत्यों को भूलकर **आत्मस्वरूप** को प्राप्त होता है।

न प्रीयते वंद्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनंदति॥९९॥

भावार्थः ज्ञानी को वंदना नहीं भाती, निंदा कुपित नहीं करती, न मरण से उद्विग्न होता है, न जीवन से हर्षित होता है।

विवेचनाः आत्मज्ञान व्यक्ति को पारलौकिक बना देता है, वह संसार में होता हुआ भी पृथ्वीलोक को प्रतीत नहीं होता। उसका आत्मस्वरूप उसे अन्यतम पद पर आसीन कर देता है।

अज्ञानी की स्तुति करो तो वह अत्यंत प्रसन्न होता है। वह स्वयं को श्रेष्ठ समझता है और उसके अभिमान में अभिवृद्धि हो जाती है। हां, निंदा से अवश्य कुपित होता है, क्योंकि उससे उसका अभिमान कुंठित होता है। वह निंदा करनेवाले का अहित करने से भी नहीं चूकता। तदंतर मृत्यु भय से तो वह आजीवन उद्वेलित रहता है, जबकि जीवनानुभूति से वह हर्षित होता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'ज्ञानी समस्त सांसारिक व्यवहारों से स्वतंत्र हो जाता है। उसे वंदनाएं और स्तुतियां नहीं सुहातीं। वह प्रशंसाएं सुनकर लुब्ध नहीं होता। इसी प्रकार निंदाएं भी उसे प्रभावित नहीं करतीं। निंदा सुनकर वह कुपित नहीं होता, सर्वथा निर्विकार और अविचलित होता है। वस्तुतः **आत्मस्थित ज्ञानी को न वंदना सुनाई देती है और न निंदा।**

आत्मभाव में लीन होकर उसे मरण की स्मृति ही नहीं होती तो उसके भय से वह विह्वल क्योंकर होगा। मरण अनिवार्य है तो मरण से भय कैसा? मरण से वह कदापि उद्विग्न नहीं होता। इसी प्रकार वह अपने जीवन से विमुग्ध भी नहीं होता। आत्मपद को प्राप्त उसका जीवन सांसारिक अर्थों में जीवन नहीं है, अतः यह जीवन उसे हर्षित भी नहीं करता।

**न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशांतधीः।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते॥१००॥**

भावार्थः शांति को प्राप्त बुद्धिमान ज्ञानी जनसमूह का भाग नहीं बनता और न ही वन की ओर भागता है, किंतु जहां-तहां वह समभाव से अवस्थित होता है।

विवेचनाः अज्ञानी भीड़ का भाग बनता है। भीड़ में सब एक-दूसरे के प्रतियोगी और प्रतिद्वंद्वी होते हैं, उपलब्धियां सिद्ध करने के लिए दौड़ते हैं। एक-दूसरे से आगे बढ़ना चाहते हैं, आगे बढ़ने की चाह में छल-प्रपंच करते हैं। एक-दूसरे की बाधा बनते हैं, शत्रुवत व्यवहार करते हैं। एक-दूसरे से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते हैं। ईर्ष्या करते हैं और एक-दूसरे से

बढ़-चढ़कर भोग-विलास करते हैं। तदंतर उन्हें भोग-विलासों से ऊब होती है, वे सांसारिक बंधनों से विरक्त हो जाते हैं, तब वनों की तरफ दौड़ते हैं, मोक्षप्राप्ति के प्रयास करते हैं। किंतु अष्टावक्र के मत से **मोक्ष प्रयासों** से प्राप्त नहीं होता, **मोक्ष चित्त की पावनता** से मिलता है।

अष्टावक्र कहते हैं–'जिसकी चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ गई हैं, उसकी बुद्धि शांति को प्राप्त होती है। ऐसा ज्ञानी भीड़ की ओर नहीं दौड़ता, भीड़ उसे प्रतिद्वंद्वी या शत्रु अथवा मित्र नहीं प्रतीत होती। जनसमूह उसे एकात्म में संलिप्त भासित होता है। उसी में उसे अपना भी प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है। सबकुछ आत्मा से निसृत, आत्मावत और आत्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं तो ज्ञानी किसी को क्यों शत्रु माने या मित्र। उसकी दृष्टि शून्य हो जाती है और वह संमदर्शी हो जाता है। उसके लिए कुछ हेय या उपादेय नहीं।

यही कारण है उसे संसार से द्वेष नहीं होता और न उसे मोक्ष की आकांक्षा में वन की ओर भागने की आवश्यकता अनुभव होती है।

अष्टावक्र कहते हैं–'आत्मज्ञानी सर्वत्र और समभाव से व्याप्त है। वह सीमाओं में आबद्ध नहीं होता। यत्र-तत्र वह अपने ही स्वरूप का प्रतिबिंब देखता है।

❑❑

अष्टावक्र से आत्मतत्त्व का ज्ञान पाकर राजा जनक अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं। उनके समाने **जगत** और **स्वयं** का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। उनकी समस्त भ्रांतियां दूर हो जाती हैं। अंतर्मन के प्रकाश से वह साक्षात आलोकवत होते हैं। उन्हें प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि अनंत विस्तार को देख पाने में समर्थ है। गुरु के ज्ञान से कृतकृत्य होकर राजा जनक आत्मस्थिति की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं:

तत्त्वविज्ञानसंदेशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया॥१॥

भावार्थ: आपसे तत्त्वज्ञान की संड़सी लेकर मैंने हृदय व उदर में नाना-प्रकार के परामर्शों के शूलों का उद्धार कर लिया है।

विवेचना: गुरु के उपदेश सुनकर राजा जनक के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। अब उन्हें प्रतीत होता है कि वह किस प्रकार जगत की भ्रांतियों को वास्तविक जीवन का पर्याय मानते थे। आत्मपद पर आसीन होते ही वह देह की अनुभूति से शून्य हो जाते हैं और अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुवर! मेरे हृदय व उदर में नाना-प्रकार के मत और विचारों का जंगल उग आया था, जिसमें अब तक मैं भटक रहा था।

आपसे ज्ञानतत्व प्राप्त करके मैं समस्त **भ्रांतियों** से **मुक्त** हो चुका हूं। मेरी चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ गई है। मैं **निजप्रकाश** से आलोकित हूं। मेरा आत्मपरिवर्तन आपकी कृपा से हुआ। आपसे आत्मज्ञान की संड़सी लेकर मैं हृदय और उदर में बिंधे हुए नाना-प्रकार के विकारों के शूल को निकाल बाहर करने में समर्थ हुआ हूं।'

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतंस्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥२॥

भावार्थः स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे कहां धर्म और कहां काम और कहां अर्थ अथवा कहां द्वैत या कहां अद्वैत।

विवेचना: राजा जनक आत्ममहिमा से विभूषित हो समस्त भावों से मुक्त चुके हैं। सांसारिक मोहों से ग्रस्त सामान्यजन ही धर्म, कर्म, अर्थ, द्वैत और अद्वैत से संबद्ध नाना-प्रकार के मतों और विचारों के शूलों से बिद्ध होता है।

सांसारिक दृष्टि में जिस प्रकार धर्म, काम, अर्थ और द्वैत-अद्वैत की मीमांसा की जाती है, राजा जनक को उसकी निरर्थकता का बोध हो चुका है। वह कहते हैं-'हे गुरुदेव! जिस धर्म, काम और अर्थ से मोहित होकर सारा जगत कर्मलिप्त है, वह अनित्य और नश्वर है। **मेरा** परमात्मा **मैं** हूं, अत: **मेरे** द्वारा कैसी धर्म संलिप्ति। मैं कामरहित हूं, मेरी समस्त कामनाएं तिरोहित हो गई हैं, अत: मेरे लिए कामना का क्या प्रयोजन।

गुरुदेव! जिसे आत्मा की प्रतीति हो गई, उसे द्वैत-अद्वैत के द्वंद्व में उलझने की आवश्यकता नहीं। अद्वैत की कल्पना करने का अर्थ है कि द्वैत भी है। अत: मुझ आत्मस्वरूप को द्वैत-अद्वैत का द्वंद्व भी नहीं।'

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्त्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वेमहिम्नि स्थितस्यमे॥३॥

भावार्थः नित्य स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे कहां भूत, कहां भविष्य या वर्तमान अथवा देश भी कहां?

विवेचना: राजा जनक अब प्रत्येक क्षण स्वयं को आत्ममहिमा से मंडित पाते हैं। वह समय उनके लिए अतीत हो गया, जब उन्हें भूत, भविष्य और वर्तमान की चिंताएं व्यथित करती थीं। देश की रक्षा, समृद्धि और कल्याण के विचारों से नित्य आकुल होते थे। अब इनके बारे में सोचने की उन्हें आवश्यकता नहीं। अब कर्त्तव्य निर्वहन ही पर्याप्त है। चित्त चिंताग्रस्त रहा तो कर्त्तव्य निर्वहन भी संभव कहां?

राजा जनक कहते हैं-'हे गुरुदेव! अब मुझे नित्य यही प्रतीत हो रहा है कि मैं **आत्ममहिमा** में स्थित हूं, अत: मुझे भूत की सफलताओं-असफलताओं से क्या लेना-देना। मैं **कर्मों** से मुक्त हूं, अत: भविष्य की योजनाएं बनाने का क्या अर्थ। कामनारहित होने के बाद मैं वर्तमान के संवर्द्धन की कामना से भी मुक्त हो चुका हूं। मेरा देश है, इस बोध से भी मुक्त हूं। यह देश प्रारब्ध को प्राप्त है, अत: इसके बारे में कैसी चिंता। मेरे चित्त में न चिंता है, न अचिंता।'

क्व चात्मा क्व च वाऽनात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।
क्व चिंता क्व च वाचिंता स्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥४॥

भावार्थः स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे कहां आत्मा या कहां अनात्मा? कहां शुभ अथवा कहां अशुभ? चिंता कहां या अचिंता कहां?

विवेचनाः आत्म-अज्ञान के अभाव में चित्तवृत्तियों के कारण व्यक्ति विचलित होता है। वह चिंताओं से त्रस्त होता है और अचिंता की कामना करता है। **अचिंता** के भ्रम में भी वह **चिंताग्रस्त** होता है। हेय क्या है, उपादेय क्या है, इसका द्वंद्व उसे एक पल भी चैन की सांस नहीं लेने देता। वह आत्मा-अनात्मा की कल्पनाओं से कभी मुक्त नहीं होता।

किंतु आत्ममहिमा से मंडित होते ही राजा जनक की चित्तवृत्तियां क्षीण पड़ जाती हैं। वह कहते हैं–'हे गुरुदेव! मेरे लिए आत्मा-अनात्मा का भेद समाप्त हो चुका है। मैं आत्मपद पर आसीन हूं। आत्मा की प्रतीति करने के बाद मेरे लिए क्या आत्मा और क्या अनात्मा? **आत्मा** की कल्पना करने का अर्थ है कि **अनात्मा** का भी अस्तित्व है। अर्थात **सत्य** की कल्पना करने का अर्थ है कि **असत्य** का भी अस्तित्व है। जिस प्रकार सत्य-असत्य का भाव मुझे नहीं भासता, उसी प्रकार आत्मा-अनात्मा के भाव का भी निःशेष हो गया है।

गुरुदेव! जिसका चित्त ग्रहण-त्याग की वृत्ति से उद्धत होता है, वह शुभ-अशुभ अथवा हेय-उपादेय की कल्पनाओं से विक्षिप्त होता है। मेरी दृष्टि को अब इनका भेद नहीं भासता।

गुरुदेव! चित्तवृत्ति से ग्रहण-त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं, जिससे व्यक्ति चिंता-अचिंता के भ्रमों में उलझता है। जो आत्ममहिमा से मंडित हो, उसे चिंता कहां और अचिंता कहां?

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।
क्व तुरीयंभयंवापि स्वेमहिम्निस्थितस्यमे॥५॥

भावार्थः स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे कहां स्वप्न अथवा कहां निद्रा और कहां जागरण? कहां तुरीय अथवा कहां भय?

विवेचनाः स्वप्न देखने, सोने या जागने की क्रियाओं का संबंध देहधर्म से है। सामान्यजन स्वप्न देखकर उनकी मीमांसा करता है। स्वप्न या तो उसे भयभीत करते हैं अथवा आह्लादित। वह सुप्तावस्था में भी चिंताग्रस्त होता है और जाग्रतावस्था में भी।

आत्म-अज्ञानी कभी भी तुरीय अवस्था को प्राप्त नहीं होता। **तुरीय** अवस्था क्या है? यह **आत्मा** की चतुर्थ अवस्था है, जिसमें वह **ब्रह्म** के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। आत्म-अज्ञानी ऐसी चरमावस्था को कभी प्राप्त नहीं करता और सदैव भयग्रस्त रहता है।

आत्ममहिमा में स्थित राजा जनक कहते हैं, गुरुदेव मेरे लिए स्वप्न, सुप्तावस्था अथवा जाग्रतावस्था का कोई भेद या अर्थ नहीं रहा। देह अपना धर्म निभाएगी, मेरी उससे संलिप्ति समाप्त हो चुकी है।

गुरुदेव मैं तुरीय अवस्था को प्राप्त हूं। किंतु तुरीय अवस्था ने मुझे इसके बोध से मुक्त कर दिया है। मैं न तुरीय अवस्था को भासता हूं, न भय को।

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यंतरं क्व वा।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वे महिम्नि स्थितस्यमे॥६॥

भावार्थः स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे कहां दूर या कहां समीप? कहां बाह्य, कहां आंतरिकता? कहां स्थूलता कहां सूक्ष्मता?

विवेचनाः अज्ञानी को ही दूरी या समीपता का बोध होता है। वही बाह्य और अभ्यंतर से द्वंद्वग्रस्त होता है। उसे चराचर में कहीं स्थूलता दृष्टिगोचर होती है तो कहीं सूक्ष्मता।

किंतु आत्ममहिमा में स्थित होते ही राजा जनक दृष्टिशून्य हो जाते हैं। वह कहते हैं—'गुरुदेव! मैं अब सीमित नहीं रहा, असीम हो गया हूं, अनंत में मेरी व्याप्ति है। मेरे लिए कुछ भी दूर नहीं, कुछ भी समीप नहीं। सर्वत्र मेरा प्रतिबिंब अवलोकित होता है।

मेरी दृष्टि को बाह्य जगत और आंतरिक जगत का भेद नहीं भासता, अतएव मेरे लिए क्या बाह्य और क्या अभ्यंतर? चराचर की स्थूलता अथवा सूक्ष्मता का दर्शन मुझे नहीं होता। मैं **समदर्शी** हूं, अतः मुझे न कहीं **स्थूल** दृष्टिगोचर होता है और न कहीं **सूक्ष्म**।'

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वे महिम्नि स्थितस्य मे॥७॥

भावार्थः स्वमहिमा में स्थित होकर मुझे मृत्यु कहां अथवा जीवन कहां? लोक कहां अथवा लौकिक कहां? कहां लय अथवा कहां समाधि?

विवेचनः मृत्यु और जीवन, भूलोक और लौकिक व्यवहार तथा कर्म और समाधि आदि देह तक सीमित हैं। देह ही मरती अथवा जीती है। उसे ही लोकों और लोकव्यवहारों से संबद्ध होना पड़ता है। वही लयग्रस्त होता है अथवा समाधि का प्रयास करता है।

राजा जनक कहते हैं—'हे गुरुदेव! आत्ममहिमा में स्थित होने के बाद मुझे न मृत्यु का बोध है और न जीवन का। मेरी दृष्टि को भूलोक नहीं भासता और मेरा चित्त लोक-व्यवहारों से रिक्त है। मैं समाधिस्थ हूं, किंतु मेरे लिए समाधि अथवा लयग्रस्तता का भेद समाप्त हो चुका है।'

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रांतस्य ममात्मनि॥८॥

भावार्थः त्रिवर्ग अर्थात धर्म, अर्थ और काम की चर्चा संसारियों के लिए है। वही योग और ज्ञान का भी चिंतन करते हैं।

विवेचनाः योग और ज्ञान **चिंतन** का नहीं, **अनुभूति** का विषय हैं। आत्मानुभूति में योग भी निहित है और ज्ञान भी। जिसे आत्मानुभूति होती है, वह धर्म, अर्थ और काम जैसे सांसारिक कृत्यों से मुक्त होता है।

राजा जनक आत्मस्वरूप को प्राप्त होकर विश्राम की अनुभूति करते हैं। कहते हैं—'हे गुरुदेव! मैं आत्मा में विश्रांत हूं, मेरी चित्तवृत्तियों को विराम लग चुका है। अतः मुझे सांसारिक कृत्यों से मोह नहीं रहा। मेरी धर्म, अर्थ और काम की भावनाएं तिरोहित हो चुकी हैं।

हे गुरुदेव! आत्मज्ञान के बाद न मुझे **योग** से प्रयोजन है और न **ज्ञान** से।'

❑❑

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेंद्रियाणि क्व वा मनः।
क्व शून्यं क्व च नैराश्य मत्स्वरूपे निरंजने॥१॥

भावार्थः मुझ निरंजन स्वरूप में कहां पंचभूत और कहां देह? अथवा कहां इंद्रिय और कहां मन? कहां शून्य और कहां नैराश्य।

विवेचनाः यह शरीर पंचभूतों—आकाश, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि से निर्मित है और मरणोपरांत उसी में विलीन हो जाता है। किंतु आत्मज्ञानी देहानुभूति से मुक्त होकर स्वयं को पंचभूतों का समूह न मानकर आत्मा का साक्ष्य स्वरूप मानता है।

यही स्थिति राजा जनक की है। आत्मभाव से वह निरंजन स्वरूप को प्राप्त होते हैं तो उनका कायाकल्प हो जाता है। वह अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुवर! निरंजन को प्राप्त मेरा आत्मरूप पंचभूतों के संसर्ग को भूल चुका है। मुझे देहानुभूति भी नहीं। इस प्रकार कामनारहित मुझको **इंद्रियों** का कैसा **आभास** और **मन** का क्या **प्रयोजन**। मेरी शून्य दृष्टि को न शून्य भासता है और न आशाओं-निराशाओं का बोध होता है।'

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः।
क्व तृप्ति क्व वितृष्णत्वं गतद्वंद्वस्य में सदा॥२॥

भावार्थः सर्वदा मुझ द्वंद्वमुक्त को कहां शास्त्र और कहां आत्मज्ञान? कहां विषयहीन मन और कहां तृप्ति तथा वितृष्णा।

विवेचनाः आत्मज्ञान का अभाव व्यक्ति को द्वंद्वग्रस्त करता है। उसे शास्त्रों के अध्ययन और आत्मज्ञान के लिए प्रयास करना पड़ता है। जिसे विषयों की आसक्ति सताती है, वही **तृप्ति** और **वितृष्णा** के द्वंद्व में उद्विग्न होता है।

राजा जनक आत्मस्वरूप को प्राप्त होकर समस्त द्वंद्वों से मुक्त हो जाते हैं। अतः कहते हैं–'हे गुरुदेव! आत्मज्ञान से निर्द्वंद्व को प्राप्त मुझे अब न तो आत्मज्ञान भासता है और न शास्त्रों का मोह। मन की अवधारणा ही नहीं रही तो मेरे लिए विषयहीन मन की कल्पना कैसी? अब न मुझे तृप्ति की अनुभूति है और न वितृष्णा की।'

क्व विद्या क्व च वा विद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वां
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता।।३।।

भावार्थः मेरे लिए क्या विद्या और क्या अविद्या? मैं क्या और वह क्या? मेरा क्या बंधन और क्या मोक्ष? क्या स्वरूप और क्या रूप?

विवेचनाः आत्मज्ञानी के लिए ही विद्या और अविद्या का भेद वास्तविक है। वह सोचता है–**मैं** यह हूं, और **वह** वह है। उसे ही बंधन जकड़ते हैं और वही बंधन से मुक्त होने के लिए मोक्ष के प्रयास करता है। वही रूप-स्वरूप की कल्पनाएं करता है।

आत्मरूप को प्राप्त राजा जनक कहते हैं–'हे गुरुदेव! आत्मानुभूति से मैं विद्या-अविद्या के भेद को भूल चुका हूं। **मैं** और **वह** का अंतर मुझे नहीं भासता। **बंधनों** की **अनुभूति** नहीं, अतः **मोक्ष** की **इच्छा** भी नहीं। न स्वरूप का बोध है और न रूप का।

क्व प्रारब्धानिकर्माणिजीवन्मुक्तिरपि क्व वा।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा।।४।।

भावार्थः कृत-अकृत, धर्म-अधर्म जिसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है, ऐसे महाशय के लिए कहां प्रारब्ध कर्म, कहां जीवन मुक्ति।

विवेचनाः जिसे आत्मतत्त्व का भास हो जाता है, वह सभी प्रकार के कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाता है लेकिन **देह** में रहने के कारण उन **कर्मों** को भोगता-सा प्रतीत होता है। अर्थात **कर्मों** को स्वीकारना ही विश्व की व्यवस्था की व्याख्या है। पर जब कर्म ही नहीं तो मुक्ति भी नहीं।

क्वकर्ताक्वचवाभोक्ता निष्क्रियंस्फुरणंक्ववा।
क्वापरोक्षंफलंवाक्वनिः स्वभावस्यमेसदा।।५।।

भावार्थः मुझ स्वभावरहित में कहां कर्तापन तथा कहां भोक्तापन, कहां निष्क्रियता, कहां सक्रियता और कहां प्रत्यक्ष ज्ञान?

विवेचनाः यहां राजा जनक असमंजस की स्थिति में फंसे हैं। न कहते बनता है और न चुप रहते। स्वभाव के मूल में अभ्यास होता है। उसे मात्र जान लेना ही काफी है। जानने के अलावा स्वभाव को नकारने का और कोई साधन नहीं। **भोक्ता** तो **कर्ता** होता है, जब **कर्ता** नहीं तो **भोक्ता** कहां से?

क्वलोकः क्वमुमुक्षुर्वाक्वयोगीज्ञानवान्क्ववा।
क्वबद्धः क्वचवामुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥६॥

भावार्थः मुझ अद्वैत स्वरूप को कहां लोक और कहां स्वतंत्रता? अथवा कहां योगी और कहां ज्ञानवान? अथवा कहां बद्ध और कहां मुक्त?

विवेचनाः जो व्यक्ति द्वैतदर्शी है, उसे स्वतंत्रता-परतंत्रता में भेद दिखाई देता है। वही योगी और ज्ञानवान से प्रभावित है। वही बद्धता से व्यथित होकर मुक्ति चाहता है।

राजा जनक द्वैतदर्शी नहीं हैं, अतः अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुदेव मैं अद्वैत स्वरूप को प्राप्त हूं, अतः मुझे लोक की परतंत्रता का बोध नहीं होता और न स्वतंत्रता की इच्छा सताती है। योगी और ज्ञानवान की ओर मेरी दृष्टि नहीं उठती, क्योंकि आत्मदर्शन से वह शून्य को प्राप्त है।

हे गुरुदेव! लोक इच्छाओं के बंधन मुझे जकड़ते नहीं, अतएव बंधनों की अनुभूति से परे हूं, मुझे मुक्त होने की कामना भी नहीं सताती। अतः मैं मुक्ति के बोध से भी रहित हूं।'

क्वसृष्टिः क्व चसंहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्वसाधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥७॥

भावार्थः मुझ अद्वैत स्वरूप को सृष्टि कहां और संहार कहां? साध्य कहां और साधन कहां? साधक कहां और सिद्धि कहां?

विवेचनः वस्तुतः आत्मदर्शन के बाद ज्ञानी का मनोव्यवहार सामान्यजन से नितांत भिन्न हो जाता है। सामान्यजन सृष्टि की भव्यता से चमत्कृत होता है और संहार की कल्पना से भयभीत। उसके लिए बहुत कुछ साध्य होता है, अर्थात वह उपलब्धियां चाहता है, स्वर्ग चाहता है और मोक्ष की कामना करता है और अनेक साधनाएं व श्रमसाध्य कर्म करता है।

किंतु आत्मज्ञानी इन भावनाओं से मुक्त होता है। राजा जनक अद्वैतदर्शी हैं। वह कहते हैं–'हे गुरुदेव! मैंने अद्वैत स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, अतः सृष्टि का अस्तित्व या संहार के दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो चुके हैं। कामनारहित मेरे चित्त में न **साध्य** की **इच्छा** है और न **साधन** की **आवश्यकता**। मुझ **आत्मस्वरूप** के लिए **साधक** और **सिद्धि** का कोई प्रयोजन नहीं।'

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रभा।
क्व किंचित्क्वनकिंचिद्वासर्वदाविमलस्य मे॥८॥

भावार्थः मुझ सर्वदा विमल को क्या प्रमाता और कहां प्रमाण? कहां प्रमेय और कहां प्रभा? कहां किंचित और कहां अकिंचित?

विवेचन: जो आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं होता, वही प्रमाण, अप्रमाण या प्रमाण की योग्यता की द्वंद्वता से ग्रस्त होता है, जबकि ज्ञानी के लिए न प्रमाण का महत्त्व होता है और न अप्रमाण का।

राजा जनक की दृष्टि आत्मस्वरूप का बोध करने के बाद निर्मल, स्वच्छ और दोषरहित हो ज़ाती है। वह अष्टावक्र से कहते हैं–'हे गुरुदेव! मुझे सर्वदा विमल स्वरूप को प्रमाण-अप्रमाण के द्वंद्व नहीं सताते। क्या प्रामाणिक है और उसे कैसे प्रमाणित किया जाए, इसका बोध निरर्थक है। क्या प्रमाण योग्य है और क्या प्रमाणित है, इस जोड़-तोड़ से मैं मुक्त हूं।

अत: हे गुरुदेव! मैं प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रभा के भेदों की प्रतीति नहीं करता। यही कारण है कि मेरे लिए न कुछ किंचित है और न कुछ अकिंचित।'

क्व विक्षेप: क्व चैकाग्रयं क्व निर्बोध: क्व मूढता।
क्व हर्ष: क्वविषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्यमे॥९॥

भावार्थ: सर्वदा मुझ निष्क्रिय को कहां विक्षेप और कहां एकाग्रता? कहां निर्बोध और कहां मूढ़ता? कहां हर्ष और कहां विषाद।

विवेचना: अज्ञानी ही सर्वदा सक्रिय रहते हैं और जगत की भौतिकता से मोहित होकर अर्थ संचय करते हैं। वही कामनाओं की तृष्णा से इधर-उधर भटकते हैं और एकाग्र नहीं होते। उन्हें अपनी बुद्धि पर अहंकार होता है, जबकि वे निर्बोध और मूढ़ होते हैं। उन्हें ही हर्ष व विषाद के भाव विचलित करते हैं। आत्मज्ञानी सांसारिक अर्थ से क्रियाशील नहीं होते। वे कर्मों से संलिप्त नहीं होते, अत: वह निष्क्रिय स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

राजा जनक आत्मभाव को प्राप्त कर कर्महीन होते हैं, वे कहते हैं–'हे गुरुदेव! मेरी क्रियाशीलता में अभिलिप्सा नहीं, अतएव मुझ निष्क्रिय स्वरूप को कहीं भटकाव नहीं, कहीं विक्षेप नहीं। इस पर भी मुझे एकाग्र होने की इच्छा नहीं। आत्मज्ञान के बाद कैसा ज्ञान या कैसी मूढ़ता। आत्मलीनता के बाद न हर्ष का बोध रहा और न विषाद का।

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।
क्व सुखं क्व च वादु: खंनिर्विमर्शस्य मे सदा॥१०॥

भावार्थ: सर्वदा मुझ दोषरहित स्वरूप को कहां व्यवहार और कहां परमार्थ? कहां सुख और कहां दुख?

विवेचना: राजा जनक आत्मज्ञान से देदीप्यमान हैं। उनके निज के प्रकाश से उनकी समदृष्टि आलोकित होती है। उनका चित्त दोषरहित स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। ऐसी स्थिति हर्ष-विषाद या सुख-दुख का बोध ही नहीं होता।

राजा जनक आत्मस्थिति से अष्टावक्र को परिचित कराते हुए कहते हैं—'हे गुरुदेव! मुझ विमल स्वरूप की अब न किसी व्यवहार में रुचि रही और न ही परमार्थता में मुझे अंतर दिखाई देता है।

यही कारण है कि गुरुदेव, मुझे न सुख का भाव हर्षित करता है और न दुख का भाव विषादित।'

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रतिर्विरतिः क्व वा।
क्व जीवः क्व चतद्भह्म सर्वदा विमलस्य मे॥11॥

भावार्थः मुझ सर्वदा विमलस्वरूप को कहां माया और कहां संसार? कहां प्रीति और कहां विरति? कहां जीव और कहां उसका ब्रह्म?

विवेचनाः आत्मा के बोध से संपन्न ज्ञानी की समस्त वृत्तियां भी निराकार को प्राप्त होती हैं, उनका कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता। आत्मदर्शन से वह किसी अन्य का दर्शन करने की इच्छा से स्वतंत्र हो जाता है। जबकि अज्ञानी को संसार भी दिखाई देता है और उसकी माया भी उसे मोहित करती है। कभी माया से प्रीति करने में आह्लादित होता है तो कभी माया से विरति होते ही संसार से द्वेष करता है।

राजा जनक कहते हैं—'हे गुरुदेव! मैं सदा विमल स्वरूप को प्राप्त हूं, मुझे माया की प्रतीति नहीं होती, अतः **संसार** मेरी दृष्टि में **अगोचर** हो गया। सांसारिक माया मुझे नहीं भासती तो **प्रीति** और **विरति** के भावों से मेरा क्या संबंध? अब मुझे न **जीव** का बोध रहा और न उसके **ब्रह्म** का।'

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्वा मुक्तिः क्व च बंधनम्।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा॥१२॥

भावार्थः सदा कूटस्थ और निर्विभाग मुझ स्वस्थ को कहां प्रवृत्ति और कहां निवृति? कहां मुक्ति और कहां बंधन?

विवेचनाः आत्मसंपन्न ज्ञानी सर्वदा स्थिर (कूटस्थ) और अविभाज्य (निर्विभाग) होता है। ऐसा स्थिर और चराचर को पृथक-पृथक विभागों में न बांटनेवाला सर्वदा अविचलित और स्वस्थमना होता है। राजा जनक जब आत्मस्थिति को प्राप्त होते हैं तो उनकी यही स्थिति हो जाती है।

राजा जनक आत्मस्वरूप का परिचय देते हुए अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुदेव! मैं कूटस्थ और निर्विभाग को प्राप्त हूं, अतः मुझ स्वस्थ व अविचलित मन को प्रवृत्तियां नहीं सतातीं, इसलिए निवृत्ति के उपायों की कल्पना भी नहीं करता। मुझे **मुक्ति** की आकांक्षा नहीं, क्योंकि मैं स्वयं को किसी **बंधन** में आबद्ध नहीं पाता।'

क्वौपदेशः क्ववाशास्त्रं क्व शिष्यः क्वचवागुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थेवानिरुपाधेः शिवस्यमे॥१३॥

भावार्थः उपाधिशून्य मुझ निरंजन स्वरूप को कहां उपदेश और कहां ज्ञान? कहां शिष्य और कहां गुरु? और कहां पुरुषार्थ?

विवेचनाः जब ज्ञानी आत्मतत्त्व से साक्षात्कार कर लेता है तब उसे किसी उपाधि की आकांक्षा नहीं होती। वह नाम और यश से रहित शिव रूप को प्राप्त होता है। राजा जनक इस भव्यता से संपन्न हैं। वह अष्टावक्र से उपदेश ग्रहण करने के बाद किसी अन्य उपदेश की आकांक्षा नहीं करते? न उन्हें किसी **गुरु** की आवश्यकता रही और न **मोक्ष** की।

राजा जनक कहते हैं—'हे गुरुदेव! आत्मा की कोई उपाधि नहीं होती। मैं उपाधिशून्य होकर निरंजन स्वरूप में स्थित हूं, अतः मुझे अब कहां उपदेशों और ज्ञान के प्रति कोई उत्कंठा। अब किसी गुरु का शिष्य बनने की क्या आवश्यकता? मोक्ष से भी मुझे प्रीति नहीं रही।

क्वाचास्ति क्व चवानास्ति क्वास्तिचैकं क्वचद्वयम्।
बहुनात्राकिमुक्तेनकिंचन्नोत्तिष्ठते ममा॥१४॥

भावार्थः मेरे लिए कहां होना और कहां न होना? कहां एक और कहां द्वय? इस विषय में बहुत कहने का क्या प्रयोजन? मुझे कुछ भी उत्तिष्ठित नहीं करता।

विवेचनाः ज्ञानी सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति देखकर शेष चराचर के दर्शन से मुक्त होता है। आत्मस्वरूप को न **द्वैत** का भान होता है और न **अद्वैत** का।

अलौकिक भावों को प्राप्त राजा जनक अष्टावक्र से कहते हैं—'हे गुरुदेव! आपके ज्ञान से आप्लावित मैं **आत्मा** के अतिरिक्त किसी भी अन्य के होने और न होने के बोध से मुक्त हूं। न मेरे लिए कुछ एक रहा और न कुछ भी द्वय।

हे गुरुदेव! इस बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसकी प्रतीति से मेरा चित्त उत्तिष्ठित हो।

——— इति ———

अष्टावक्र गीता

अष्टावक्र गीता भारतीय अध्यात्म का शिरोमणि ग्रंथ है, जिसकी तुलना अन्य किसी ग्रंथ से नहीं की जा सकती। इसका प्रत्येक सूत्र आपके जन्म-जन्मांतरों की गुत्थियों को इस प्रकार सुलझा देगा, मानो वे कभी थी ही नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता की भांति इसमें भी गुरु-शिष्य के बीच हुआ संवाद है, किंतु दोनों के संदर्भों में अंतर है। जहां अर्जुन के प्रश्न 'कर्त्तव्य' को लेकर हैं, वहीं अष्टावक्र गीता में तत्त्वज्ञान व मोक्ष के विषय में पूछा गया है।

सुख कहां है?, दुखों का कारण क्या है?, बंधन क्या है?, मुक्ति क्या है?, संसार क्या है?, मैं कौन हूं?–जीवन के ऐसे ही अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर प्रदान करनेवाला एक परम पावन ग्रंथ है अष्टावक्र गीता, जिसमें गुरु अष्टावक्र ने बिना किसी लाग-लपेट के राजा जनक को तत्त्वज्ञान दिया है। आश्चर्य कि उन्हें दिया गया ज्ञान अनायास प्रतिफलित हुआ और उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता में जहां श्रीकृष्ण के उपदेशों को सुन अर्जुन को कर्म की रीति का बोध तो हुआ, लेकिन वह हर्ष-विषाद में चढ़ता-उतराता रहा। जबकि यहां अष्टावक्र के उपदेशों को सुनकर राजा जनक विदेह हो गए।

आशा है, राजा जनक की भांति आप भी इस अनमोल ग्रंथ का पठन कर कह उठेंगे–'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूं; और सभी संतापों से मुक्त होकर आपको भी परम विश्रांति व परम सुख की प्राप्ति होगी।

a.h.w. raja series